आगमशास्त्राों में वर्णों की उत्पत्ति और उनका देवतात्मक स्वरूप – तन्त्राालोक के विशेष सन्दर्भ में

पुष्पा दीक्षित

<u>आगमशास्त्राों में वर्णों की उत्पत्ति और उनका देवतात्मक स्वरूप</u>

'ईशानः सर्वविद्यानाम्' के अनुसार शिव ही सारी विद्याओं के प्रणेता हैं। अतः सारे तन्त्राों का उ०म भी भगवान् शिव के पाँच मुखों से ही हुआ है। ये सारे तन्त्रा भगवान् शिव ने ही पार्वती से कहे हैं, जो कि चतुःशती में दिये गये हैं। इनकी संख्या अनन्त तक जाती है। इनके अनुसार सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और निग्रह इन पाँच कृत्यों को करने वाला शिव का प×चमुख शरीर मन्त्राों से ही बनता है।

तद्वपुः प×चभिर्मन्त्रौः प×चकृत्योपयोगिभिः।
ईशतत्पुरुषघोरवामाद्यैर्मस्तकादिमत्।।

एतानि प×चमुखानि अनुग्रहतिरोभावादानलक्षणस्थितिलक्षणोद्भवलक्षणकृत्यप×चक –कारणम्।

मन्त्राों का एक–एक अक्षर शक्ति का प्रतीक होता है और सारे मन्त्राों की सत्ता मातृका में ही रहती है, अतः मातृका ही शक्ति है।

शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका।

ये ये मन्त्राा देवतानामृषीणामथ रक्षसाम्।
ते मन्त्राा मातृकायन्त्रो नित्यमेव व्यवस्थिताः।।

इन आगमशास्त्राों में विश्वप्रप×च की सत्ता दो प्रकार की मानी गयी है। वाच्यात्मक और वाचकात्मक।

इह हि विश्वस्य वाच्यवाकात्मना द्विधावभासः। तत्रा प्रकाश एव प्राधान्येन वाच्यात्मविश्वरूपत्वेन परिस्फुरति इति। (तन्त्राालोक तृतीय आह्निक 66 टीका)।

इस प्रकार सारा जगत् नामनामिमय है। नामी अर्थ हैं और नाम उनके प्रतिपादक शब्द हैं। इनमें से अर्थसृष्टि तत्त्वात्मिका है और शब्दसृष्टि मातृकारूपा है। शब्द और अर्थ के अभिन्न होने के कारण ही ऋग्वेद के वाक्सूक्त में विश्व को वाङ्मय कहा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में वाक् को ब्रह्म कहा गया है– **वाग्वै ब्रह्म** (बृ. उ. 4.1.2)। वाक्यपदीय में भी जगत् को वाङ्मय कहा गया है– **वागेय विश्वा भुवनानि** (1.21 टीका)। महाभारत आदि ग्रन्थ भी जगत् की वाग्रूपता को स्वीकार करते हैं– **अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।** (महाभारत शा. 25.3)। इस प्रकार निगम और आगम, दोनों ही सृष्टि की वाग्रूपता को मानते हैं।

तन्त्राादिमत में निस्तरङ्ग महाम्भोधि के समान निश्चल, अभेद्य, गुणक्रियाधर्मरहित, अनादि, अनन्त, निरुपाधिक, सच्चिदानन्द, दृश्यमान चराचर से विलक्षण, प्रकाशस्वरूप शिव और शक्ति का मिथुनपिण्ड रूप विन्दु प्रलयकाल में सारे

भुवनमण्डल को कवलीकृत करके वर्तमान रहता है। इसे ही विदिक्रिया में स्वतन्त्रा प्रमाता होने के कारण विन्दु कहा गया है। (तन्त्राा. तृतीय आ. 111)।

उदितायां क्रियाशक्तौ सोमसूर्याग्निधामनि।
अविभागः प्रकाशो यः स विन्दु परमो हि नः।।

(तन्त्राा. तृतीय आ. 133 टीका)।

यह प्रकाशमय बिन्दु ही विश्वबीज होने से प्रकृति है। यह शब्द और अर्थ की अत्यन्त संसृष्टावस्था है। यही परावाक् है। सारा बाह्य बिम्ब इसी से विवर्त को प्राप्त करता है– **विश्वबीजादतः सर्वं बाह्यं बिम्बं विवर्त्स्यति।** (तन्त्राा. तृतीय आ. 89)। इसमें पूर्व, पर आदि काल का व्यवहार नहीं है। अतः यह संविन्मात्रा है। यही शब्द है। इसे ही सारे प्राणियों में जीवकला के रूप से निष्क्रिय अवस्थित नादात्मक ब्रह्म कहा गया है। यहीं से सारे वर्णों का विभाग होता है। अकार से हकार पर्यन्त सारी परामर्शराशि इसी का स्फार है।

योऽसौ नादात्मकः शब्दः सर्वप्राणिष्वस्थितः। अत ऊर्ध्वविभागेन निष्क्रियेणावतिष्ठते।।

शब्दयति स्वाभेदेवन विश्वं परामृशति इति शब्दः, परावाग्रूपो विमर्शः। स च नादात्मकः। नदति सर्वेषामेव जीवकलात्वेन परिस्फुरति इति नादः। अकारः सर्ववर्णानामन्तर्यामितया स्थितः। (तन्त्राा. तृतीय आ. 113)।

यह स्वयंप्रकाश है। सूर्यादि इसे प्रकाशित नहीं कर सकते– **यन्न सूर्यो न वा सोमो नाग्निर्भासयतेऽपि च।** इसे ही गीता में कहा है– **न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। य०त्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।।**

यह स्वरूप मिथुनरूप है। इसको तन्त्राालोक में संघट्ट कहा गया है– **'तयोर्यद् यामलं रूपं स संघट्ट इति स्मृतः', इति शक्तिशक्तिमत्सामरस्यात्मा संघट्टः।** (तन्त्राा. तृतीय आ. 69)। इस अवस्था में प्रकाश की विमर्शमयी आदिमहाशक्ति इस विश्व को अपने आकर में गर्भीकृत करके रखती है। इसे ही परावाक् कहते हैं। यही महाशक्ति कुण्डलिनी है। यह परपरामर्शात्मा शिवशक्ति का मिथुन रूप अनुत्तर प्रकाश ही परम तत्त्व है।

'**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय**' इस श्रुति के अनुसार यह परपरामर्शात्मा शिवशक्ति का मिथुनरूप प्रकाश अपने स्वातन्त्रय से विश्व को अवभासित करने के लिये पहिले अपने भीतर शिवशक्तिरूपता को प्रकट करता है। तब यह महाशक्ति विश्वसर्जन की इच्छा से पुनः प्रकाश से बाहर सी होकर परब्रह्म के सम्मुख प्रकट होती है। दोनों दर्पण के समान निर्मल होने के कारण एक–दूसरे में प्रतिबिम्बित होते हैं। तब इस विन्दुरूप परावाक् से क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीरूप त्रिपुटी के द्वारा त्रिकोणात्मक शब्दसृष्टि अभिव्यक्त होती है। इनमें से विन्दुरूप परावाक् कारणविन्दु है और पश्यन्ती आदि वाक् कार्यबिन्दु हैं। इन चारों को ही अम्बिका, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री कहा गया है।

इसे निरुक्तकार इस प्रकार कहते हैं कि प्रकाशमय बिन्दु में लीन प्रत्यय, निःसृत होकर बिन्द्वंशसंपृक्तहार्धमात्राा के रूप को धारण करता है। इस हार्धमात्राा को ही धृति अथवा प्रतिभा कहते हैं, यह प्रकृति है। यह विसर्ग के रूप में प्रथम शब्दसृष्टि बनती है, यही महत्तत्त्व है। इससे अहंकाररूप उरस्य हकार का जन्म होता है। इससे मनोरूप

कण्ठ्य हकार उत्पन्न होता है जो कि शब्दतन्मात्रा के रूप में परिणत होता है और तालुस्थान को प्राप्त करके स्पर्शतन्मात्रा के रूप में यकार बन जाता है। यही मूर्धा में जाकर रूपतन्मात्रा के रूप में रेफ बन जाता है। दन्तस्थान में जाकर रसतन्मात्रा के रूप में लकार बन जाता है। ओष्ठस्थान में जाकर गन्धतन्मात्रा के रूप में वकार बन जाता है। उसके बाद यही विसर्ग इन्हीं कण्ठादि पाँच स्थानों में जाकर कचटतप के रूप में प×चज्ञानेन्द्रियों का रूप धारण करता है और गजडदब के रूप में प×चकर्मेन्द्रियों का रूप धारण करता है। हकार संयुक्त कचटतप, खफछठथ का रूप धारण करते हैं और गजडदब, घझढधभ के रूप धारण करता है। हकार संयुक्त कचटतप, खफछठथ का रूप धारण करते हैं और हकार संयुक्त गजडदब, घझढधभ के रूप में आविर्भूत होते हैं। बिन्दु पिता के साथ जब तृतीय मातृकायें मिलती हैं, तब ङञणनम को उत्पन्न करती हैं। विसर्ग का कचटतप रूप मातृकाओं से संयोग होने पर क्रमशः जिह्वामूलीय– श–ष–स–उपध्मानीय उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार तन्त्रा और व्याकरण के अनुसार प्रकाशरूप ज्ञान ही शब्दरूपता को प्राप्त करता है। बिन्दुस्वरूप प्रकाश में जब अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिये स्पन्दन होता है, तब यह ज्ञान अपनी वृत्तिरूपता को प्राप्त करने के लिये विमर्शमयी आदिमहाशक्ति से बुद्धितत्त्व को देखता है। बुद्धि में क्षोभ उत्पन्न होने पर उससे मन प्रेरित किया जाता है। प्रेरित मन शरीर में विद्युत् के समान व्याप्त तेज पर आघात करता है। उस अभिहत तेज से वायु प्रेरित होता है जो कि मूर्धा पर आघात करता है और नासिका के रन्ध्र को प्राप्त करके उससे निकलते हुये स्थूलबिन्दुभाव को प्राप्त कर लेता है। तब इसे 'रव' नाम से अभिहित किया जाता है– **स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते।**

अब यह बिन्दु द्विधा विभक्त हो जाता है और कण्ठदेश में जाकर हकाररूपता को प्राप्त करता है तथा उरःस्थान में जाकर सूक्ष्मविसर्गरूपता को प्राप्त करता है। यह सूक्ष्मविसर्गरूप हकार उरस्य हकार है। यही प्रथममातृका है। इसे ही दुर्गासप्तशती में भगवती का निःश्वास कहा गया है।

निःश्वासान् मुमुचे यांश्च युध्यमाना रणेऽम्बिका।
त एव सद्यः सम्भूता गणाः शतसहस्रशः।। (दुर्गा. 2.52)।

इसी से आगे वर्णों का विकास होता है। इसे ही तन्त्राालोक में कहा गया है– **ततः परानपेक्षत्वेन स्वत एवोल्लसितसत्ताको योऽसौ – 'अत एव विसर्गोऽयमव्यक्त– –हकलात्मकः' इत्युक्त्या कुलाकुलोभयच्छटात्मकहकारार्धार्धरूपो 'विसर्गो' बहिरुल्लिल– –सिषास्वभावः।** (तन्त्राा. प्रथम आ. 1)। **विसर्गः क्षेपः कुण्डगोलाख्यद्रव्यविशेषनिःष्यन्दः। तस्य जननी विमलकलाश्रया। विमला इति वर्णकला, आश्रयः आलम्बनं यस्याः सा विमलकलाभिधाना।**

यहाँ ध्यातव्य है कि तन्त्रा में हकार को कहीं तीन प्रकार का और कहीं पाँच प्रकार का कहा गया है– 1. विसर्ग 2. विसर्ग का ही स्थूल रूप कण्ठ्य हकार (तन्त्राा. 3.142) 3. उरस्य हकार 4. पादमात्रा हकार (हार्ध) 5. अष्टमांशमात्रा हकार (हार्धार्ध)। परात्रिंशिका में कहा है– **सा तु सप्तदशी देवी हकारार्धार्धरूपिणी।**

वर्णोत्पत्ति का यह क्रम निरुक्त में भी मिलता है। हकार रूप प्रथममातृका कण्ठादि पाँच स्थानों में ह य र ल व इन पाँच रूपों में विराजती है। ये पाँच मातृकायें ही कण्ठादि स्थानों से क्रमशः क च ट त प इन पाँच अघोष वर्णों को जन्म देती है और घोषरूप हकार से संसृष्ट होकर ग ज ड द ब इन पाँच घोष वर्णों को जन्म देती हैं। ये 15 मातृकायें उरस्य हकार से मिलकर ये षोडश मातृकायें कहलाती हैं। ये सारी मातृकायें अर्धमात्रिाक हैं। जिनका वर्णन दुर्गासप्तशती आदि में है।

"अर्धमात्राा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः"। (दुर्गा. 1.74)

इन षोडश मातृकाओं में से जो ह य व र ल मातृकायें हैं, ये कण्ठादि स्थानों में अ इ उ ऋ लृ का रूप धारण करती हैं। इसे ही भगवान् पाणिनि '**इग्यणः सम्प्रसारणम्**' कहकर बतलाते हैं। सृष्टि में विस्तार होता है, अतः अर्धमात्रिाक मातृकाओं से एकमात्रिाक स्वर उत्पन्न होते हैं। इन्हें मिलाकर ये 21 मातृकायें एक बिन्दुरूप पिता से मिलकर एक–एक स्थान से एक–एक स्वर और तीन–तीन मातृकाओं को जन्म देती हैं। ये वर्ण रूप मातृकाओं को जन्म देती हैं। ये वर्ण रूप मातृकायें ही पदवाक्यमहावाक्यादि का रूप धारण करती हुई विशाल वेदराशि और सारे वाङ्मय को जन्म देती हैं।। इस प्रकार 21 मातृका सहित बिन्दु पिता की विभूति का उपबृंहण ही यह त्राायीविद्या है। इसी को माघ कहते हैं–

वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव। अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्राता।। (माघ 2.72)

तन्त्राालोक के अनुसार वर्णों की उत्पत्ति और उनका देवतात्मक स्वरूप

तन्त्राालोक में यह विषय कुछ भिन्न प्रकार से वर्णित है। शिव प्रकाश हैं और विमर्श उनका स्वभाव है– **स्वातन्त्रयं हि विमर्शः। स चास्य मुख्यः स्वभावः। न हि निर्विमर्शः प्रकाशः संभवत्युपपद्यते वा।** इस विमर्शनाम्नी विश्वचित् में ही यह सारा विश्व प्रतिबिम्बित होता है–

इत्थं विश्वमिदं नाथे भैरवीयचिदम्बरे।
प्रतिबिम्बमलं स्वच्छे न खल्वन्यप्रसादतः।। (तन्त्राा. तृतीय आ. 65)

जैसे दर्पण में बिम्ब प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही प्रकाशस्वरूप शिव विश्व का परामर्श करते हैं। इस विमर्श में वे स्वतन्त्रा हैं। यह परामर्श सांकेतिक नहीं है, अपितु चित्स्वभावतामात्रानान्तरीयक होने से परावाग्रूप है।

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद् यद् विचित्रारचना मकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निर्विमर्शनसारवृत्त्या विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथा तु।।

(तन्त्राा. तृतीय आ. 65 की टीका)

इस विमर्शसहित प्रकाश को ही 'अनुत्तर=अकार' अथवा 'प्रतिभा' कहा जाता है। यह परपरामर्शस्वभावक प्रकाशरूप बिन्दु विश्व को अवभासित करने की इच्छा से अपनी शिवशक्तिरूपता को अपने में प्रकट करता है। शिवशक्ति के इस संघट्ट का शरीर अकार जैसा है। इस अकार का उच्चारण करने वाला कोई नहीं है अपितु प्राणियों के अन्तःस्तल में यह स्वयं उच्चरित होता है। यह अनाहत नाद से भी भिन्न है और स्थान,

करण आदि अभिघातों से उत्पन्न होने वाले हत नाद से भी भिन्न है। इसे ही देवी का राव कहते हैं। इस तान्त्रिाक संस्कार से संस्कृतचित्त होने के कारण ही नागेशभट्ट भी परा की उत्पत्ति कण्ठरव से मानते हैं।

अनाहताहतोत्तीर्णो महाविषमचि०तिः।
वीरहृद्घट्टनोद्युक्तो रावो देव्या विजृम्भते।।

(तन्त्रााा. तृतीय आ. 67 की टीका)

वस्तुतः ये विसर्जनात्मिका शक्ति ही शिवादिक्षित्यन्त जगत् की सर्जना करने वाले कालभैरव को भी अपने आयत्त करके अवभासित करती हैं, और उनकी इच्छा के बिना कुछ भी प्रस्फुरित नहीं हो सकता। फिर भी वे औपधिक भेद को स्वीकार करके यामल रूप को प्रकट करती हैं जिससे कि उनमें शक्ति और शक्तिमान् के रूप में व्यवहार होने लगता है। वस्तुतः प्रकाश से विमर्श अलग है ही नहीं। (तन्त्रााा. तृतीय आ. 235)

अकार के लिये यहाँ 'अनुत्तर', 'अहम्' और 'अकुल'— इन तीन शब्दों का प्रयोग है। **न उत्तरः अनुत्तरः।** यह तत्त्व किसी से भी परवर्ती नहीं है, अतः इसे 'अनुत्तर' कहते हैं। कैवल्य में स्थित परमात्मा का प्रथमोदित अहंकार होने से इसे 'अहं' कहते हैं। उस समय तत्त्वान्तर का अनुदय होने से इसे 'अकुल' कहते हैं। शिव अकुल हैं और शक्ति कौलिकी हैं।

इस अनुत्तर प्रकाश से संघट्ट को प्राप्त करके पराशक्ति विसिसृक्षा रूप क्रियारूपता को प्राप्त करती है, जिससे विसर्ग का जन्म होता है।

अस्यान्तर्विसिसृक्षासौ या प्रोक्ता कौलिकी परा।
सैव क्षोभवशादेति विसर्गात्मकतां ध्रुवम्।। (तन्त्रााा. तृतीय आ. 136)

इस प्रकार बिन्दु के दो विभाग बनते हैं— अकार और अनुस्वार।

तथैव महलेशादः सोऽन्यो द्वेधास्वरोऽपि सन्। (तन्त्रााा. तृतीय आ. 135)

विसर्ग की भी दो वृत्तियाँ बनती हैं। विसर्जनीय और हकार। ये शिवशक्यात्मक अकार और हकार अविभक्त रहते हुये ही आगे शब्दसृष्टि करते हैं।

अकारश्च हकारश्च द्वावेतौ युगपत् स्थितौ।
विभक्तिर्नानयोरस्ति मारुताम्बरयोरिव।।
न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिः शिववर्जिता।।

(तन्त्रााा. तृतीय आ. 67 की टीका)

अब प्रकाश और विमर्श नामक **अनुत्तर (अकार)** के संघट्ट से उत्पन्न आनन्दशक्ति की प्रधानता से **'आनन्द' नामक द्वितीय वर्ण 'आकार'** का उदय होता है। विश्वसर्जनेच्छाशक्ति की प्रधानता से **'इच्छा' नामक तृतीय वर्ण 'इकार'** का उदय होता है। इस इच्छा का प्राबल्य होने से **'ईशन' नामक चतुर्थवर्ण 'ईकार'** का उदय होता है। ज्ञानशक्ति की प्रधानता से विश्व का उन्मेष करने वाले **'उन्मेष' नामक प×चम बीज 'उकार' वर्ण** का उदय होता है। ज्ञान अंश की ऊनता होकर ज्ञेय अंश का उद्रेक होने से **'ऊनता' नामक षष्ठ बीज 'ऊकार वर्ण'** का उदय होता है।

तन्त्रालोक के अनुसार ये छह स्वर ही वर्णों की उत्पत्ति में बीज हैं। वस्तुतः तन्त्रामत में वर्ण दो प्रकार के हैं– बीज और योनि। ये छह वर्ण ही बीज हैं। ये क्षोभक हैं। कादि हान्त व्य×जन क्षोभाधार होने से योनि हैं। ये क्षोभ्य हैं। ऋ ॠ लृ ॡ, ये न बीज हैं न योनि, अतः नपुंसक हैं।

ऋ ॠ लृ ॡ चतुष्कं च नपुंसकगणस्तथा।
क्षोभन्तरस्यासद्भावान्नेदं बीजं च कस्यचित्।।

(तन्त्राा. तृतीय आ. 79 की टीका)

स्वराणां षट्कमेवेह मूलं स्याद् वर्णसन्ततौ।
षड्देवतास्तु ता एव ये मुख्याः सूर्यरश्मयः।।

(तन्त्राा. तृतीय आ. 184)

कादिहान्तमिदं प्राहुः क्षोभाधारतया बुधः।

(तन्त्राा. तृतीय आ. 179 की टीका)

इन्हें आगे कहा जा रहा है।

इस प्रकार छह स्वर ही अन्य सारे वर्णों की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। अन्य स्वर इन्हीं के स्फारमात्रा हैं। प्रकाशक होने के कारण इन्हें सूर्यरश्मियाँ कहा गया है। इनके नाम हैं – **दहनी पचनी धूम्रा कर्षिणी वर्षिणी रसा।** (तन्त्राा. तृतीय आ. 184)

घट की जो घटज्ञाता में विश्रान्ति होती है उसी का नाम 'ज्ञेयत्व' होता है, अतः '**भोक्तुर्भोग्यं नापरम्**', यह तन्त्रा का सिद्धान्त है। इस प्रकार यहाँ भोक्ता भोग्य का अभेद माना गया है। अतः सूर्य ही चन्द्र और अग्नि रूपों में विभक्त होकर क्रमशः Ðस्व, दीर्घ, प्लुत बनता है। इनमें सूक्ष्म होने के कारण जो इनका जो प्रथम रूप एकमात्रिाक Ðस्व होता है, वह सूर्य है। क्षुब्ध होकर बहीरूप से निःसृत द्विमात्रिाक स्थूल रूप सोम है। त्रिामात्रिाक तृतीय रूप अग्नि है। (तन्त्राा. तृतीय आ. 132–133)। इस प्रकार पूर्व–पूर्व वर्णों में भोक्तृत्व और उत्तर–उत्तर वर्णों में भोग्यत्व है।

इच्छाशक्ति (इकार) दो प्रकार की है– क्षुभित और अक्षुभित। यह रेफ और लकार दोनों की छाया को धारण करती है। अतः ज्वलनशील से अक्षुब्धा इच्छा ऋकार के रूप में स्फुरित होती है और क्षुब्धा इच्छा ॠकार के रूप में स्फुरित होती है। इसी प्रकार धराशक्ति से अक्षुब्धा इच्छा लृकार के रूप में स्फुरित होती है और क्षुब्धा इच्छा ॡकार के रूप में स्फुरित होती है। इन चारों में किसी अन्य को उत्पन्न करने की शक्ति न होने से ये चारों वर्ण किसी का बीज नहीं हैं।

अनुत्तर तथा तन्निष्ठ आनन्द के साथ इच्छा और उन्मेष के संघट्ट से ए, ओ का उद्भव होता है। इन्हें त्रिाकोण कहा जाता है। अनुत्तर तथा तन्निष्ठ आनन्द के साथ इच्छा और उन्मेष का संघट्ट जब वृद्धि और प्ररोह को प्राप्त होता है, ऐ, औ का उद्भव होता है। इन्हें षट्कोण कहा जाता है। (तन्त्राा. तृतीय आ. 93–96)

अनुत्तर तथा तन्निष्ठ आनन्द ये संविन्नाथ हैं। **अयं खलु अनुत्तरानन्दात्मा संविन्नाथः।** (तन्त्राा. तृतीय आ. 99)। अनुत्तर मकार और हकार की उपाधि के लेश से बिन्दु=अनुस्वार और विसर्गरूपता को प्राप्त करता है।

हकाररूपया शक्त्या मकारो ना हृदि स्थितः। यद्यपि अनुस्वार में मकार की छाया है परन्तु यह मकार से भिन्न है। **मकारादन्य एवायं तच्छायामात्राधृद्यथा।** (तन्त्राा. तृतीय आ. 134–136)। इसमें शिव अनुस्वार हैं और सृष्टि के विसर्जनक्रिया के रूप में कौलिकी शक्ति ही विसर्ग है। (तन्त्राा. तृतीय आ. 144)। इनके योग से ही सृष्टि होती है।

विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते। (तन्त्राा. तृतीय आ. 94 की टीका)

विसर्ग ही जैस स्थूल हकार के रूप में स्थित होता है उसी प्रकार अनुत्तर आदि ही कादि मावसान स्पर्शों के रूप में अवभासित होते हैं। यथा – अनुत्तर (अकार) से कवर्ग का प्रसव होता है। इच्छाशक्ति (इकार) से चवर्ग का, ऋ और लृ इन दो रूपों को प्राप्त करने वाली इच्छा से टवर्ग और तवर्ग की उत्पत्ति होती है। उन्मेष (उकार) से पवर्ग की उत्पत्ति होती है। (तन्त्राा. तृतीय आ. 148–152)

जब इच्छा, उन्मेषादि शक्तियाँ विजातीय शक्तियों से मिलती हैं, तब य, र, ल, व का जन्म होता है। ये अन्तःस्थ क्रमशः वायु, सूर्य, धरा और वरुणरूप हैं– **इच्छाद्यन्तःप्रवेशेन तेऽन्तःस्था इति कीर्तिताः।।** (तन्त्राा. तृतीय आ. 154–158)। जब यह इच्छा अपने स्वातन्त्रयलक्षण ऊष्मा से बहिर्मुख होकर उल्लास करती है, तब श, ष, स के रूप में स्फुरित होती है।

तदेव स्वोष्मणा स्वात्मस्वातन्त्रायप्रेरणात्मना।
बहिर्भाव्य स्फुटं क्षिप्तं शषसत्रितयं स्थितम्।।
इच्छैव स्वोष्मणाक्रान्ता कलात्रायसमाश्रिता।

(तन्त्राा. तृतीय आ. 164–165)

परासत्ता की इस अन्तिम अभिव्यक्ति सकार में सारा विश्व स्फुट रूप से प्रतिभासित होता है, अतः इसे योगीजन अमृत और परमधाम कहते हैं।

सोमं चामृतनाथं च सुधासारं सुधानिधिम्।
सकारं षड्रसाधारं नामभिः परिकीर्तितम्।। (तन्त्राा. तृतीय आ. 158 की टीका)

इसे ही तृतीयब्रह्म भी कहा गया है– **तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि।** (तन्त्राा. तृतीय आ. 167 की टीका)

ककार शिवात्मक व्य×जनों में प्रथम है और विसर्ग शक्त्यात्मक है, जो सकार बनकर षत्व को प्राप्त करता है और क्‌ष्‌ के संयोग से क्षकार की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार क्षकार को सारे वर्णों का प्रतिनिधि कूटबीज कहा गया है।

इस प्रकार षोडश स्वर, चार अन्तःस्थ, चार ऊष्म, 25 स्पर्श क्षकार के साथ मिलकर 50 होते हैं। सारा वाच्यवाचककलाप इसी में क्रोडीकृत है। ये सारे के सारे अकाररूप अनुत्तर और विसर्गरूप हकार से प्रस्फुरित होते हैं। इस प्रकार सारा विश्व अकारस्वरूप अनुत्तर परमेश्वर शिव और हकारस्वरूप नादात्मिका शक्ति के तादात्म्य का प्रसार है। ये ही विश्व के माता–पिता हैं।

तस्मादनुत्तरो देवः स्वच्छन्द्यानुत्तरत्वतः।
विसर्गशक्तियुक्तत्वात् संपन्नो विश्वरूपकः।।
एवं प×चाशदामर्शपूर्णशक्तिर्महेश्वरः।

विमर्शात्मैक एवान्याः शक्तयोऽत्रौव निष्ठिताः।।

(तन्त्राा. तृतीय आ. 196)

इत्थं नादानुवेधेन परामर्शस्वभावकः।
शिवो मातापितृत्वेन कर्ता विश्वत्रा संस्थितः।।

(तन्त्राा. तृतीय आ. 200)

भगवान् अनुत्तर ही अपनी हकारात्मक शक्तिरूपता को आभासित करके अविभागप्रकाश रूप से जो स्वात्मा में विश्राम करते हैं, वही बिन्दुरूपता है। यही अकार हकार बिन्दु से होने वाला 'अहम्' परामर्श है।

अनुत्तरविसर्गात्मशिवशक्त्यद्वयात्मनि।
परामर्शो निर्भरत्वादहमित्युच्यते विभोः।। (तन्त्राा. तृतीय 203)

यही कारण है कि भगवान् पाणिनि ने अकार हकार के मध्य सारे वर्णों को व्यवस्थित करके इन दो से 'आदिरन्त्येन सहेता' के द्वारा युगपत् ही सारे वर्णों के परामर्श की व्यवस्था की है। (तन्त्राा. तृतीय आ. 204 की टीका)। इस समग्र कारणात्मा शब्दराशि को मालिनी भी कहा जाता है– **मलते विश्वं स्वरूपं धत्ते इति।** (तन्त्राा. तृतीय आ. 232 टीका)

सौन्दर्यलहरी के अनुसार वर्णों का देवतात्मक स्वरूप

सौन्दर्यलहरी के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि यह चर (=पिण्डाण्ड) तथा अचर (=ब्रह्माण्ड) जगत् शिवशक्त्यात्मक ही है, किन्तु बिना शक्ति के शिव कुछ भी कर सकने में असमर्थ हैं। इस पर सौभाग्यवर्धनी टीकाकार कहते हैं कि– **'ककारादिक्षकारान्तो वर्णसमूहः शिवः' प×चत्रिंशद्वर्णात्मकः, समस्तव्यस्तरूपेण षट्–त्रिंशत्तत्त्वात्मकः। शक्तिः अकारादिषोडशस्वरसमूहः। षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मको व्य×जनसमूहः। शिवः षोडशस्वररूपया शक्त्या युक्तो यदि भवति, तदा प्रभवितुं वेदविद्यारूपेण शब्दार्थसृष्टिं स्पष्टीकर्तुं शक्तो भवति। अतः शिवशक्तिमयाः सर्वे वर्णाः। स्वराः स्वतन्त्राा जायन्ते न शिवस्तु कदाचन। शिवस्त्वन्मय एव मातृकारूपत्वात्।**

इस प्रकार शिव व्य×जन हैं और शक्ति स्वर हैं। अकार से क्षकार पर्यन्त 50 वर्णों की जो मातृका अक्षमाला है, वही भगवती का स्वरूप है। इस मातृका को ही 'चिन्तामणि' कहा जाता है। इस प×चाशद्वर्णात्मिका मातृका के आठ वर्ग होते हैं। इसमें आठ वर्गदेवियाँ आकार लेती हैं। ये वर्गदेवियाँ इस प्रकार हैं– 1. अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॄ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः = इन 16 स्वरों, अनुस्वार तथा विसर्ग की वशिनी। 2. कवर्ग के पाँच स्पर्श की कामेश्वरी। 3. चवर्ग के पाँच स्पर्श की मोदिनी। 4. टवर्ग के पाँच स्पर्श की विमला। 5. तवर्ग के पाँच स्पर्श की अरुणा। 6. पवर्ग के पाँच स्पर्श की जयिनी। 7. यवर्ग (य, व, र, ल = अन्तःस्थ) की सर्वेश्वरी। 8. शवर्ग (श, ष, स, ह = ऊष्म तथा क्ष) की कौलिनी। इस प्रकार वशिन्यादि आठ शक्तियों से योजित अष्टवर्गात्मिका भगवती त्रिपुरसुन्दरी का, अकचटतपयश वर्गों में यथाक्रम विभाजित बिन्दुत्रिकोणात्मक चक्रों में, ध्यान करने से काव्यकर्तृत्व प्राप्त होता है। आगमशास्त्रा की हादि और कादि विद्यायें इस मातृका में ही प्रतिष्ठित हैं।

सवित्रीभिर्वाचां शशिमणिशिलाभङ्गरुचिभि–

र्वशिन्याद्याभिस्त्वां सह जननि संचिन्तयति यः।
स कर्ता काव्यानां भवति महतां भङ्गसुभगै–
र्वचोभिर्वाग्देवीवदनकमलामोदमधुरैः।। (सौन्दर्यलहरी 17)

सौन्दर्यलहरी के अनुसार आगमशास्त्रा दो प्रकार का है। समयाचार और कुलाचार। इनमें आन्तरपूजापद्धति को समयाचार कहते हैं और बाह्यपूजापद्धति को कुलाचार कहते हैं। पिण्डाण्ड के भीतर परमात्मतत्त्व का अनुसन्धान करना अन्तर्याग है। ब्रह्माण्ड में परमात्मतत्त्व का अनुसन्धान करना बहिर्याग है। बहिर्याग में वियच्चक्र को श्रीचक्र कहा जाता है। अन्तर्याग में श्रीचक्र की प्रतिष्ठा पिण्डाण्ड में ही है। श्रीचक्र नौ त्रिकोणों से बनता है।

ये नौ चक्र ही इसकी नौ योनियाँ कहलाती हैं। इन नौ योनियों में नीचे शक्त्यात्मक प×चयोनि होती हैं, जिनमें मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा नामक षट्चक्र व्यवस्थित होते हैं। ऊपर शिवात्मक चतुर्योनि होती हैं, जिन्हें शिवाकार म×च कहते हैं। ये चार म×च माया, शुद्धविद्या, महेश्वर और सदाशिव कहलाते हैं। इनके बीच में जो बिन्दुस्थान होता है, वही सुधासिन्धु है। ये ही बिन्दुस्वरूप शिव हैं। इस शिवात्मक म×च में (शक्त्यात्मक प×चयोनियों के ऊपर) जो सदाशिवात्मक पर्यङ्क है, उसी पर श्रीत्रिपुरसुन्दरी ललिता महाभट्टारिका विराजती हैं। ये ही विसर्गात्मिका शक्ति हैं। इन दोनों के संयोग से सारा वाच्यवाचकात्मक जगत् उत्पन्न होता है।

बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्ममन्वस्रनागदलसंयुतषोडशारम्।
वृत्तत्रिभूपुरयुतं परितश्चतुर्द्वाः श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः।।

इन दोनों प्रकार के त्रिकोणों को सर्वथा पृथक् करने वाला बैन्दवस्थान शिवशक्तिचक्र के मध्य में रहता है। नौ त्रिकोणों से सर्वथा पृथक् यह बैन्दवस्थान ही श्रीचक्र की अधिष्ठात्री ईश्वरी कहा जाता है। इसी श्रीचक्र में सारे वर्ण प्रतिष्ठित हैं। अतः सारे वर्णों और उनके अधिष्ठातृदेवताओं की स्थिति जिस प्रकार पिण्ड में है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में भी है। इति शम्।

⌊GAMA NIGAMA RELATIONSHIP AND THEIR PHILOSOPHY

S.RANGANATH
Vidwan, M.A., Ph.D., D.Litt.
Head, Dept. of Sanskrit,
NMKRV College (Autonomous),
Bangalore – 560011.

Interaction and interrelationship between diverse systems of thought has been a mark of Indian tradition. The traditions of Nigama and ⌊gama have come along the hoary past. Though Western scholars view the dichotomy between ⌊gama and Nigama by taking into view the apparent differences, Indian scholars have always held them complimentary and co-operative in their nature and outlook. An attempt is made here to bring out some of the issues in this direction.

The present paper tries to bring out the essentials of the above mentioned topic under the following three heads –

1. Definitions of ⌊gama and Nigama.
2. The apparent contradictions existing between ⌊gama and Nigama.
3. The complimentary nature of ⌊gama and Nigama.

Introduction

The word ⌊gama refers to an ancient tradition dealing with worship and the philosophical, psychological, ritualistic and behavioural aspects thereof which has come down to us by word of mouth as well as through written texts, whereas Nigama or Veda is the highest wisdom of the vedic seers which was revealed to them on account of their severe penance and which inturn has been handed down from generation to generation through oral tradition from father to the son or teacher to the taught, with all its intracacies and pristine purity.

Definitions - ⌊gama – Nigama

The word ⌊gama literally means a well structured and traditionally communicated wisdom (⌊+gam). One of the definitions of ⌊gama is that it is the knowledge that has been obtained either by direct observation, by inference or by the testimony of those who are wise and trustworthy and which will be benificial to man, both here and hereafter. Another way of defining is that ⌊gama tells us about Dharma and Adharma and gives us comprihensive knowledge regarding the highest objective of man, according to those who know the Vedas. The general import of the word ⌊gama is that which helps one to understand things correctly and comprehensively.

आ ज्ञा वस्तु समन्ताच्च गम्यत इति आगमो मतः[1]
सिद्धं सिद्धेः प्रमाणैस्तु हितं वाऽत्रा परत्रा च।
आगमं शास्त्रामाप्तानाम्[2]

[1] Pingalamata.
[2] Tantras□stra.

Whatever is definitely ascertained by trustworthy means of knowledge and whatever contributes to our welfare here and hereafter is Āgama, the scriptual testimony of reliable authorities (आप्तानां शास्त्राम्). The reliable authorities are described in जयमङ्गला as the persons who are engaged in their own proper duties, who are free from attachment and aversions, who entertain no hostility for anyone and who are honoured by the good :

स्वकर्मण्याभियुक्तो यः रागद्वेषविवर्जितः।
निर्वेरः पूजितः सद्भिः आप्तो ज्ञेयः स तादृशः।।[3]
सृष्टिश्च प्रलयं चैव देवतानां तथार्चनम्
साधनं चैव मन्त्राणां पुरश्चरणमेव च।
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तं त्वागमं तद्विदुर्बुधाः।।[4]

The learned regard that book as Āgama which is distinguished by seven characteristics :-

1. It deals with creation.
2. Dissolution of the World.
3. It prescribes how Gods are to be worshipped.
4. It tells how rituals could be accomplished.
5. It provides details of visualisation of mantras.
6. It treats the six magical practices, pacification of evil forces (शान्ति), attraction and subjugation ~~(वशीकरण्)ए~~ arresting movements of speech (स्तम्भन), causing illwill among friends or lovers (विद्वेषण), driving the enemy out (उच्चाटन) and killing (मारण)य and
7. Four methods of contemplation.

कर्तव्यत्वेन वै यत्रा चातुरात्म्यमुपासते।
क्रमागतैः सुसंज्ञाभिः ब्राह्मणैरागमं कृतम्।।[5]

The four devotional procedures, which are resorted to with a sense of duty and with well known symbolic employments are Āgamas.

आसमन्ताद् गमयति धर्माधर्मो परं पदम्।
आगमस्तेन कथित इति वेदविदो विदुः।।

The word Āgama is derived from the root "Gam" meaning "to go", "to tell" with the prefix आ which means "from all sides". The word therefore means – Whatever comprehensively tells an individual about what is proper and what is improper is Āgama.

आचारकथनाद्दिष्य गतिप्रजिनिदानतः।
माहात्म्यतत्त्वकथनादागमश्चेति गण्यते।।[6]

Āgama teaches us about the right conduct, about the nature of the divine states and the manner of obtaining them, about the glory of God and about Reality.

The above mentioned are general definitions of Āgama. Āgamas are broadly divided into three groups on the basis of sectarian affiliation - Śaiva, Vaiṣṇava and Śākta.

---

[3] Jayamangala.
[4] Śabdakalpadruma.
[5] Īśvarasamhitā.
[6] Puruṣottamasamhita.

The definition of ⌊gama as applicable to the ⌈aiva ⌊gamas is that it is the wisdom that proceeded from the mouth of ⌈iva and received by the ear of P□rvathi, it was absorbed by V□sudeva.

आगतं शिववक्त्रोभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते।।[7]

A variant reading is

आगतं शिववक्त्रोभ्यो गतं च गिरिजामुखे।
मलत्रायविनाशित्वादागमः परिकीर्तितः।।[8]

In शैवागम there is a belief that from each of the five faces of ⌈iva emerged a class of ⌊gama. Emerging from the सद्योजात Face (West) the class of ⌊gama known as भूत, consisted according to tradition of twenty books, from the वामदेव face (North), the वाम class had twenty four books, from the अघोर face (South) the भैरव Class emerged consisting of thirty two books, from the तत्पुरुष Face (East) emerged गरुड़ class of twenty eight books, from the ईशान Face (Upperface) emerged the सिद्धान्त class consisting of books giving the background to the temple worship.

Nigama (Veda)

The word Veda has come into being with the root "Vid" which means "to know" काठक, मैत्रायणी and तैत्तिरीयसंहिता put forth the following definition of Veda :-

वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दन्त[9]

It means that the Gods came to know about the condition of the demons and hence it is Veda. आनन्दतीर्थ in his विष्णुतत्त्वविनिर्णय puts forth the following definition of Veda :-

नेन्द्रियाणि नानुमानं वेदाष्टैवेनं वेदयन्ति तस्मादाहुर्वेद इति पिप्पलादश्रुतिः।[10]

The sense cannot perceive Him. Even through inference one cannot make him out, but only Vedas can know Him and hence they came to be known as Veda is the statement of पिप्पलाद .

The commentator of अमरकोश, क्षीरस्वामी, states – विदन्ति अनेन धर्मं वेदः।[11] From this, Dharma is to be known. The same statement is echoed by हेमचन्द्र in his अभिधानचिन्तामणि। मेधातिथि, the commentator of Manu states –

व्युत्पद्यते च वेदशब्दः। विदन्ति अनन्यप्रमाणवेद्यं धर्मलक्षणमस्मादिति वेदः। तच्च वेदनं एकैकस्मात् वाक्यात् भवति।[12]

It means that the definition of Dharma, which could be known from other means of valid knowledge, is known only from the Veda. Hence it came to be known as Veda. कपर्दिस्वामि, in his आपस्तम्भमपरिभाषाभाष्य is of the opinion that it came to be known as Veda because it preached the karma by following which one can attain मोक्ष –

---

7 ⌈abdastomamah□nidhi.
8 Ibid.
9 Taitteriyasamhita.
10 Vi♣⌉utattvavinir⌉aya of ⌊nandatirtha.
11 K♣irasw□mi on Amarako♣a.
12 Medh□tithi on Manu.

निःश्रेयसकराणि कर्माणि आवेदयन्तीति वेदः।[13]

The commentator of all the four Vedas states – इष्टप्राप्ति अनिष्टपरिधरयोः अलौकिकं उपायं यो ग्रन्थः वेदयति स वेदः।[14]

Veda is that which provides the eternal solution regarding how to acquire the desired object and how to avoid what is not wished for :- मन्त्राब्राह्मणयोः वेद नामधेयम्[15] is the explanation of आपस्तम्भ . Veda is that which is a combination of poetry in the form of Samhita and prose in the form of Brahmanas.

Thus, having understood the definitions of the term ⌊gama and Nigama, now let us know the apparent contradictions existing between them.

II

Apparent contradictions between Nigama and ⌊gama

There is a statement in the ⌊gamas that the tantra is twofold in nature - ⌊gama and Nigama :- आगमं निगमं चैव तन्त्राशास्त्रां द्विधा मतम्।

Nigama stands for Veda, while ⌊gama is identified with tantra. Kullukabhatta's Gloss on Vi•⌉u Pur□⌉a states that Veda and tantra are the two main streams of Indian traditional thought :

श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिाकी च।[16]

The ⌊gama tantra tradition is considered as authentic and as important as the Vedic tradition. These two traditions have divergent view points regarding some details like God, the ralationship between God and man, the path to salvation and the ways of worship. The Vedic conception of God is that of an Omniscient, Omnipotent and a formless entity manifesting itself in a natural phenomena and forces, whereas the ⌊gama represents God with a personal diety with a recongnisable form and characteristic attributes. The Vedic traditions lays great stress on fire rituals and sacrifices whereas ⌊gamas recommend worship of images of God while rituals (tantra) and word symbols (mantra) as the path to salvation. The ⌊gamas hold Bhakti or Devotion to diety as a primary requisite to attain salvation and wisdom or enlightment as the last step in the path of emancipation.

In the Nigama tradition (Namely Veda) greater attention is given to knowledge of the Gods, although such knowledge is not systematised and exists in an amorphous form.

As regards the idea only the initiated individual was capable of obtaining the desired goal, the Vedanta approach has little use for it. The value of a Guru was only in the instruction that he imparted. But, in the ⌊gama or the tantric tradition great importation was attached to the Guru who not only instructed but also initiated the pupil. The initiation or Diksha was a necessary elaborate and a symbolic rite. In the Vedic context also we find the element of Diksha but it is only a preliminary ritual qualifying an individual to perform a sacrifice. It has none of the deeper significances that we find in the tantric tradition where the Guru who bestows Diksha plays an all-important role in the spiritual revolution of the aspirant :-

---

[13] Kapardisw□mi's Apastambha paribh□•□ bh□•ya.
[14] S□ya⌉a's Taittiriyasamhita Bh□•ya.
[15] Definition of Apastambha.
[16] Kullukabhatta's gloss on Vi•⌉upur□⌉a.

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो परागतिः।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।।[17]
विना दीक्षां न मोक्षः स्यात्तदुक्तं शिवशासने।
सा च ना स्याद्विनाचार्यं इत्याचार्य परम्परा।।[18]
सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित्।
परोपकारनिरतो जपपूजादितत्परः
अमोघवचनः शान्तो वेदवेदार्थपारगः
इत्यादि गुणसम्पन्नो गुरुरागमसम्मतः।।[19]

II

The Complimentary nature of Nigama and Āgama (Confluence)

Āgama seem to have originated at the time of creation itself. The Śaivāgama for instance, hold that Nāda or primordial sound that emanated from undifferentiated and absolute Śiva gave rise to Praṇava or AUM, which inturn produce primal sound, matrices which ultimately resulted in शब्दराशि or language. The first expression of language was Āgama :-

अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्।
नादरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रां सर्वमिति पौष्करे।।
सृष्टेश्चादौ निष्कलपरशिवात् नाद आविरासीत्।
तस्मात् सर्वमातृकामूलभूतः प्रणवाक्षरः
ततो मातृकाक्षरैः शब्दरायिाः यैः आगमादिग्रन्थराशिः।[20]

वातुलशुद्धागम can be taken as a representive of Āgamas which extols AUM as follows :-

AUM is the foremost syllable – ओंकारं प्रथमं बीजम्।[21]

AUM is all enveloping one – ओंकारमीश्वरं विधात्।[22]

AUM is the begining of everything – ओंकारादौ तथा ज्ञेयः।[23]

AUM is the very root of all mantras – सर्वेषां चैव मन्त्राणां प्रणवः पर उच्यते।[24]

This AUM also finds an enviable place in Nigama or Vedic tradition as follows :-

AUM in Rigveda

ओमनंशंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातुशर्मवहतं शुभस्पते।[25]

May you chant AUM for the well being of your generation, to remove sorrow, as AUM is an Omnipresent principle.

AUM in Yajurveda

---

17 Rudrayāmala tantra, 2.65.
18 Kulārṇavatantra 12.45.
19 Śaradatilakatantra 2.142-144.
20 Pouṣkarasamhitā.
21 Vatulasuddhagama.
22 Ibid.
23 Ibid.
24 Ibid.
25 Rigveda.

Even in Yajurveda, we have such passages as – ओं त्रातो स्मर।[26] (40.15)

May you chant the AUM which is the main inspiration for all action.

<u>AUM in S□maveda</u>

Let that Omniscient AUM bring about auspiciousness in me – states S□maveda :-

ओं स्वस्तिनो बृहस्पतिः ददातु।[27]

Upani•ads or texts of highest wisdom in Vedic tradition makes mention of AUM:-

<u>AUM in Mu⟩∂akopani•ad</u>

AUM is highlighted in this Upani•ad through a nice metaphor :-

प्रणवो धनुः शरोदात्मा ब्रह्म तल्लक्षमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेदव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।[28]

AUM is the bow, the soul is the arrow and Brahman is the target. It is to be hit by an unerring man. One should become one with it just like an arrow.

<u>AUM in M□⟩∂ukyopani•ad</u>

The very first stanza of this Upani•ad highlights AUM :-

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् भूतं भवत् भविष्यत्
सर्वमोंकार ाव यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदपि ओंकार ाव।[29]

The whole of the universe is pervaded by the imperishable AUM which is the origin of all names and forms. Whatever is pervaded and expressed in the past, present and future is also AUM.

Further, M□⟩∂ukya analyses the significance of the three letters like A, U and M with wakeful, dream and dreamless states.

Gou∂ap□d□c□rya further elaborates this AUM concept in his माण्डूक्यकारिका , consisting of four chapters आगम, वैतथ्य, अद्वैत and अलात शान्तिप्रकरण.

<u>AUM in Taittiriyopani•ad</u>

We have a fine description of AUM in जीम शिक्षावल्ली of this Upani•ad :-

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदगं सर्वं। ओमित्येतदनुकृतिहस्य वा अप्यो प्रवयेत्वा प्रवयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओगुंशोमिति शस्त्राणि शगुंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति।[30]

AUM is Brahman. AUM is all these, AUM is well known as a world of concurrence, they make them recite to Gods, they commence singing S□mans with AUM. Uttering the words ओं शम् they recite the S□mans and ⎜□stras. The Adhvaryu utters encouraging words with AUM. One permits the performance of Agnihotras sacrifice with the word AUM. A Brahmana when about to recite the Vedas utters AUM under the idea "I shall attain Brahman", which he readily attains later.

The concept of AUM also occurs in Upani•ads like प्रश्न, छान्दोग्य, कैवल्य, हंस, महानारायण, ब्रह्म, अमृतनाद, अथर्वशिर, मैत्रायणीय, तेजोबिन्दु, नादबिन्दु, ध्यानबिन्दु and

---

[26] Yajurveda, 40.15.
[27] S□maveda.
[28] Mu⟩∂akopani•ad, 2.4.
[29] M□⟩∂ukyopani•ad, 1.
[30] Taittiriyopani•ad, 1.8.

so on. It is interesting to note that there is an Upani•ad called प्रणवोपनिषद् among the one hundred and eight Upani•ads.

Thus the divine symbol AUM serves as the bridge between Nigama and ⌊gama tradition.

The ⌊gamas are generally divided into four padas like विद्यापाद, योगपाद, क्रियापाद and चर्यापाद य like the four divisions in Veda suchॅ संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक and उपनिषत् ए

विद्यापाद deals with the basic philosophic principles and knowledge concerning ultimate reality and its worship worthy manifestations as well as liberation in different stages.

योगपाद deals with spiritual and esoteric practices in the ascetics like षडङ्ग namely आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि .

क्रियापाद deals with planning, preparation and construction of temples, making and consecration of Icons and other details.

चर्यापाद deals with occasional festivals in the temple, the observance and conduct of the priests.

संहिताs are collection of hymns eulogising the Gods in poetry.

ब्राह्मण are the exegetical and commentative works in prose.

आरण्यकं are ritualistic in content and intermediary portion of Br□hma⌉as and Upani•ads.

उपनिषद्s are the end portions of Veda and form the sum and substratum of true knowledge.

Although the ⌊gama and Nigama traditions started off with divergent approaches, there was in course of time an attempt towards confluence. The tantra borrowed many details from the Vedic tradition and adapted many others. The celebrated G□yathri of Rigveda which was a hymn directed towards solar divinity was adapted to suit the needs of the mother Goddess. The hymn of benediction from Rigveda (1.89.6) was adopted to worship |akti. Like the Vedic Sandhya ritual, there was a tantric Sandhya involving similar rituals and hymns. Vedic authorities were cited in support of Kaula rites corresponding to the Samskaras prevalent among the followers of the Vedic tradition. There was samskaras meant for tantric practitioners. Sacrifices were incorporated into the tradition of ⌊gama from Nigama. जयाख्यसंहिता prescribes अन्त्येष्टि and वातुलतन्त्रा, प्रायश्चित on Vedic lines. Tantras claim that Vedas were derived from them like Rigveda from Rudra Y□mala, Yajurveda from Vi•⌉uy□mala, S□maveda from Brahmay□mala and Atharvaveda from |aktiy□mala.

Conclusion

To conclude one can say that ⌊gama tradition was eager to align with Vedic tradition with an obvious celebrity and unquestioned authority and sought to provide support to their claims from the Nigama. ⌊gama came to be considered in due course almost as a subsidiary culture within the Vedic framework. In temple worship for instance, Vedic mantras are chanted in the traditional manner while performing certain

rituals, while providing the ceremonial bath for the Icon. ⌊gamas accommodated the collective form of worship as is now done in most of the temples along with the individual worship that was characteristically private when performed at home.

End

एरण की दुर्लभ शाक्त प्रतिमायें

डॉ. संतोष कुमार बाजपेयी
रीडर,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि., सागर (म.प्र.)।

शक्ति की परिचायक मातृ देवी की परिकल्पना उतनी ही विषय व्यापक हैं जितनी कि धर्म की प्रेरणा। हिन्दू धर्म में शक्ति की पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रही है। शक्ति पूजा का मूल स्रोत प्रागैतिहासिक काल में दिखलाई पड़ता है। सिंधुघाटी की सभ्यता के युग में मातृशक्ति पूर्णतः प्रतिष्ठापित हो चुकी थी। वेदों में भी नारी सत्ता को पुरुष की प्रेरणा के रूप में प्रकट किया गया है। ई.पू. प्रथम शती तक शक्ति उपासना का पर्याप्त विकास हो चुका था। बाद में कर्मकाण्ड तथा अनुष्ठान विधियों का प्रवेश होने से रहस्यपरक दैवी चमत्कारों का आविर्भाव हुआ। शाक्त मत में तन्त्रााचारों का समावेश हुआ जिससे कालांतनर में विभिन्न संप्रदायों का जन्म हुआ।

मध्य प्रदेश के सागर जिले में स्थित एरण नगर प्राचीन काल के एक प्रसिद्ध शाक्त केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। एरण नामक गाँव सागर नगर से लगभग पचहत्तर किलोमीटर उत्तर–पश्चिम में खुरई तहसील में स्थित है। बेतवा की सहायक बीना नदी के तट पर एरण (प्राचीन ऐरिकिण) बसा हुआ है। वहाँ के प्राचीन टीलों पर डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व विभाग द्वारा विगत अनेक वर्षों तक उत्खनन कार्य करवाये गये। उत्खनन में प्रतिमाओं के अतिरिक्त बड़ी संख्या में पुरावशेष, सिक्के एवं मुद्राओं की प्राप्ति हुई है। एक मुद्रा पर एरण का प्राचीन नाम ऐरिकिण लिखा है। इस मुहर के ऊपरी आधे भाग पर गजाभिषिक्त लक्ष्मी खड़ी हुई दिखलाई गयी हैं। उनका एक हाथ कमर पर रखा है तथा दूसरा हाथ ऊपर को उठा है। लक्ष्मी के दोनों तरफ एक–एक हाथी अपनी सूँड उठाये हुये उनका अभिषेक कर रहे हैं। देवी के शीर्ष भाग पर प्रभामण्डल है।

एरण के उत्खनन में मातृदेवी की मृण्मूर्तियाँ बड़ी संख्या में मिली हैं। उनका निर्माण पत्थर तथा हड्डी के चूरे को मिट्टी में मिलाकर किया गया है। एरण में ये मृण्मूर्तियाँ ताम्रपाषाण काल से बनने लगी थीं। वैदिक ग्रन्थों में मातृदेवी का वर्णन समृद्धि की देवी के रूप में हुआ है। एरण की मातृदेवी प्रतिमाओं में मिट्टी के द्वारा शारीरिक अंगों को बनाकर फिर उन्हें चिपकाया गया है। उनमें सिर, मुँह, कान, नाक, माथा, हाथ, शरीर का मध्य भाग, पैर आदि सभी को चिपकाकर बनाया गया है।[1] इन मृण्मूर्तियों के निर्माण में सौंदर्य का पूरा ध्यान रखा गया है। कटि और स्तन को पूर्णतः विकसित बनाया गया है। नाभि का अंकन छिद्र बनाकर किया है।

ताम्रपाषाण काल के पश्चात ऐतिहासिक कालीन हस्तनिर्मित मृण्मूर्तियों में सुंदरता अपेक्षाकृत कम है। शुंगकालीन आकृतियों में स्त्रियों के स्तन छोटे, हाथ मोटे तथा कंधे ढलुआ बने हैं। कुछ मृण्मूर्तियाँ अधपकी हैं। गले का हार, मनके आदि ऊपर से

[1] दुबे, नागेश, एरण की कला, सागर, 1997, पृ. 38–39।

चिपकाये गये हैं। कंधे ऊपर को उठे हुये हैं। अनेक खंडित धड़ स्त्राी आकृतियों के मिले हैं।[2] दूसरी शती ईसवीं से मृण्मूर्तियों का निर्माण साँचे में ढालकर होने लगा था। एरण से दूसरी शती ईसवी से लेकर छठी शती ईसवी के मध्य निर्मित कतिपय आकृतियाँ मिली हैं। इन मृण्मूर्तियों में शारीरिक सौष्ठव, केश विन्यास, अलंकरण एवं सौन्दर्य का अप्रतिम रूप दिखलायी पड़ता है। ये कलाकृतियाँ आग में पकाकर बनायी गयी हैं। इस प्रकार एरण में मातृदेवी की मृण्मूर्तियाँ ईसा पूर्व दो हज़ार से लेकर छठी शती ईसवी तक निरंतर बनती रही थीं।

चौथी से छठी शती ईसवीं के मध्य एरण एक प्रसिद्ध वैष्णव केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। गुप्तकालीन एक शिलापट्ट पर कृष्ण जन्म का दृश्य है जिसमें माता देवकी बालक कृष्ण के साथ प्रदर्शित हैं। एरण देवी लक्ष्मी की पूजा का एक प्रमुख केन्द्र बना। अथर्ववेद (8.46.3) में उन्हें विष्णु की पत्नी कहा गया है। ऋग्वेद में 'श्री' का उल्लेख हुआ है। तैत्तिरीय आरण्यक और वाजसनेयि संहिता में 'श्री' और 'लक्ष्मी' का अलग–अलग उल्लेख है। किन्तु ऋग्वेद के प्रक्षिप्त अंश 'श्री सूक्त' में श्री और लक्ष्मी में कोई अंतर नहीं बतलाया है। मूर्ति विज्ञान की दृष्टि से अभिलषितार्थ चिन्तामणि, मत्स्य पुराण, विष्णु धर्मोत्तर, अंशुमदभेदागम, शिल्परत्न, विश्वकर्माशास्त्रा, देवी पुराण और मार्कण्डेय पुराण में देवी के रूपांकन के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।

सागर के डॉ. हरीसिंह गौर पुरातत्त्व संग्रहालय में एरण से प्राप्त गजलक्ष्मी की एक प्रतिमा सुरक्षित है।[3] उसमें द्विभुजी देवी ललितासन मुद्रा में बैठी हैं। उनके दायें हाथ में सनाल पुष्प–गुच्छक है। बायाँ हाथ भग्न है। देवी के शीर्ष भाग पर सादा प्रभामण्डल है। उनके दोनों ओर एक–एक गज जलाभिषेक करते हुये प्रदर्शित हैं। देवी कुण्डल, एकावली, चूड़ी, पैरों में कड़े आदि आभूषण एवं उत्तरीय तथा अधोवस्त्रा पहने हैं। इस प्रतिमा में देवी के घुंघराले केश एवं अंग–प्रत्यंग का विन्यास अत्यन्त आकर्षक है। शैलीगत विशेषताओं के आधार पर यह प्रतिमा ई. पाँचवीं शती के उत्तरार्ध में निर्मित प्रतीत होती है।[4]

शक्ति के विविध स्वरूपों में असुर–संहारिणी दुर्गा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि ऋग्वेद में 'दुर्गा' का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु आद्यशक्ति 'उमा' से उसका सम्बन्ध बतलाकर उसके विकास–क्रम की प्राचीन परंपरा को ऋग्वेदिक काल तक ले जाने का प्रयास किया गया है।[5] मार्कण्डेय पुराण में देवी दुर्गा के महिषासुर वध कथानक का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। एरण के एक शिलापट्ट परमहिषासुरमर्दिनी की प्रतिमा बनी है। चतुर्भुजी देवी महिषासुर की गर्दन पकड़े हुये प्रदर्शित है। उनके दायें तरफ के दो हाथों में क्रमशः परशु और चक्र आयुध हैं। बायीं तरफ का एक हाथ महिष की पीठ पर रखा है। दूसरे हाथ से महिषासुर की गर्दन पकड़े हैं। देवी साड़ी के अतिरिक्त करधनी, हार, कंगन, कुण्डल आदि आभूषण धारण किये हुये हैं। इस प्रतिमा का निर्माण

---

[2] द्विवेदी, चंद्रलेखा, एरण का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, 1984, दिल्ली, पृ.70।

[3] मिश्रा, ओ.पी., मदर गॉडेसस इन सेंट्रल इंडिया, दिल्ली, 1985, पृ.47; बाजपेयी, के.डी., हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ मध्य प्रदेश, अहमदाबाद, 1984, फलक 16, चित्रा 18।

[4] बाजपेयी, संतोष कुमार, गुप्तकालीन मूर्तिकला का सौंदर्यात्मक अध्ययन, दिल्ली, 1992, पृ.100।

[5] गर्ग, आर.एस., केन्द्रीय संग्रहालय इंदौर की शाक्त प्रतिमायें, भाग 2, भोपाल, 1980, पृ.23।

गुप्तकाल में हुआ है। सूत्राधार मण्डन में देवी के ये समस्त आयुध वर्णित हुये हैं।[6] महाभारत, हरिवंश एवं मार्कण्डेय पुराण में इस देवी को मांस, मदिरा एवं पशु प्रिय मानकर मुण्डमाला, व्याघ्रचर्म एवं खट्वांग जैसे आयुधों को धारण करने वाली कहा गया है।

मातृकाओं की पूजन परंपरा भारत में अति प्राचीन है। सुप्रभेदागम, मार्कण्डेय पुराण आदि ग्रन्थों में मातृकाओं की उत्पत्ति की कथायें दी हुई हैं। एरण से यद्यपि किसी मातृका की स्वतंत्रा प्रतिमा प्राप्त नहीं हुई है। किन्तु विष्णु के अवतार वराह की प्रतिमाओं पर पृथ्वी देवी का अंकन हुआ है। वैदिक ग्रन्थों में पृथ्वी देवी का वर्णन मिलता है। श्रीमद्भागवत (10.58.24) में इस देवी को वराह के दाँत से लटकते हुये वर्णित किया है। एरण में वराह के पशु और मानव दोनों रूपों में प्रतिमायें मिली हैं।[7] पशु वराह की प्रतिमा में द्विभुजी पृथ्वी देवी अपने बायें हाथ से वराह की दाढ़ पकड़े हैं। उनका दायाँ हाथ नीचे लटका है। वह अनेक आभूषणों से युक्त हैं। नृवराह की प्रतिमा हरीसिंह गौर पुरातत्त्व संग्रहालय में विद्यमान है। उसमें पृथ्वी देवी नृवराह के दायें तरफ के दाँत को अपने दायें हाथ से पकड़कर लटकी हैं। उनका बायाँ हाथ नीचे लटका है। देवी हार, कंगन, कुण्डल, नूपुर आदि आभूषणों को धारण करे हैं।

इनके अतिरिक्त एरण से देवियों की कतिपय भग्न प्रतिमायें भी मिली हैं। उनमें देवी के वस्त्राभूषण आदि अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से प्रदर्शित हुये हैं। नदी देवी गंगा–यमुना, शालभंजिका आदि की प्रतिमायें भी एरण से मिली हैं।

एरण की शाक्त प्रतिमाओं में सौंदर्य पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है। मृण्मूर्तियों एवं पाषाण प्रतिमाओं में शारीरिक सौंदर्य की चरम प्रतिष्ठा देखने को मिलती है। संभवतः एरण का नैसर्गिक सौंदर्य ही देवी प्रतिमाओं को प्रकृति के अधिक निकट लाया है। इसीलिये देवी प्रतिमाओं के शिल्पांकन में ताज़गी एवं सर्वांग पूर्णता दिखलायी पड़ती है। प्रतिमाओं को अधिकाधिक अलंकृत बनाने का प्रयास किया गया है। उनके वस्त्रा, आभूषण और केश विन्यास रोचक हैं। नाना प्रकार के आभूषण जैसे एकावलि, कुण्डल, करधनी, वलय, केयूर, कड़े, नूपुर आदि प्रदर्शित हुये हैं। केश विन्यास का भी विविध प्रकार से अत्यन्त अलंकृत स्वरूप मिलता है।

इति

---

[6] खरे, गणेश हरी, मूर्ति विज्ञान (मराठी), पूना, 1936, पृ. 177–78।

[7] बाजपेयी, के.डी., कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, दिल्ली, 1985, पृ.9।

जैन आगम–परम्परा एवं निगम–परम्परा में अन्तःसम्बन्ध

डॉ. धर्मचन्द्र जैन
आचार्य, संस्कृत–विभाग
जयनारायण व्यास वि.वि.,
जोधपुर।

निगम भी शब्द प्रमाण हैं और आगम भी। इनका प्रामाण्य आस्था एवं आप्तता की कसौटी पर निर्भर है। निगम में जहाँ शाश्वत अपौरुषेय ज्ञान सन्निहित है वहाँ आगमों में आप्तवाणी का संचय है। निगम एवं आगम दोनों भारतीय वाङ्मय के प्राण हैं। शैव, वैष्णव आदि परम्पराओं के आगमों का अन्तःसम्बन्ध निगमों से फिर भी सम्भव है, किन्तु श्रमण–परम्परा के आगम एवं त्रिपिटकों की पूर्णतः पृथक् धारा रही है। श्रमण–परम्परा में निगम अर्थात् वेद का प्रामाण्य मान्य नहीं है। वेद का खण्डन या विरोध भी इनमें मुखर नहीं हुआ है। हाँ, वैदिक संस्कृति में आई विकृतियों एवं कतिपय मान्यताओं का विरोध श्रमण–परम्परा में हुआ है। श्रमण–परम्परा में अनेक धर्म–दर्शन रहे, किन्तु दो दर्शन सम्प्रति प्रमुख हैं– जैन और बौद्ध। इनमें बौद्ध दर्शन शब्द या आगम का पृथक् प्रामाण्य नहीं मानकर वह परार्थानुमान में ही उसका समावेश कर लेता है। जैनदर्शन 'शब्द–प्रमाण' के स्थान पर आगम–प्रमाण शब्द का प्रयोग करके अपनी वेदबाह्यता का ख्यापन करता है।

जैन दर्शन में आगम का स्वरूप –

जैन मान्यता है कि तीर्थङ्करों की वह अर्थरूप वाणी जो गणधरों तथा आचार्यों के द्वारा शब्दरूप में गुम्फित है, 'आगम' कहलाती है।[1] वादिदेवसूरि (12वीं शती) 'आगम' का लक्षण करते हुये कहते हैं– "आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। उपचारादाप्तवचनं च।"[2] अर्थात् आप्तपुरुष के वचनों से प्रकट होने वाला पदार्थज्ञान आगम है, किन्तु उपचार से आप्त के वचन भी आगम कहे जाते हैं। आप्त पुरुष कौन होता है, इसका लक्षण करते हुये वादिदेवसूरि कहते हैं– "अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः।"[3] अर्थात् जो वस्तु के स्वरूप को जैसा है वैसा जानता है तथा उस ज्ञान के अनुरूप कथन करता है वह आप्त पुरुष होता है। लौकिक एवं लोकोत्तर के भेद से वह आप्तपुरुष दो प्रकार का होता है।[4] माता–पिता, गुरुजन आदि लौकिक आप्त हैं तथा तीर्थङ्कर अलौकिक आप्त हैं। इस प्रकार तीर्थङ्करों की अर्थरूप वाणी के आधार पर गुम्फित आगम लोकोत्तर आगम हैं।

तीर्थङ्कर समय–समय पर देशना देते रहे। अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर (599–527 ई.पू.) ने जो देशना दी वह शुद्ध ज्ञानराशि के रूप में प्रवाहित हुई। वह महासमुद्र की भाँति थी। उसमें से गणधरों द्वारा यत्किंचित् ज्ञानराशि का शब्दों में संकलन किया गया, जो अंग आगम के रूप में मान्य है। यह आगमवाणी प्रारम्भ में

---

[1] अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
[2] प्रमाणनयतत्त्वालोक, 4.1–2।
[3] वही, 4.4।
[4] स च द्वेधा लौकिको लोकोत्तरश्च। – प्रमाणनयतत्त्वालोक, 4.6।

मौखिक परम्परा से चलती रही, जो काल के थपेड़े में विस्मृति एवं विशृंखलता को प्राप्त होने लगी। उसे सुरक्षित रखने के लिये तीर्थङ्कर महावीर के निर्वाण के 160 वर्ष पश्चात् से 980 वर्ष तक की अवधि में पाटलिपुत्रा, खारवेल, मथुरा एवं वल्लभी में वाचनायें हुईं। वर्तमान में उपलब्ध आगम अन्तिम वाचना के अनुरूप हैं। आगमों में आचारांगादि 12 अंग, औपपातिक आदि 12 उपांग, दशाश्रुतस्कन्ध आदि 6 छेदसूत्रा, उत्तराध्ययनसूत्रा आदि 4 मूलसूत्रा एवं आवश्यक सूत्रा आदि की गणना होती है। श्वेताम्बर स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदाय में 32 आगम मान्य हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय प्रकीर्णकों एवं दो अन्य छेदसूत्राों को मिलाकर 45 आगम मानते हैं। इन्हें कतिपय अन्य प्रकीर्णकों एवं ग्रन्थों को मिलाकर 84 आगम भी मान्य हैं।[5] दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में आचारांगादि आगमों के नाम तो श्वेताम्बरों की भाँति समान रूप से स्वीकृत हैं, किन्तु वे उन्हें अनुपलब्ध मानते हैं। उनके अनुसार अंग आगमों में 12वें अंग आगम दृष्टिवाद का कुछ अंश, षट्खण्डागम, कसायपाहुड, महाबन्ध आदि ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथम शती ई.) के समयसार आदि ग्रन्थ तथा तिह्मोयपण्णत्ति आदि कुछ ग्रन्थ भी आगमवत् स्वीकार्य हैं। परन्तु सम्प्रति 'जैनागम' कहने पर प्रायः श्वेताम्बर जैनागमों को ही गृहीत किया जाता है।

आगमों पर निर्युक्ति, भाष्टा, चूर्णि, टीकायें एवं टब्बे के रूप में व्याख्या–साहित्य भी समुपलब्ध है। जैनागम–वाङ्मय के संवर्द्धन में भद्रबाहु, उमास्वाति, पूज्यपाद देवनन्दी, सिद्धसेनसूरि, समन्तभद्र, भट्ट अकलङ्क, जिनभद्रगणि, जिनदासगणिमहत्तर, हरिभद्रसूरि, मलयगिरि, अभयदेवसूरि, हेमचन्द्रसूरि आदि अनेक आचार्यों का महान् योगदान रहा है। दिगम्बर परम्परा भले ही श्वेताम्बर आगमों को मान्य न करती हो, किन्तु स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति सदृश कतिपय बिन्दुओं को छोड़कर दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा में सिद्धान्तगत विशेष मतभेद नहीं है। जो भेद है वह प्रायः आचारगत ही अधिक है।

जैनागम एवं निगम : दो भिन्न धारायें –

जैन परम्परा का निगमों से सीधा सम्बन्ध खोज पाना कठिन है, क्योंकि दोनों की भिन्न धारायें रही हैं। वेद जहाँ प्रवृत्तिप्रधान हैं वहाँ जैनागम निवृत्तिप्रधान हैं। लौकिक अभ्युदय को धर्म का लक्ष्य बनाना जैनागमों को अभीष्ट नहीं है। वेदों का अध्ययन करने पर विदित होता है कि वहाँ लौकिक अभिलाषाओं की पूर्ति एवं अभ्युदय को भी पदे–पदे महत्त्व दिया गया है। वहाँ शतायु होने, सन्तान के बलिष्ठ होने, गायों के अधिक दूध देने, वनस्पति के प्रचुर मात्राा में उत्पन्न होने आदि लौकिक अभ्युदय की भी कामनायें की गयी हैं। जैनागमों में इस प्रकार की कामनाओं को स्थान नहीं है। वहाँ तो संयम, त्याग एवं तप का विशेष महत्त्व है। गृहस्थ के लिये पाँच अणुव्रतों (प्राणातिपात विरमण, मृषावाद विरमण, अदत्तादान विरमण, मैथुन विरमण एवं परिग्रह–परिमाण) की; साधु–साध्वियों के लिये प×च महाव्रतों (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह) की साधना को सर्वोच्च स्थान है। दूसरे शब्दों में कहें तो वेदों में जैविक मूल्यों की भी

---

[5] आगमों के विवरण हेतु द्रष्टव्य, जिनवाणी, जयपुर, जैनागम विशेषाङ्क, 2002।

प्रधानता है, जबकि जैनागमों में आध्यात्मिक मूल्यों को ही मुख्यता दी गई है। इस प्रकार निगम एवं जैन आगमों की दृष्टि में भेद है।

जैनागम बाह्यशुद्धि की अपेक्षा अन्तःशुद्धि पर बल प्रदान करते हैं। उत्तराध्ययनसूत्रा में धर्म को Ðद, ब्रह्म को शान्तितीर्थ, अपनी निर्दोष एवं प्रसन्न लेश्या को जल का रूपक प्रदान कर उसमें कृत स्नान को विमलता, विशुद्धता एवं शीतलता का कारण तथा दोष–त्याग का साधन निरूपित किया गया है।[6] जैन श्रमण स्नान एवं विभूषा के पूर्णतः त्यागी होते हैं। गृहस्थ के लिये स्नान एवं विभूषा का त्याग नहीं है, किन्तु वह भी चाहे तो परिमाण कर सकता है।

जैनागमों का नैगमिक निरूपण से एक यह भी भेद है कि जैनागमों में प्राणिमात्रा के प्रति संवेदनशीलता को गहरा करने का प्रयत्न किया गया है। वेदों में जहाँ पृथिवी, अप्, अग्नि, वायु एवं वनस्पति की स्तुति में अनेक सूक्त हैं वहाँ जैनागमों में इन्हें एकेन्द्रिय जीवों के रूप में प्रतिपादित कर साधु को इनकी भी हिंसा से बचने का उपदेश दिया गया है। आचारांगसूत्रा में पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रासकायिक जीवों की हिंसा को अहित एवं अबोधि का सूचक माना गया है[7] तथा प्रशंसा, आदर एवं पूजा के लिये भी हिंसा को उचित नहीं माना गया।[8]

जैनागम पशुबलि को तो अनुचित मानते ही हैं, वनस्पति के फूल–पत्तों को तोड़ने में भी हिंसा का भाव प्रतिपादित करते हैं। आचारांगसूत्रा में वनस्पति की मनुष्य से तुलना करते हुये उसमें जीवत्व की सिद्धि की गई है।[9] वेदों में हिंसा के त्याग का उपदेश अवश्य है किन्तु इतने सूक्ष्म स्तर पर नहीं है। जैनागम तो स्वयं हिंसा करने, दूसरों से कराने तथा करने का अनुमोदन करने को भी त्याज्य निरूपित करते हैं।

इस प्रकार निगम एवं जैन आगमों में दृष्टि का भेद है। दोनों में विचारों का आदान–प्रदान दिखाई नहीं देता, अतः अन्तःसम्बन्ध ढूँढना एक कठिन कार्य है तथा यह सीमित क्षेत्रा में ही लागू हो सकता है। दोनों में अन्तःसम्बन्ध का एक कारण यह हो सकता है कि निगम एवं जैन आगम दोनों का जन्म भारत में हुआ। जिस धरा पर वेदों का पाठ होता रहा, वेदों के आधार पर यज्ञ एवं समाज–व्यवस्था का निरूपण हुआ, उसी धरा पर जैन धर्म ने अपने प्राण धारण किये। इस कारण दोनों में वैचारिक सम्बन्ध अवश्य रहा होगा।

निगमों की प्रतिध्वनि : जैनागमों में –

निगमों एवं जैनागमों में प्रतिध्वन्यात्मक अन्तःसम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। वेद में चर्चित कतिपय बिन्दुओं की जैनागमों में भिन्न दृष्टि से चर्चा हुई है। प्रायः वेद से जैनागमों का विरोध नहीं है। यह तथ्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (7वीं शती) विरचित विशेषावश्यक भाष्य में तीर्थङ्कर महावीर के साथ 11 गणधरों के संवाद से विदित होता है। सभी गणधर पहले ब्राह्मण थे, जो विद्वानों के समूह के साथ तीर्थङ्कर महावीर से

[6] उत्तराध्ययनसूत्रा 12.45–47।

[7] तं से अहिताए तं से अबोधीए। – आचारांगसूत्रा 1.1.2–5 उद्देशक में।

[8] इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण– माणण– पूयणाए – आचारांगसूत्रा 1.1.2–5 उद्देशक में।

[9] आचारांगसूत्रा, प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, प×चम उद्देशक।

अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करने आये। प्रभु महावीर ने अपने ज्ञान से उनकी जिज्ञासाओं को जाना तथा उनका समाधान करने हेतु वेद वाक्य उद्धृत करते हुये उनमें दृष्ट पारस्परिक विरोध का निराकरण किया और कहा कि तुम वेद के सही स्वरूप को नहीं जानते हो।[10]

'¬' का प्रयोग, यज्ञ का स्वरूप, ब्राह्मण का लक्षण आदि कतिपय विषय जैनागमों में एवं उत्तरवर्ती साहित्य में प्रतिध्वन्यात्मक रूप में चर्चित हुये हैं।

'¬' का प्रयोग –

वेदों में निरूपित '¬कार' या 'प्रणव' का प्रयोग जैनागमों में तो नहीं,[11] किन्तु उत्तरवर्ती सहित्य में जैनीकरण के साथ प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'अ', 'उ' एवं 'म्' तीन अक्षरों से निर्मित '¬' शब्द ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश का वाचक नहीं, किन्तु प्रसिद्ध 'नमस्कार मन्त्रा' में पठित अरिहन्त, असरीर (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय एवं मुनि (साधु) के प्रथम अक्षरों के आधार पर निर्मित (अ+आ+आ+उ+म्) '¬' को अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं मुनि का वाचक माना गया है। ¬कार का वह पद्य है–

अरिहंता असरीरा, आयरिया तह उवज्झाया मुणिणो।
पदमक्खरणिप्पणो, ¬कारो पंचपरमेट्ठी।।[12]

¬कार के इस प्रयोग के पश्चात् यह जैन परम्परा का भी अंग बन गया। जैन मन्त्राों में '¬' का भूरिशः प्रयोग हुआ है। मन्त्राराजरहस्य के सूरिमन्त्रा में यथा– '¬ नमो जिणाणं।' '¬ नमो ओहिजिणाणं।' '¬ नमो परमोहिजिणाणं।' '¬ नमो अणंतोहिजिणाणं।' आदि। स्तोत्राों में भी ¬ का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, यथा वज्रपंजर स्तोत्रा में–

¬ नमो अरहंताणं, शिरस्कं शिरसि स्थितम्।
¬ नमो सव्वसिद्धाणं, मुखे मुखपरं वरम्।।
¬ नमो आयरियाणं अंगरक्षाऽतिशायिनी।
¬ नमो उवज्झायाणं आयुधं हस्तयोर्दृढम्।।[13]

नमस्कार मन्त्रा के पाँच पदों को भी कुछ लोग '¬' लगाकर उच्चारित करते हैं, यथा– '¬ नमो अरहंताणं।' '¬ नमो सिद्धाणं।' आदि।

यज्ञ का स्वरूप –

जैनदर्शन के मूलस्वरूप में यज्ञ एवं हवन का कोई स्थान नहीं है। भारतीय परम्परा में जो यज्ञ प्रचलन में रहा है, वह जैनागमों को स्वीकार्य नहीं है। यज्ञ में पशुबलि के प्रति तो जैनागमों में विरोध के स्वर मुखरित हुये ही हैं, किन्तु यज्ञ के स्वरूप को भी आध्यात्मिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्रा के 'यज्ञीय' अध्ययन में जयघोष एवं विजयघोष की कथा आती है। ये दोनों भ्राता थे। जयघोष जैन

---

[10] विशेषावश्यकभाष्य, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, भाग–2, गणधरवाद प्रकरण।

[11] जैनागम उत्तराध्ययनसूत्रा की निम्नाङ्किकत गाथा में ओंकार शब्द प्रयुक्त हुआ है–

न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुलचीरेण न तावसो।। – उत्तराध्ययनसूत्रा 25.31।

[12] बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका में उद्धृत प्राचीन गाथा।

[13] वज्रपंचरस्तोत्रा, श्लोक 2–3।

श्रमण बन गया था और विजयघोष पक्का वेदविद् ब्राह्मण था। विजयघोष ने वाराणसी के बाहर उद्यान में एक यज्ञ का आयोजन किया। अकस्मात् संयोग से वहाँ पर ही जयघोष मुनि मासिक उपवास के पारणक के अवसर पर भिक्षा के लिये आ गये। विजयघोष उन्हें अपने भ्राता के रूप में न पहचान सका तथा जैन श्रमण को भिक्षा देने का निषेध करते हुये कहा– ''हे भिक्षो! मैं तुम्हें भिक्षा नहीं दूँगा। तुम अन्यत्रा जाकर याचना करो। यह सर्वकामित अन्न उन्हीं को दिया जायेगा जो वेदज्ञ ब्राह्मण हैं, यज्ञार्थी हैं, ज्योतिषाङ्ग के वेत्ता हैं, धर्मशास्त्रा के पारगामी हैं तथा जो अपनी और दूसरों की आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं।''[14] जयघोषमुनि इस घटना से न तो रुष्ट हुये और न ही हर्षित हुये, किन्तु उन्होंने वेद, यज्ञ आदि के सही स्वरूप को जानने की प्रेरणा की–

न वि जाणासि वेयमुहं, न वि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं।।[15]

न तो तुम वेद के मुख को जानते हो, न यज्ञों के मुख को जानते हो, न नक्षत्राों के मुख को जानते हो और न धर्मों के मुख को जानते हो। जो अपनी आत्मा का एवं दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं, उन्हें भी तुम नहीं जानते हो। वह आगे कहता है– ''वेदों में अग्निहोत्रा की प्रधानता है, यज्ञों का मुख यज्ञार्थी है, नक्षत्राों में चन्द्रमा की प्रधानता है तथा धर्मों में काश्यप महावीर का धर्म प्रमुख है–

अग्गिहुत्तमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसां मुहं।
नक्खत्ताणं मुहं चंदो, धम्माणं कासवो मुहं।।[16]

उत्तराध्ययनसूत्रा के ही 12वें अध्ययन में श्रेष्ठयज्ञ का लक्षण आध्यात्मिक रूप में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है–

छज्जीवकाए असमारभंता, मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थिओ माणमायं, एयं परिन्नाय चरंति दंता।।
सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंरवमाणो।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो, महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं।।[17]

षड्जीवनिकाय (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रासकाय) की हिंसा से विरत, मृषा एवं चौर्य का सेवन नहीं करने वाले तथा परिग्रह, स्त्राी और मान–माया को भलीभाँति जानकर इनका परित्याग कर विचरण करता है तथा जो पाँच (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह) संवरों से सुसंवृत है, इस जन्म में जीवन की आकांक्षा नहीं करता और शरीर के प्रति आसक्ति का त्याग करता है, पवित्रा है तथा

---

[14] समुवट्ठियं तहिं संतं, जायगो पदिसेहए।
न हु दाहामि ते भिक्खं, भिक्खू जायाहि अन्नओ।।
जे य वेयविऊ विप्पा, जन्नट्ठा य जे दिया।
जोइसंगविऊ जे य, जे य धम्माण पारगा।।
ज समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।
तेसिं अन्नमिणं देयं, भो भिक्खू! सव्वकामियं।। – उत्तराध्ययनसूत्रा, अध्ययन 25, गाथा– 6–8।

[15] उत्तराध्ययनसूत्रा, 25.11।

[16] उत्तराध्ययनसूत्रा, 25.30।

[17] उत्तराध्ययनसूत्रा, 12.41–42।

देहभाव का त्याग कर चुका है, ऐसा साधु ही कर्म शत्रुाओं पर विजय पाने वाला श्रेष्ठ यज्ञ करता है।

यज्ञ का स्वरूप वैदिक परम्परा में भिन्न है, उसको करने की विधि भी भिन्न होती है, किन्तु जैन परम्परा के अनुसार 'श्रेष्ठ यज्ञ' क्या हो सकता है उसे 'जन्नसिट्ठं' शब्द से अभिव्यक्त किया गया है। श्रेष्ठ यज्ञ का यह स्वरूप जैन आचारमीमांसा की टकसाल में गढ़ा गया है।

जैनागम बाह्य शुद्धि एवं यज्ञ की अपेक्षा भावशुद्धि एवं सदाचरण को महत्त्व देते हैं तथा कर्म–सिद्धान्त को मुख्यता देते हैं। उत्तराध्ययनसूत्रा में सदाचरण एवं कर्म–सिद्धान्त पर बल देते हुये कहा गया है–

पसुबंधा सव्ववेया, जट्ठं च पावकम्मुणा।
न तं तायंति दुस्सीलं, कम्माणि बलवंति हि।।[18]

पशुवध विधि के निरूपक वेद, पापकर्म से कृत यज्ञ दुश्शील व्यक्ति की रक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि कर्म बलवान् है। कर्म के अनुसार फल प्राप्ति होती है। सत्कर्म करने वाले को शुभ फल एवं पापकर्म करने वाले को अशुभ फल की प्राप्ति होती है।[19] व्यक्ति का भीतरी भाव कैसा है तथा आचरण कैसा है, इस पर ही फल की प्राप्ति निर्भर है।

उत्तराध्ययनसूत्रा के 12वें अध्ययन में यज्ञ का प्रतीकात्मक स्वरूप निरूपित है, जहाँ तप को अग्नि; जीव को अग्निकुण्ड; मन, वचन एवं काया को कुडछी; शरीर को कण्डे; शुभाशुभ कर्म को समिधा; संयम को शान्तिपाठ एवं प्रशस्त चरित्रा को होम कहा है।[20]

उत्तराध्ययनसूत्रा के 14वें इषुकारीय अध्ययन में भृगु राजपुरोहित के पुत्रा श्रमणदीक्षा अंगीकार करने के पूर्व अपने पिता से कहते हैं–

वेया अहीया न भवंति ताणं
भुत्ता दिया निंति तमंतमेणं।
जाया य पुत्ता न हवंति ताणं,
को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं।।[21]

अधीत वेद शरणभूत नहीं होते, ब्राह्मणों को भोजन कराकर भी कोई तमस्तम नरक में जा सकते हैं, पत्नी और पुत्रा कोई शरणभूत नहीं होते हैं, इसलिये हे पितृवर्य! आपके वचन का अनुमोदन नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य है कि व्यक्ति के सद्भाव एवं सदाचरण से ही मुक्ति का पथ प्रशस्त होता है। जैनागमों का प्रतिपादन बाह्य क्रियाकाण्ड की अपेक्षा भावशुद्धि एवं आचरणशुद्धि को महत्त्व प्रदान करता है।

वर्णव्यवस्था एवं ब्राह्मण का स्वरूप –

जैनागम सभी मनुष्यों को समानता एवं स्वतन्त्राता का अधिकार प्रदान करते हैं। विभिन्न वर्णों एवं जातियों के आधार पर मनुष्य की उच्चता और निम्नता को महत्त्व न

---

[18] उत्तराध्ययनसूत्रा, 25.30।
[19] सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवन्ति। दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवन्ति। – औपपातिकसूत्रा, 56।
[20] उत्तराध्ययनसूत्रा, 12.44।
[21] उत्तराध्ययनसूत्रा, 14.12।

देकर वह सबके लिये मोक्ष के द्वार खुले रखता है। ब्राह्मण, क्षत्रिाय, वैश्य एवं शूद्र कोई भी क्यों न हो, मोक्ष–प्राप्ति के लिये संयम अंगीकार कर सकता है, प्रव्रज्या का पथ अपना सकता है। बौद्ध एवं जैन दोनों श्रमणधर्मों में इस दृष्टि से समानता है। हरिकेशीचाण्डाल, अर्जुनमाली जैसे लोग भी जैनधर्म में दीक्षित होकर श्रमण बने। भगवान महावीर ने वर्ण, जाति एवं रंग के स्थान पर गुणों एवं साधना को महत्त्व दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि गुण एवं कर्म के आधार पर जो वर्ण–व्यवस्था स्थापित हुई थी, वह तीर्थङ्कर महावीर के काल में आते–आते जाति– व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो गई थी। उत्तराध्ययनसूत्रा में 'जाइविसेस' (जातिविशेष) शब्द इस तथ्य को इंगित करता है–

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो।
न दीसइ जाइविसेस कोई।।[22]

तप विशेष का प्रभाव साक्षात् दिखाई पड़ता है, जाति विशेष का नहीं। जाति से शूद्र हरिकेशी चाण्डाल ने जैन श्रमण प्रव्रज्या अंगीकार की थी। भिक्षा के लिये वह यज्ञस्थल पर गया तो ब्राह्मणों द्वारा भिक्षा देने का निषेध किया गया। यही नहीं, मुनि को लाठी और कोड़ों से पीटकर भगाया गया, किन्तु मुनि के तप का अद्भुत प्रभाव परिलक्षित हुआ और अन्त में सभी ब्राह्मण इस मुनि के समक्ष नतमस्तक हो गये।[23]

'ब्राह्मण' का स्वरूप क्या हो, इस पर उत्तराध्ययनसूत्रा का 25वाँ अध्ययन प्रकाश डालता है। वहाँ 11 गाथाओं में ब्राह्मण का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, जो श्रमण के स्वरूप के तुल्य ही प्रतीत होता है, यथा– ''जो किसी वस्तु के प्राप्त होने पर न प्रसन्न होते हैं और न उसके चले जाने पर शोक करते हैं, जो आर्यवचन में रमण करते हैं, जो भय, राग–द्वेष से रहित हैं वे ब्राह्मण हैं। जो तपस्वी, दान्त और कृशतनु हैं, जो सुव्रत हैं तथा शान्त–स्वभावी हैं उनको हम ब्राह्मण कहते हैं। जो त्रास और स्थावर प्राणियों की मन, वचन एवं काया से हिंसा नहीं करता, जो क्रोध, हास्य, भय और लोभ से मिथ्यावचन नहीं कहता, उस सत्यवचन के वक्ता को हम ब्राह्मण कहते हैं। जो अदत्तादान का त्यागी है, दिव्य, मानुष और पशु के साथ मैथुन सेवन नहीं करता वह ब्राह्मण है।[24] जैसे जल में उत्पन्न कमल जल के मल से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार जो कामों से अलिप्त है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[25] जो अलोलुप एवं मुधाजीवी है, जिसने घर कांचन का त्याग कर दिया है तथा जो गृहीजनों में आसक्त नहीं है वह ब्राह्मण है।[26]

ब्राह्मण का जो लक्षण उत्तराध्ययनसूत्रा में उपलब्ध है वैसा बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद में भी मिलता है,[27] किन्तु किसी भी वैदिक ग्रन्थ में नहीं मिलता। मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में

---

[22] उत्तराध्ययनसूत्रा, 12.37।
[23] द्रष्टव्य, उत्तराध्ययनसूत्रा, अध्ययन 12।
[24] उत्तराध्ययनसूत्रा, 25.20–26।
[25] जहा पामं जले जायं, नोवलिघइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं।। – उत्तराध्ययनसूत्रा, 25.27।
[26] उत्तराध्ययनसूत्रा, 25.28–29।
[27] धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो

अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन आदि को ही ब्राह्मण का लक्षण कहा गया है, जिसका सम्बन्ध आन्तरिक शुद्धि से उतना नहीं है, जितना बाह्य कर्त्तव्यों से।

उत्तराध्ययनसूत्रा के 12वें अध्ययन में सोमदेव के द्वारा यक्ष को कहा गया है–

कोहो य माणो य वहो य जेसिं
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाई – विज्जाविहूणा
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं।।[28]

जो क्रोध, मान, हिंसा, असत्य, चौर्य और परिग्रह से युक्त हैं वे ब्राह्मण जाति एवं विद्या से हीन हैं। वे ब्राह्मण तो वाणी का भार लिये घूमते हैं। वेदों को पढ़कर भी उनका अर्थ नहीं जानते हैं–

तुब्भेऽथ भो! भारधरा गिराणं,
अट्ठं न जाणह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरंति,
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं।।[29]

इस प्रकार जैनागम उत्तराध्ययनसूत्रा में ब्राह्मण को एक उच्च चरित्रावान् व्यक्ति के रूप में देखने का प्रयत्न किया गया है। वेदों को पढ़कर उनका अर्थ जानने तथा उस अर्थ के अनुरूप आचरण करने की प्रेरणा की गई है।

जैनागमों में वर्ण–व्यवस्था का निरूपण नहीं हुआ है, किन्तु उत्तरवर्ती साहित्य में जैनाचार्यों ने वर्ण–व्यवस्था का भी प्रतिपादन किया है। जिनसेनाचार्य (9वीं शती) के आदिपुराण में उल्लेख है कि आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने क्षत्रिाय, वैश्य एवं शूद्र वर्णों की रचना की तथा उनके पुत्रा भरत ने ब्राह्मण वर्ण की रचना की।[30] इस प्रकार आदि पुराण में चारों वर्णों का उल्लेख है। इसके पश्चात् आशाधर (13वीं शती) के सागारधर्मामृत एवं सोमदेवसूरि के यशस्तिलकचम्पू में भी चार वर्णों का कथन है।

दूसरी ओर 11वीं शती के दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने वेद के मन्त्रा 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।'' का निरसन करते हुये कहा है– ''ब्रह्म ब्राह्मण है या नहीं? यदि ब्रह्म ब्राह्मण नहीं है तो उससे ब्राह्मण का जन्म कैसे हो सकता है? जो मनुष्य नहीं है उससे मनुष्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि ब्रह्म ब्राह्मण है तो वह सभी अङ्गों से ब्राह्मण है या मात्रा मुख से ब्राह्मण है? यदि वह सभी अङ्गों से ब्राह्मण है, विश्व के सभी प्राणी उसके अङ्गों से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण कहे जायेंगे। यदि ब्रह्म मात्रा मुखप्रदेश पर ब्राह्मण है तो उसके शरीर के अन्य अंग शूद्र होने से ब्रह्म के चरणों में ब्राह्मण को अपना सिर नहीं झुकाना चाहिये।''[31]

---

[28] उत्तराध्ययनसूत्रा, 28.14।

[29] उत्तराध्ययनसूत्रा, 28.15।

[30] (1) आदिपुराण, पर्व 16, श्लोक 243–245।
(2) जैनाचार्य जातिवाद का निरसन करते हैं। आशाधर कहते हैं कि शूद्र भी काललब्धि प्राप्त होने पर धर्मलाभ प्राप्त कर सकता है। – सागारधर्मामृत, श्लोक 2।

[31] ब्रह्मप्रभवात्वाऽस्य च तदङ्गत्वे अतिप्रसङ्ग एव, सकलप्राणिनां तत्प्रभवतया ब्राह्मण्यप्रसङ्गात्, कि×च ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति न वा? यदि नास्ति, कथमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः? न हि अमानुष्यात् मनुष्योत्पत्तिः प्रतीता। अथ अस्ति, किं

नैगमिक आगमों का जैन उत्तरवर्ती साहित्य पर प्रभाव –

शैवागमों, वैष्णवागमों, शाक्तागमों अथवा तन्त्राागमों का प्रभाव जैन उत्तरवर्ती साहित्य पर भी दृष्टिगोचर होता है। जैन स्तोत्रा–साहित्य हो अथवा तन्त्रा, मन्त्रा एवं यन्त्रा से सम्बद्ध साहित्य, सर्वत्रा अन्य नैगमिक आगमों अथवा स्वतन्त्रा तन्त्राागमों का प्रभाव दिखाई देता है। जैन स्तोत्रा–साहित्य में जैन–परम्परा के शब्दों के प्रयोग के साथ शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि के पर्यायवाची शब्दों का भी भरपूर प्रयोग हुआ है। हाँ, यह अवश्य है कि जैन स्तोत्राकार आदिनाथ की शिव शब्द से स्तुति करते हुये भी उन्हें बाह्य शक्ति से युक्त प्रतिपादित नहीं करते हैं, वे उसे कल्याणकारी, मंगलकारी अर्थ में ही ग्रहण करते हैं।

यहाँ तीर्थङ्कर के विशेषणरूप में प्रयुक्त वैदिक शब्दों तथा तन्त्रा, मन्त्रा एवं यन्त्रा साहित्य से सम्बद्ध चर्चा की जायेगी।

तीर्थङ्कर के विशेषण : वैदिक परम्परा के शब्द –

प्राकृतभाषा में जहाँ तीर्थङ्करों को लोक का उद्योतकर, धर्मतीर्थ का प्रवर्तक, स्वयम्सम्बुद्ध, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, लोकोत्तम, लोकनाथ, लोकहित, लोकप्रदीप, अभयदाता, चक्षुदाता, मार्गप्रदाता, शरणदाता आदि विशेषणों से व्याख्यायित किया गया है[32] वहाँ आगे चलकर संस्कृत स्तोत्राों में उनके साथ वे सारे विशेषण प्रयुक्त हुये हैं जो ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के साथ प्रयुक्त हुये हैं। विष्णुसहस्रनाम स्तोत्रा की तर्ज पर 'जिनसहस्रनाम स्तोत्रा' की भी रचना हुई है। पूज्यपाद देवनन्दी समाधितन्त्रा में तीर्थङ्कर के विशेषणों का प्रयोग करते हुये कहते हैं–

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरण्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति, परमात्मेश्वरो जिनः।।
जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती, विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रो सुगताय विष्णवे, जिताय तस्मै सकलात्मने नमः।।[33]

इन श्लोकों में प्रयुक्त अव्यय, परात्मा, ईश्वर, शिव, धाता, विष्णु, सकलात्मा आदि शब्द वैदिक परम्परा के साथ जैन परम्परा का तादात्म्य प्रकट करते हैं; किन्तु पूज्यपाद ने इन शब्दों का प्रयोग जैन परम्परा के अनुसार अभिप्राय ग्रहण कर किया है। वहाँ सिद्ध अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते इसलिये अव्यय हैं, वे श्रेष्ठ आत्मा हैं इसलिये परात्मा हैं, वे अनन्तवीर्यवान हैं इसलिये ईश्वर हैं। अरिहन्त कल्याणकारी हैं इसलिये शिव हैं, वे अनन्त ज्ञान–दर्शन आदि गुणों के धारक हैं अतः धाता हैं। उनका स्वरूप व्यापनशील है, उनके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोकव्यापी हो सकते हैं अतः वे विष्णु हैं, वे संसार के आवागमन से मुक्त हैं अतः अपने पूर्णस्वरूप में स्थित होने से सकलात्मा हैं।

सर्वत्रा मुखप्रदेशे एव वा? यदि सर्वत्रा, स एव प्राणिनां भेदाभावानुषङ्गः, अथ मुखप्रदेशे एव, तदान्यत्राास्य शूद्रत्वानुषङ्गात् न विप्राणां तत्पादयोः वन्द्य स्यात्। – न्यायकुमुदचन्द्र, भाग 2, श्लोक 65।

[32] (1) लोगस्स उज्जोयगरे धम्मतित्थयरे जिर्ण। – सामयिक सूत्रा, लोगस्स पाठ।
(2) नमोत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आइगशणं तित्थयराणं सयंसम्बुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं पुरसिवदपुंडदियाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाण। – सामयिकसूत्रा, शक्रस्तव।

[33] समाधितन्त्रा, श्लोक 1 एवं 2।

सिद्धसेनसूरि की वर्द्धमान द्वात्रिंशिका के निम्नाङ्कित श्लोक नैगमिक परम्परा के साथ जैनों के अन्तःसम्बन्ध को द्योतित करते हैं–

त्रिकाल–त्रिलोक–त्रिशक्ति–त्रिसन्ध्य–
त्रिवर्ग–त्रिदेव–त्रिरत्नादिभावैः।
यदुक्ता त्रिपद्येव विश्वानि वव्रे,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः।।[34]
समुत्पत्ति–विध्वंस–नित्यस्वरूपा
यदुत्था त्रिपद्येव लोके विधित्वम्।
हरत्वं हरित्वं प्रपेदे स्वभावैः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः।।[35]

परमात्मा जिनेन्द्र की स्तुति में त्रिकाल, त्रिलोक, त्रिशक्ति, त्रिसन्ध्या, त्रिवर्ग, त्रिदेव, हर, हरि आदि शब्दों का प्रयोग नैगमिक परम्परा के साथ अन्तःसम्बन्ध को स्पष्ट करता है।

जैन परम्परा में रचित स्तोत्राों में प्रायः तीर्थङ्करों की स्तुति प्रमुख रही है। तीर्थङ्कर राग–द्वेष से पूर्णतः रहित होने के साथ स्त्राी एवं शस्त्रा से भी विरहित होते हैं। इसलिये भगवान महावीर की स्तुति में सिद्धसेनसूरि कहते हैं–

न गौरी न गङ्गा न लक्ष्मीर्यदीयं,
वपुर्वा शिवो वाप्युरो वा जगाले।
यमिच्छाविमुक्तं शिवश्रीस्तु भेजे,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः।।[36]
न शूलं न चापं न चन्द्रादि हस्ते
न हास्यं न लास्यं न गीतादि यस्य।
न नेत्रो न गात्रो न वक्त्रो विकारः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः।।[37]

तीर्थङ्कर महावीर के न गौरी है, न गङ्गा है और न कोई लक्ष्मी है जो उनके शरीर, शिर या छाती से आलिङ्गन करती हो। इच्छा से विमुक्त उनको तो शिवश्री वरण करती है, वही परमात्मा जिनेन्द्र मेरे शरण्य हैं। न उनके शूल है, न धनुष है, न हाथ में चक्र आदि हैं, न हास्य हैं, न लास्य है, न गीत आदि हैं, न नेत्रा में विकार है, न शरीर में और न मुख पर। ऐसे परमात्मा जिनेन्द्र ही मेरे शरण्य हैं। इस प्रकार वैदिक परम्परा के शिव से तीर्थङ्कर महावीर का शिव स्वरूप भिन्न है।

अर्हत् तीर्थङ्कर 18 दोषों से रहित होते हैं। वे दोष हैं– 1. जुगुप्सा 2. भय 3. अज्ञान 4. निद्रा 5. अविरति 6. काम 7. हास्य 8. शोक 9. द्वेष 10. मिथ्यात्व 11. राग 12. रति 13. अरति 14. दानान्तराय 15. लाभान्तराय 16. भोगान्तराय 17. उपभोगान्तराय 18. वीर्यान्तराय।[38]

---

[34] वर्द्धमानद्वात्रिंशिका, श्लोक 13।
[35] वर्द्धमानद्वात्रिंशिका, श्लोक 14।
[36] वर्द्धमानद्वात्रिंशिका, श्लोक 10।
[37] वर्द्धमानद्वात्रिंशिका, श्लोक 8।
[38] वर्द्धमानद्वात्रिंशिका, श्लोक 3।

यक्ष–यक्षियों एवं देव–देवियों को स्थान –

जैनागमों में किसी भी तीर्थङ्कर के किसी यक्ष एवं यक्षी का विवेचन नहीं मिलता है, किन्तु उत्तरवर्ती वाङ्मय में प्रत्येक तीर्थङ्कर के साथ यक्ष एवं यक्षी को योजित किया गया है। यह वैदिक प्रभाव तो है ही, नैगमिक आगमों का प्रभाव भी है। प्रत्येक तीर्थङ्कर के यक्ष एवं यक्षियों के नाम इस प्रकार हैं–[39]

तीर्थङ्कर	यक्ष	यक्षी
1. ऋषभदेव	गोमुख	चक्रेश्वरी, अप्रतिचक्रा
2. अजितनाथ	महायक्ष	अजिता, रोहिणी
3. सम्भवनाथ	त्रिामुख	दुरितारी, प्रज्ञप्ति
4. अभिनन्दन	यक्षेश्वर	कालिका, वज्रश्रृंखला
5. सुमतिनाथ	लुम्बरु	महाकाली, पुरुषदत्ता
6. पद्मप्रभ	कुसुम, पुष्प	अच्युता, मानसी
7. सुपार्श्वनाथ	मातंग	शान्ता, काली
8. चन्द्रप्रभ	विजय, श्याम	भृकुटि, ज्वाला, ज्वालिनी
9. सुविधिनाथ (पुष्पदन्त)	अजित, जय	सुतारा, महाकाली
10. शीतलनाथ	ब्रह्म	अशोक, मानवी
11. श्रेयांसनाथ	ईश्वर, यक्षराज	मानवी, श्रीवत्सा, गौरी
12. वासुपूज्य	कुमार	चण्डा, प्रचण्डा, चन्द्रा, गान्धारी
13. विमलनाथ	षण्मुख, चतुर्भुज	विदिता, वैरोटी
14. अनन्तनाथ	पाताल	अंकुशा, अनन्तमती
15. धर्मनाथ	किन्नर	कन्दर्पा, पन्नगा, मानसी
16. शान्तिनाथ	गरुड	निर्वाणी, महामानसी
17. कुंथुनाथ	गन्धर्व	कला
18. अरनाथ	यक्षेन्द्र, यक्षेश्वर	धारणी, तारावती
19. मल्लिनाथ	कुबेर	वैरोट्या, धरणप्रिया, अपराजिता
20. मुनिसुव्रतु	वरुण	नरदत्ता, वरदत्ता, बहुरूपिणी
21. नमिनाथ	भृकुटि	गांधारी, चामुण्डा
22. नेमिनाथ/अरिष्टनेमि	गोमेध	अम्बिका, कुष्माण्डी, कुष्माण्डिनी
23. पार्श्वनाथ	पार्श्व, वामन, धरण	पद्मावती
24. महावीर	मातंग	सिद्धायिका, सिद्धदायिनी

यक्ष–यक्षियों का यह उल्लेख जैन धर्म पर वैदिक आगमों का प्रभाव है। जैनागम समवायांगसूत्रा (चतुर्थ–पंचम शती) में तीर्थङ्करों, उनके माता–पिता, जन्म, नगर, चैत्यवृक्ष आदि का तो उल्लेख है, किन्तु उनके यक्ष–यक्षियों का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। यक्ष–यक्षियों का श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम उल्लेख कहावली (11वीं–12वीं शती) और प्रवचनसारोद्धार (14वीं शती) में प्राप्त होता है। दिगम्बर परम्परा के तिलोयपण्णत्ति (6–7वीं शती) ग्रन्थ में यक्ष–यक्षियों का कथन हुआ है, जिसे विद्वज्जन

[39] इन नामों का संकलन 'जैन धर्म और तान्त्रिाक साधना' डॉ. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के द्वितीय अध्याय पर किया गया है।

प्रक्षिप्त मानते हैं। यक्ष–यक्षियों की मूर्तियों के सम्बन्ध में डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं– ''यद्यपि चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती आदि के अंकन और स्वतन्त्रा मूर्तियाँ लगभग नवीं शताब्दी में मिलने लगती हैं, किन्तु 24 तीर्थङ्करों के 24 यक्षों एवं 24 यक्षियों की स्वतन्त्रा लाक्षणिक विशेषतायें लगभग 11वीं–12वीं शती में ही निर्धारित हुई हैं। यक्ष–यक्षियों की मूर्तियों के लक्षणों का उल्लेख इस काल के त्रिाषष्टिशलाकापुरुष चरित्रा, प्रतिष्ठासारसंग्रह, निर्वाणकलिका आदि कई ग्रन्थों में मिलता है। इनमें यक्ष–यक्षियों की चर्चा जिनशासन रक्षक देवता के रूप में मिलती है।''[40]

जैन परम्परा में ऐहिक अभिलाषा के लिये याचना का निषेध किया गया है, क्योंकि इससे मुक्ति की साधना का पक्ष कमज़ोर पड़ जाता है, किन्तु जिनशासन रक्षक यक्ष–यक्षियों के प्रचलन में आने के पश्चात् ऐहिक कामनाओं की पूर्ति हेतु उनसे याचना भी प्रारम्भ हुई एवं यह माना गया कि अपनी एवं तीर्थङ्करों की पूजा–उपासना से प्रसन्न होकर ये यक्ष–यक्षियाँ श्रद्धालु भक्तों को शारिरिक, भौतिक आदि संकटों से त्रााण तो दिलाती ही हैं, उनकी मनःकामनाओं को भी पूर्ण करती हैं।

जैनागमों में मणिभद्र, पूर्णभद्र, तिन्दुक आदि यक्षों और बहुपुत्रिाका नामक यक्षी का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनकी उपासना को जैनधर्म की ओर से वैधता प्रदान नहीं की गई थी, यक्ष–यक्षियों की पूजा–उपासना को वैधता तभी मिली जब इन्हें तीर्थङ्करों के शासनरक्षक देव–देवियों के रूप में महत्त्व मिला। चौबीस यक्षियों में पद्मावती की सर्वाधिक पूजा होती है। इसके पश्चात् अम्बिका और चक्रेश्वरी का स्थान है। यक्षों में मणिभद्र का सर्वोच्च स्थान है।

इसमें सन्देह नहीं कि जैन परम्परा में यक्षियों की मान्यता पर तन्त्राागमों का प्रभाव है, क्योंकि तान्त्रिाक हिन्दू परम्परा की यक्षियों के अनेक नाम जैन परम्परा में ज्यों के त्यों गृहीत हो गये हैं, यथा चक्रेश्वरी, काली, महाकाली, ज्वालामालिनी, गौरी, गान्धारी, चामुण्डा, अम्बिका, पद्मावती आदि।

जैन परम्परा में श्रुतदेवी के रूप में सरस्वती की उपासना ईसा की प्रथम द्वितीय शती से प्रारम्भ हो गई थी। आदि मंगल के रूप में श्रुतदेवता की स्तुति की जाती रही है तथा जैनाचार्यों ने सरस्वती की स्तुति में अनेक स्तोत्राों की रचना की है। सरस्वती की मूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं, जिनमें मथुरा से प्राप्त मूर्ति को प्रथम शती का माना गया है। मथुरा के अतिरिक्त पल्लू–बीकानेर और लाडनूं की जैन सरस्वती की प्रतिमायें भी अपने शिल्प–सौष्ठव की दृष्टि से प्रसिद्ध हैं।

जैनागमों में देवयोनि के देवों को चार प्रकार का माना गया है– भवतण्ति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। इनके फिर अनेक उपप्रकार हैं, किन्तु ये सब उपास्य देव नहीं हैं। उपासना की दृष्टि से यक्ष–यक्षियों एवं सरस्वती के अतिरिक्त क्षेत्रापालों, दिक्पालों, नवग्रहों, कामदेवों, नारदों और रुद्रों को स्थान मिला है। क्षेत्रापालों के रूप में भैरवों की उपासना आज भी प्रचलित है।

निवृत्तिप्रधान जैनधर्म में यक्ष–यक्षियों एवं देव–देवियों की पूजा–उपासना तन्त्राागमों अथवा वैदिक परम्परा का प्रभाव है। इसे कुछ अंशों में बौद्धों का प्रभाव भी माना जा सकता है, क्योंकि उनमें भी इस प्रकार के देव–देवियों एवं तन्त्राों का विकास

---

[40] जैनधर्म और तान्त्रिाक साधना, वाराणसी, पृ. 22।

हो रहा था। किन्तु वैदिक तन्त्रागमों का प्रभाव ही विशेष ज्ञात होता है, क्योंकि नामों का साम्य वैदिक परम्परा से अधिक प्रतीत होता है।

मन्त्रा, तन्त्रा एवं यन्त्रा प्रयोग –

वेद के पद्यों को मन्त्रा कहा जाता है। इस 'मन्त्रा' शब्द का प्रयोग जैन वाङ्मय में सर्वप्रथम 'नमस्कार सूत्रा' के लिये किया गया। उसे 'नमस्कार मन्त्रा' के रूप में प्रतिष्ठा मिली तथा इस मन्त्रा को सब पापों का नाशक प्रतिपादित किया गया।[41] नमस्कार मन्त्रा में पाँच पदों को नमन है– ''नमो अरहंताणं (अरिहंताणं), नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं।'' इस नमस्कार मन्त्रा की चूलिका में इसका महत्त्व प्रतिपादित है– ''एसो पंच नमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं इवइ मंगलं।'' ये पाँच नमस्कार सब पापों के नाशक हैं तथा सभी मंगलों में प्रधान मंगल है।

नमस्कार मन्त्रा के पश्चात् जैन परम्परा में अनेक मन्त्राों का निर्माण हुआ जिसे नैगमिक एवं तन्त्राागमिक प्रभाव माना जा सकता है। नमस्कार मन्त्रा से सम्बन्धित भी अनेक मन्त्रा हैं। कुछ संक्षिप्त मन्त्रा इस प्रकार हैं– ¬। ¬ अर्हं। नमो असिआउसाय। नमो अर्हत्तसिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यः। सिंहनन्दीं विरचित 'प×चनमस्कृतिदीपक' में नमस्कार मन्त्रा से सम्बद्ध अनेक मन्त्रा हैं, यथा– केवलिविद्या, अङ्गन्यास, अपराजिता विद्या, परमेष्ठिबीजमन्त्रा आदि।

मन्त्राों का प्रयोग 6 कार्यों में होता रहा है– मारण, मोहन, उच्चाटन, आकर्षण, स्तम्भन और वशीकरण। इनमें से जैनाचार्यों ने प्रायः आकर्षण, स्तम्भन और वशीकरण से सम्बद्ध मन्त्राों की ही रचना की है, मारण, मोहन और उच्चाटन से वे दूर ही रहे हैं। जैन परम्परा के मन्त्राों में '¬' का प्रयोग तो हुआ ही है, विभिन्न मातृकापदों अथवा बीजाक्षरों का भी प्रयोग हुआ है, यथा– Ðीं, श्रीं, क्लीं, क्रां, ब्लुं आदि।

जैन परम्परा में प्राकृत एवं संस्कृत दोनों भाषाओं में मन्त्राों की रचना हुई है। प्राकृत मन्त्राों में इष्टदेव के रूप में प×च परमेष्ठी या तीर्थङ्करों को उपास्य बनाया गया है। मन्त्राों की रचना के तीन प्रकार मिलते हैं, यथा– (1) एक वे मन्त्रा जो मूलतः आध्यात्मिक हैं, जिनमें किसी प्रकार की लौकिक कामना की पूर्ति लक्ष्य नहीं है। इस प्रकार के मन्त्राों में मुख्यतः नमस्कारमन्त्रा से सम्बद्ध मन्त्रा आते हैं। (2) दूसरे प्रकार के वे मन्त्रा हैं जिनका मूलस्वरूप तान्त्रिाक परम्परा से गृहीत है, किन्तु वे जैन दृष्टिकोण से विकसित हैं, उदाहरणार्थ–

''¬ नमो अरिहो भगवओ अरिहंत–सिद्ध–आयरिय–उवज्झाय–सव्वसंघ धम्मतित्थपवयणस्स।

¬ नमो भगवइए सुयदेवयाए संतिदेवयाए सव्वदेवयाणं दसण्हं दिसापालाणं प×चण्हं लोकपालाणं ठः ठः स्वाहा।''

(3) तृतीय प्रकार में वे मन्त्रा सम्मिलित हैं जो मूलतः तान्त्रिाक परम्परा के हैं तथा जिन्हें जैनों ने केवल देवता आदि का नाम बदलकर अपना लिया है। उदाहरणार्थ–

---

[41] सव्वपाषप्पणासणो। – नमस्कारमन्त्रा की चूलिका।

''¬ नमो भगवति! अम्बिके! अम्बालिके! यक्षिदेवी! यूं यौं ब्लैं Ðस्वलीं ब्लूं ह सौ र रं र रां रां नित्य क्लिन्ने मदनद्रवे मदनातुरे! Ðीं क्रों अमुकां दाश्याकृष्टिं कुरु कुरु संवौषट्।''[42]

जैन वाङ्मय में मन्त्राों को विषय कर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, यथा– सिंहनन्दि द्वारा प×चनमस्कृतिदीपक, वज्रस्वामी द्वारा वर्धमानविद्या, मन्त्राराजरहस्य, सूरिमन्त्रा, मङ्गलम् आदि।

जैन परम्परा में तन्त्राागमों के प्रभाव से अनेकविध मन्त्राों का समावेश हुआ, यथा– अग्निस्तम्भन मन्त्रा, दुष्टजनस्तम्भनमन्त्रा, शत्राुसेनास्तम्भनमन्त्रा, स्त्राी–आकर्षणसम्बन्धीमन्त्रा, वशीकरणमन्त्रा, सर्पदंशजनितविषापहारमन्त्रा, तस्करभयहरमन्त्रा, बन्दिविमोचनमन्त्रा, व्याल– वृश्चिक–मूषकादिदूरीकरणमन्त्रा, ग्रहशान्तिमन्त्रा, परिवाररक्षामन्त्रा, बुद्धिवर्धकमन्त्रा, ऐश्वर्यदायकमन्त्रा, रोगनिवारकमन्त्रा, भूतप्रेतादिनिवारणमन्त्रा आदि।

इन मन्त्राों में तन्त्रा का प्रयोग साथ ही योजित है। तन्त्रा की दृष्टि से सिंहतिलकसूरि के मन्त्राराजरहस्य, जिनप्रभसूरि के विधिमार्गप्रपा, मल्लिषेणसूरि के भैरवपद्मावतीकल्प और आचार्य कुंथुसागर के लघुविद्यानुवाद का नाम उल्लेखनीय है। तन्त्रा को यदि आध्यात्मिक विकास की साधना माना जाए तो उसका स्वरूप तो आचारांग, सूत्रा वृतांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगमों में समुपलब्ध है, किन्तु जब इसे लौकिक एषणाओं की पूर्ति के साथ जोड़ा जाता हैं तो उवसग्गहरस्तोत्रा, भक्तामरस्तोत्रा, विषापहारस्तोत्रा, ज्वालामालिनीकल्प, निर्वाणकलिका, एकीभावस्तोत्रा, प्रतिष्ठातिलक, सूरिमन्त्राकल्प आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं। नमिऊण स्तोत्रा, नमस्कारमन्त्रास्तव आदि भी तान्त्रिाक स्तोत्रा हैं।

तन्त्रा, मन्त्रा के साथ यन्त्राों का प्रयोग भी जैन परम्परा में पर्याप्त रूप से दृग्गोचर होता है। ज्यामितीय आकृतियों में निर्मित यन्त्राों में विविध मन्त्रा, बीजाक्षर एवं संख्यायें निश्चित क्रम में अंकित रहते हैं। यन्त्राों को लौकिक कामनाओं के लिये या तो धारण किया जाता है, या फिर उनका पूजन किया जाता है। बीजाक्षर एवं मन्त्राों से युक्त यन्त्राों में ऋषिमण्डल, परमेष्ठिविद्यामन्त्रा आदि प्रसिद्ध हैं। मात्रा संख्याओं से युक्त मन्त्राों में नमस्कारमन्त्रा की आनुपूर्वी, पैंसठिया यन्त्रा आदि प्रसिद्ध हैं। जिन्हें धारण किया जाता है वे धारण यन्त्रा तथा जिन्हें पूजा जाता है वे पूजायन्त्रा कहे जाते हैं। भक्तामर स्तोत्रा एवं कल्याणमन्दिरस्तोत्रा के आधार पर अनेक यन्त्रा बने हैं।[43]

जिनेन्द्रवर्णी ने जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में 48 यन्त्राों का संग्रह चित्राों सहित किया है, यथा– अंकुरार्पण यन्त्रा, अग्निमण्डल यन्त्रा, अर्हन्मण्डल यन्त्रा, ऋषिमण्डल यन्त्रा, कर्मदहनयन्त्रा, कुलयन्त्रा, गणधरवलययन्त्रा, चिन्तामणि यन्त्रा आदि।

इस प्रकार मन्त्रा, तन्त्रा एवं यन्त्रा प्रयोग जैन परम्परा में नैगमिक आगमों और तन्त्राागमों की देन है। इनका प्रयोग जैन धर्म–दर्शन की मूल भावना के अनुरूप नहीं है।

---

[42] द्रष्टव्य, जैन धर्म और तान्त्रिाक साधना, वाराणसी, अध्याय 5।

[43] द्रष्टव्य, जैनधर्म और तान्त्रिाक साधना, वाराणसी, अध्याय 7।

भक्ति तत्त्व : स्तोत्रा एवं जप –

कर्मसिद्धान्त में विश्वास रखने वाली जैन परम्परा में सिद्धों एवं तीर्थङ्करों की भक्ति तो प्रारम्भ से रही, किन्तु बाद में स्तोत्रा रचना को जो गति मिली उसमें वैदिक परम्परा के तत्त्वों का भी समावेश होता गया। जैन स्तोत्रा प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में रचे गये। समन्तभद्र (पाँचवीं शती) एवं सिद्धसेनसूरि (पाँचवीं शती) के द्वारा रचित स्तोत्रा प्रारम्भिक संस्कृत स्तोत्रा हैं, जिनमें तीर्थङ्करों की स्तुति के साथ अन्य दर्शनों का निरसन भी है, किन्तु बाद में ऐसे भी स्तोत्रा रचे गये जिनका लौकिक प्रभाव भी स्वीकार किया गया। मानतुंगाचार्य का भक्तामरस्तोत्रा इस कोटि में आता है।

नाम जप, माला जप आदि का प्रयोग भी जैन परम्परा में वैदिक प्रभाव के परिणाम हैं।

ऐसा नहीं है कि जैन परम्परा में भक्ति का समावेश नहीं था। प्राकृत के 'नमोत्थुणं' 'लोगस्स' (चतुर्विंशतिस्तव)[44] आदि पाठ भक्ति को स्पष्ट करते हैं। तथापि इसका प्रयोग सम्यग्दर्शन के स्वरूपर के रूप में वैदिक परम्परा के कारण प्रचलित हुआ।

उपसंहार –

इसमें सन्देह नहीं कि निगम और जैनागम दोनों पृथक् धारायें हैं, तथापि दोनों में कहीं न कहीं अन्तःसम्बन्ध भी प्रकट होता है। '¬' का प्रयोग, यज्ञ का स्वरूप आदि बिन्दुओं ने जैन–चिन्तकों को प्रभावित किया। एक ऐसा जैन आगम भी है, जिसमें नारद, मंखलिपुत्रा, रामपुत्रा, अंबड, द्वीपायन आदि विविध परम्पराओं के ऋषियों के वचन संकलित हैं, इस आगम का नाम है– इसिभासियाइं।[45] यह आगम प्राकृतभाषा में ही है तथा संस्कृत में इसे ऋषिभाषित कहा जाता है। यह आगम निगमों के साथ जैनागमों की निकटता को स्पष्ट करता है।

उत्तराध्ययन सदृश आगमों में नैगमिक परम्परायें प्रतिध्वनित हुई हैं तो उत्तरवर्ती जैन वाङ्मय में उन परम्पराओं को अपने ढाँचे में आत्मसात् भी किया गया है। यन्त्रा, मन्त्रा, तन्त्रा का प्रयोग हो या नाम जप आदि का, ये नैगमिक परम्परायें जैन वाङ्मय में बाद में ही आई हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से देखें तो जैन आगमों ने जो साधना का मार्ग प्रशस्त किया है वह लौकिक अभ्युदय को नहीं, आध्यात्मिक उन्नयन को लक्ष्य करता है। सामाजिक दृष्टि से जैनागमों में वही संस्कृति चित्रित है जिसे हम वैदिक संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति कहते हैं।

इति

---

[44] सामायिक सूत्रा के पाठ।

[45] ISIBHASIYAIM, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad.

कालिदासकृत कुमारसम्भव पर वैदिक परम्परा का प्रभाव

डॉ.इच्छाराम द्विवेदी
अध्यक्ष, पुराणेतिहास विभाग
एकरसानन्द केन्द्रीय म.वि., मैनपुरी।

''सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति''[1] के सिद्धान्तानुसार इस भारतभूमि पर उत्पन्न होने वाली समग्र ज्ञान राशि का उत्स वैदिक वाङ्मय ही रहा है। वेद ज्ञान का अपरपर्याय हैं। ज्ञान का अधिकरण आत्मा है[2], और आत्मतत्त्व का जैसा सूक्ष्म निदर्शन वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध है वह सर्वथा विलक्षण एवं प्रामाणिक है। महाकवि कालिदास कृत कुमारसम्भवम् महाकाव्य भी मात्रा एक पुरावृत्त का वर्णन करने वाली लम्बी कविता भर नहीं है अपितु वह अपने सम्पूर्ण परिवेश में इस सृष्टि रहस्य का, आत्म तत्त्व का एवं समग्र वैश्विक परिकल्पना का यथार्थ प्रस्तुत करने वाला दार्शनिक प्रबन्ध काव्य है। हमें कुमारसम्भव की वैदिक परम्परा का अनुशीलन करने के लिये यह दृष्टि निर्धारित करनी होगी।

अष्टमूर्ति[3], एकादश मूर्ति[4], असंख्यमूर्ति[5], साकार–निराकार विश्वमूर्ति[6], शिव के अनन्य उपासक महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव में यद्यपि शिव–पार्वती के पुत्रा स्कन्द के प्रादुर्भाव को सृष्टि के कल्याणार्थ प्रकट होने के लिये और तारकासुर वध के लिये भले ही कथा का वर्णन किया हो वे कुमारसम्भव में पहले शिव–पार्वती को नायक–नायिका के रूप में उपस्थापित करते हैं, पश्चात् स्कन्द को। शिव एवं उमा का यह दिव्य युगल स्वयं ही वैदिक देव के रूप में आदिकाल से प्रसिद्ध है।

कुमारसम्भव पर वैदिक परम्परा का प्रभाव जानने के लिये हम इसे दो भागों में विभक्त करके देख सकते हैं। प्रथम भाग में कुमारसम्भव की कथावस्तु का बीज रूप से वैदिक वाङ्मय में अनुसन्धान किया जाय और द्वितीय भाग में कुमारसम्भव के पात्रों, घटनाओं, स्थानों एवं दार्शनिक विचारों पर वैदिक ऋचाओं के प्रभाव का आकलन हो। इसके अतिरिक्त एक परिशिष्ट या प्रकीर्ण भाग के रूप में कुमारसम्भव के उन स्थलों का संग्रह भी किया जाय जो सीधे–सीधे वैदिक पृष्ठभूमि से जुड़े हुये हैं। क्रमशः इन तीनों ही भागों की चर्चा इस शोधपत्रा में की जा रही है।

कुमारसम्भवम् की कथावस्तु का वैदिक उत्स

महाकवि कालिदास के वर्णनानुसार तारकासुर के उपद्रव से भीत देवगण ब्रह्मलोक पहुँचे–

तस्मिन्विप्रकृता काले तारकेण दिवौकसः
तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः।।[7]

---

[1] सूक्ति वाक्य।
[2] ज्ञानाधिकरणमात्मा– न्याय सूत्रा।
[3] प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवस्तुवस्ताभिरष्टाभिरीशः।। शाकुन्तलम् 1/1।
[4] नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो., शिवरुद्राध्याय, अ.5।
[5] असंख्याता सहस्राणि रुद्रा अधिभूभ्याम्, रुद्राध्याय 5।
[6] कुमारसंभव 5/72।
[7] कु.सं. 2/1।

भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः
उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिजोत्थितः।।[8]
तदिच्छामो विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये
कर्मबन्धाच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः।।[9]

यहाँ **कर्मबन्धाच्छिदं** पद कालिदास के मनोगत अभिप्राय को इंगित करता है। कर्मबन्धच्छेद ही वैदिक धर्म का मूल वैशिष्ट्य। कर्मबन्धच्छेद के लिये ही अपकर्मरूप तारकासुर वध की आवश्यकता है। कुमारोत्पत्ति का यह औचित्य श्रुति सम्मत है–

''यत्रा बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव। तत्र इन्द्रो
बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु।।[10]

द्युलोक स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और भूलोक स्थानीय देवमण्डल को भयोद्विग्न करने वाला तारकासुर (स्टार वार) तब ही वध्य हो सकता है जब रुद्र के अंशरूप कुमार का प्रादुर्भाव हो। ब्रह्मा ने देवों को उत्तर दिया–

संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः
अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः।।[11]
स हि देव परं ज्योतिस्तमः पारे व्यवस्थितम्
परिच्छिन्न प्रभावर्द्धिर्न मया न च विष्णुना।।[12]
उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः
शंभोर्यतध्वमाक्रष्टुं अयस्कान्तेन चक्षुषा।।[13]
उभे एव क्षमे वोढुमुभयोर्बीजमाहितम्
सा वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम।।[14]

शिव एवं उमा का अंश ही इस विपद् को प्रशमित करेगा। **नीललोहितरेतसः** इस पद का वैदिक स्वरूप द्रष्टव्य है–

''असौ यो बसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः'' [15]
''नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षायमीढुषे''[16]
''नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधःक्षमाचराः''[17]
''उग्रं लौहितेन मित्रां सौव्रत्येन रुद्रं दौर्व्रत्येनेन्द्र प्रकीडेन मरुतो
बलेन साध्यान्प्रमुदा भवस्य कण्ठं रुद्रस्यान्तः पार्श्वं महादेवस्य
यकृच्छर्वस्य वसिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत्''[18]

शिव के इस वैदिक रूप के साथ ही उमा का यह ऋग्वैदिक स्वरूप भी द्रष्टव्य है–

---

[8] कु.सं. 2/32।
[9] कु.सं. 2/51।
[10] शुक्ल यजुर्वेद, रुद्राध्याय 3।
[11] कु.सं. 2/57।
[12] कु.सं. 2/58।
[13] कु.सं. 2/59।
[14] कु.सं. 2/60।
[15] यजुर्वेद 16/7।
[16] यजुर्वेद 16/8।
[17] यजुर्वेद, रुद्राध्याय 5/57।
[18] शुक्लयजुर्वेद, रुद्राध्याय 7/3।

''गौरीर्भिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी
अष्टापदी नगपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्''[19]

यही गौरी यजुर्वेद में–

''भार्यै दावाहारं प्रभाया अग्न्येधं ब्रध्नस्रू विष्टपायाभिषेक्तारं
वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारं देवलोकाय पेशितारं मनुष्यलोकाय
प्रकरितारं सर्वेभ्यो लोकेभ्यो उपसेक्तारमवऋत्यै वधायोपमन्थितारं
मेधाय वासः पल्पूलीं प्रकामाय रजयित्रीम्''[20]

साम में सही उमा–

आ तू औ हो।। आ तू औ हो।। न इन्द्र वृत्राा हान्।। अस्माकमर्द्धम्।
आ गा ही 3।। गा ही 3।। मा हा 20।। मा ही 23।। भि रु 234।।
वा ता।। इमो 6।। हा इ 6।।[21]

के रूप में वर्णित हैं और अथर्व में यही शिवा कहती हैं–

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम्
यं कामये त तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्''[22]

रुद्र और उमा का यह संयोग ही मानव का प्राप्तव्य है। कालिदास की यह उक्ति ध्येय है–

उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः
शंभोर्यतध्वमाव्रष्टुमयस्कान्तेन चक्षुषा।।[23]

वैदिक ऋचा से इस भाव की तुलना देखिये–

सुषारथिरश्वा निवयन्मनुष्यान्नेनीयते भीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठन्यदजिर×चविष्ठन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु''[24]

मन का शिव संकल्प होकर परमतत्त्व में स्थिर होना ही उमा शिव संयोग है। जिससे परमानन्द स्कन्दित होता है जो समस्त तारकासुरीय बल को परास्त करता है–

असौया सेना मरुतः परेषाभब्भ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना
ताङ्गूहत तमसापव्वृतेन यथामी अन्योऽअन्यन्नजानन्।।[25]

इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि कुमारसम्भव का मूल इतिवृत्त वैदिक वाङ्मय से ही उद्धृत किया गया है।

कुमारसम्भव के पात्रा, घटना एवं स्थान की वैदिक पृष्ठभूमि

कुमारसम्भव में वर्णित प्रायशः समस्त पात्राों की परिकल्पना वैदिक वाङ्मय से ही आहृत है। शिव, उमा, ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, काम, स्कन्द, सप्तर्षि, अरुन्धती आदि संज्ञायें शुद्ध रूप से वैदिक हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पात्रा पौराणिक हैं यथा मेना, नारद, सखी

---

[19] ऋग्वेद 1/164/41।
[20] यजुर्वेद 30/12।
[21] सामवेद।
[22] अथर्ववेद वाक्रम्भणी सूक्त।
[23] कु.सं. 2/59।
[24] यजुर्वेद, रुद्राध्याय 1/10।
[25] यजुर्वेद 17/48।

आदि। क्रमशः शिव आदि के कुमारसम्भवगत उल्लेख एवं उनके वैदिक अनुसन्धान पर निर्वचन द्रष्टव्य है–

शिव– कुमारसम्भव में शिव के अनेक नामों एवं रूपों का वर्णन कवि ने उपन्यस्त किया है जो क्रमशः प्रथम सर्ग से लेकर काव्य की समाप्ति तक उपलब्ध है यथा–

1. तदा प्रभृत्येव विमुक्तसंगः **पतिः पशूनाम**परिग्रहोऽभूत्[26]
2. स कृ**त्तिवासा**स्तपसे यतात्मा[27]
3. तत्रााग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तर**मष्टमूर्ति**[28]
4. **गिरि**शमुपचचार प्रत्यहे सा[29]
5. **भूतपतिः** स भूतः[30]
6. **रुद्र**संरम्भभीत्या[31]
7. **पिनाकिना**[32]
8. क्व**नीलकण्ठ**व्रजसीत्यलक्ष्यवाग्[33]
9. **चन्द्रशेखरः**[34]
10. वपु**र्विरूपाक्ष**मलक्ष्यजन्मता **दिगम्बर**त्वेन निवेदितं वसुः
    वरेषु यद् बालमृगाक्षि मृग्यते तदाति किं व्यस्तमपि **त्रिलोचने**[35]
11. स **भीम**रूपः **शिव** इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः **पिनाकिनः**[36]
12. न **विश्वमूर्ते**रवधार्यते वपुः[37]
13. या नः प्रीति**र्विरूपाक्ष**[38]
14. **जम्भभित्**[39]
15. **नीललोहितरेतसः**[40]

उपर्युक्त उद्धरणों में प्रयुक्त शिव के विभिन्न स्वरूपावबोधक नामों के वैदिक आधारों को देखिये–

"याते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी"[41]
यामिषुङ्गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे शिवाङ्गिरित्रातां कुरु मामाहिं सीः[42]
असौ योऽवसर्घति नीलग्रीवो विलोहितः[43]

---

[26] कु.सं 1/53।
[27] कु.सं. 1/54।
[28] कु.सं. 1/57।
[29] कु.सं. 1/60।
[30] कु.सं. 3/40।
[31] कु.सं. 3/44।
[32] कु.सं. 3/74।
[33] कु.सं. 3/75।
[34] कु.सं 5/1।
[35] कु.सं. 5/57।
[36] कु.सं. 5/58।
[37] कु.सं. 5/70।
[38] कु.सं. 5/77।
[39] कु.सं. 5/72।
[40] कु.सं. 6/21, 10/8।
[41] यजुर्वेद 16/49।
[42] यजुर्वेद 16/3।

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षायमीढुषे[44]
नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमो[45]
नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च[46]
नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधः क्षमाचराः[47]
त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्[48]
एतत्ते रुद्रा वसन्तेन परो भूजवतो तीहि। अवतत धन्वा
पिनाकावसः कृतिवासा अहिं सन्नः शिवोतीहि[49]
उग्रं लोहितेन मित्रां सौर्व्रत्येन रुद्रं दौर्व्रत्येनेन्द्रं[50]
तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं[51]
तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं[52]
ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रहणस्पतिः[53]।

इन ऋचाओं में उपलब्ध शिव के विभिन्न सम्बोधन सीधे वैदिक वाङ्मय से उद्धृत हैं। शिव के सगुण स्वरूप की परिकल्पना में यद्यपि कालिदास वैदिक वाङ्मय के बजाय पौराणिक वाङ्मय के अधिक निकट हैं तथापि वैदिक उपमाओं एवं अलंकरणों का भी कवि ने उपयोग किया है यथा–

''स हि देवः परं ज्योतिः तमः पारे व्यवस्थितम्
परिच्छिन्न प्रभावद्धिर्न मया न च विष्णुना।।[54]''
''भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्राम्
कण्ठप्रभासंगविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम्।।[55]''
''मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्तिं हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्
यमक्षरं क्षेत्राविदो विदुस्तमात्मनमात्मन्यवलोकयन्तम्।।''[56]
''वपुर्विरूपाद्वापलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसुः
अकिंचनः सन् प्रभवः स संपदां त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।।[57]
विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिना वापि दुकूलधारि वा
कपालि वा स्थादथवेन्दुशेखरः न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः।।[58]

---

[43] यजुर्वेद 16/7।
[44] यजुर्वेद 16/2।
[45] रुद्राध्याय 5/17।
[46] रुद्राध्याय 5/29।
[47] रुद्राध्याय 5/57।
[48] रुद्राध्याय 6/5।
[49] रुद्राध्याय 6/6।
[50] रुद्राध्याय 7/3।
[51] ऋग्वेद 9/89/5।
[52] यजुर्वेद 25/12।
[53] अथर्ववेद।
[54] कु.सं. 3/58।
[55] कु.सं. 3/46।
[56] कु.सं. 5/50।
[57] कु.सं. 5/77।
[58] कु.सं. 5/72।

छठे सर्ग में सप्तर्षियों द्वारा वर्णित शिव का स्वरूप–

''अणिमादि गुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम्
शब्दमीश्वरमित्युच्चैः सार्धचन्द्रं बिभर्ति यः।।[59]

अथवा–

एकैवमूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमापरत्वम्।
विष्णो हरस्तस्य हरिः कदाचिद् वेधास्तयोस्तावपि धातुराधौ।।[60]

इन समस्त श्लोकों की भाच्छटायें वैदिक वाङ्मय में इतस्ततः बिखरी पड़ी हैं। उदाहरणार्थ ये मंत्रा देखिये–

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवन्तदुसुप्तस्य तथैवैति
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।[61]
अद्ध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्योभिषक् अहींश्च
सर्वान्जम्भयन्त्सवायश्च यातुधान्यो धराचीः परासुव।।[62]

इसके अतिरिक्त रुद्राध्याय का पंचम एवं अष्टम अध्याय विस्तार से शिव की वैदिक विभूतियों की चर्चा करता है। प्रसंगानुकूल विशेषणों का प्रयोग कालिदास ने वेद से ही किया है।

उमा की चर्चा में वैदिक ऋचाओं के प्रयोग पर एक पत्रा इस शोध सत्रा में पढ़ा जा चुका है अतः उसकी चर्चा को पुनरुक्त मानकर छोड़ते हैं।

ब्रह्मा – ब्रह्मा के विषय में कुमारसम्भव में कवि ने कहा है–

नमस्त्रिामूर्त्तये तुभ्यं प्राक्स्रष्टेः केवलात्मने
गुणत्राय विभागाय पश्चाद् भेदमुपेयुषे।।[63]
यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज त्वया
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयते।।[64]
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन्
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः।।[65]

वैदिक ब्रह्मा के स्वरूपावगमन के लिये इन मंत्राों से उपर्युक्त श्लोकों को मिला कर देखें–

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो ग्रध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रामत्येति रेभन्।।[66]
आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जापताम्[67]
ब्रह्मा.....।। ब्राह्मा 3।। ज ज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् विसाइ।
वा।। इ सी।। मतः सुरुयो वेन आवः।।[68]

---

59 कु.सं. 6/75।
60 कु.सं. 7/44।
61 यजुर्वेद, रुद्राध्याय 1/5।
62 यजुर्वेद, रुद्राध्याय 3/5।
63 कु.सं. 2/4।
64 कु.सं. 2/5।
65 कु.सं. 2/6।
66 ऋग्वेद।
67 यजु.।

ब्रह्म यज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् विसीमतेः सुरुचो वेन आवः
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः।।[69]

स्कन्द– स्कन्द या कुमार का तो यह काव्य है ही क्योंकि उन्हीं का जन्म देवों को अभीष्ट है। स्कन्द के स्वरूप की वैदिक अवधारणा चारों संहिताओं में उपलब्ध है–

यदक्रन्दः प्रथमं जायमानः उद्यन् समुद्रादुत वा पुरीषात्
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महिजातन्ते अर्वन्।।[70]
यदक्रन्द्रः प्रथमं जायमानः[71]
आमन्द्रैरिन्द्र हरिभिः याहि मयूररीदिभिः। मा त्वा केचिन्न
ये भुरिन्निपाशिनो इति धन्वेव ता×जहि।।[72]
द्रप्सश्च स्कन्द पृथिवीमनुद्यामिमं च योनिमनुयश्चपूर्वः।
समानं यानि मनुसंचरन्तं द्रप्यं जुहोमि अनुसप्त होत्राः।।[73]

अग्नि– कुमारसम्भव के दशम सर्ग में अग्निदेव की स्तुति करते हुये कवि ने इन्द्र के मुख से कहलवाया है–

प्रीतः स्वाहा स्वधाहन्तकारैः प्रीणयसे स्वयम्
देवान् पितॄन् मनुष्याँस्त्वमेकस्तेषां मुखं यतः।।[74]
त्वयि जुह्वाति होतारो हवींषिध्वस्तकल्मषाः
भु×जन्ति स्वर्गमेकस्त्वं स्वर्गप्राप्तौ हि कारणम्।।[75]

इसी क्रम में दशम सर्ग के 21वें श्लोक तक अग्नि का यह वर्णन अग्निसूक्त के अनुकरण पर उपन्यस्त है। यथा–

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं
होतारं रत्नधातमम्।।[76]
इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रापयतु।[77]
अग्न आया हि वा 5।। इ तया।। गृणानो हव्यदातये[78]
अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्।।[79]

नन्दी– शिव वाहन नन्दी शब्दस्वरूप है और यह वैदिक ही है। कुमारसम्भव में नन्दी का वर्णन करते हुये कहा है–

नन्दी वाम प्रकोष्ठार्पित हेमवेत्राः।।[80]

---

[68] सामवेद।
[69] अथर्ववेद।
[70] ऋग्वेद 1/163/1।
[71] यजुर्वेद 29/12।
[72] सामवेद।
[73] अथर्ववेद।
[74] कु.सं. 10/10।
[75] कु.सं. 10/12।
[76] ऋग्वेद 1/1/1।
[77] यजुर्वेद 1/1।
[78] सामवेद।
[79] ऋग्वेद 1/12/1।
[80] कु.सं. 3/41।

वेद में नन्दी एक ही मंत्रा के रूप में चारों संहिताओं में व्यक्त है–

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो[81]
घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।।
आशुः शिशानो.[82]
आशुः शिशानो.[83]
आशुः शिशानो.[84]

इसी प्रकार अरुन्धती एवं सप्तर्षि भी जो कुमारसम्भव में पठित हैं; वैदिक ही हैं। यज्ञीय कर्म में तत्तन्मंत्राों से इनका आवाहन विहित है।

प्रस्तुत शोधपत्रा के तृतीय प्रकीर्ण भाग के रूप में सम्पूर्ण कुमारसम्भव में उन उन स्थलों का निदर्शन रखा गया है जिन पर प्रत्यक्षतः या परोक्षतः वैदिक वाङ्मय की प्रतिच्छवि उपलब्ध है। इन समस्त स्थलों का क्रमशः वर्णन अधोलिखित है–

1. हिमालय वर्णन 1/16, 1/17[85]
2. ब्रह्मा वर्णन 2/4 से 2/15[86]
3. शिवस्वरूप वर्णन
4. शिव विवाह वर्णन – शिव विवाह की समग्र विधि ही वैदिक है। आज भी इस देश में विवाह संस्कार के समय शिव–पार्वती को ही प्रतिमान के रूप में स्थापित कर वैदिक ऋचाओं का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ यहाँ ध्रुवदर्शन की विधि ही पर्याप्त होगी–

''ध्रुवेण भर्त्राा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य Ðीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच।।''[87]

ध्रुवदर्शन की वैदिक परम्परा विवाह संस्कारोत्तर विधि में अब तक चली आ रही है।

5. अग्निस्तुति – कुमारसंभव की अग्निस्तुति वैदिक पृष्ठभूमि पर ही है।
6. बारहवें सर्ग में श्लोक संख्या 8 से 16 तक उपलब्ध जो शिव का वर्णन है वह पौराणिक वाङ्मय के अधिक निकट है।

इसके अतिरिक्त कुमारसम्भव में वैदिक उपमाओं का प्रयोग भी मिलता है। यथा–

''वृत्रास्य हन्तु कुलिशं कुण्ठिता श्रीवलक्ष्यते''[88]
''निवात निष्कम्यमिव प्रतीतम्''[89]
''उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान् इवारणिम्''[90]
''वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूप सत्क्रिया''[91]

---

[81] ऋग्वेद 1/103/1।
[82] यजुर्वेद 17/33।
[83] सामवेद।
[84] अथर्ववेद।
[85] कु.सं. 1/16,17।
[86] कु.सं. 2/4से15।
[87] कु.सं. 7/85।
[88] कु.सं. 2/20।
[89] कु.सं. 3/48।
[90] कु.सं. 6/28।
[91] कु.सं. 5/73।

इन स्थलों से महाकवि की वैदिक वाङ्मय एवं वैदिक क्रियाओं से अभिज्ञता परिलक्षित होती है।

प्रस्तुत शोध पत्रा का संक्षेपेण निष्कर्ष यही है कि महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव महाकाव्य का इतिवृत्त वैदिक वाङ्मय से ही स्वीकार किया है। पौराणिक आख्यानों से उसमें मानवीयकरण की सम्भावनायें जोड़ी गईं और अपने कविकर्म कौशल से उसे रमणीयता प्रदान करके इस विलक्षण महाकाव्य की रचना की है। किसी भी कवि के लिये पूर्व परम्पराओं, इतिवृत्तों एवं वाङ्मय की अभिज्ञता आवश्यक होती है। वैदिक पृष्ठभूमि के बिना शिवतत्त्वरहस्यावगम की कल्पना करना ही दुष्कर होता। शिव तत्त्व पारमार्थिक या व्यावहारिक कोई भी रूप हो, उसे जानने के लिये वैदिक पृष्ठभूमि का अन्वेषण करना ही एकमेन विकल्प है। और महाकवि ने इसी बिन्दु को संस्पर्श करते हुए शिव–पार्वती–स्कन्द के इस मनोहर काव्य की रचना करके स्वेष्टदेव को शब्द पुष्पा×जलि अर्पित की है।

तन्मेः मनः शिवसंकल्पमस्तु।।[92]

इति

---

[92] रुद्राध्याय।

कश्मीर की निगमागम परम्परा

ऋषन भारद्वाज (ऋषभ)
शोध–छात्रा
संस्कृत विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि., सागर (म.प्र.)

भारतीय धर्म एवं संस्कृति निगमागममूलक है। ये दोनों जिस प्रकार निगम (वेद) का आश्रयण करते हैं, उसी प्रकार आगम (तन्त्रा) का भी अवलम्बन करते हैं। वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट ज्ञान का क्रियात्मक रूप या वैधानिक आचार आगमों का प्रधान विषय है, इसलिये वेद ज्ञान प्रधान और आगम क्रिया प्रधान कहे गये हैं। इन दोनों के अन्तःसम्बन्ध पर विद्वानों में पहले से ही चर्चायें होती रही हैं और उनमें काफी मतभेद रहे हैं। इनकी परम्परा और इनके सम्बन्ध को पूर्णरूपेण स्पष्ट करना हमारी राष्ट्रीय संगोष्ठी का लक्ष्य है।

निगमागम परम्परा पर जब हम विचार करते हैं तब सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित अनेक परम्परायें हमारे सामने आती हैं। उन परम्पराओं में से कश्मीर की निगमागम परम्परा अति प्राचीन एवं समृद्ध रही है जो शैवागम परम्परा नाम से जानी जाती है। इसके कश्मीर शैवदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन, त्रिाकदर्शन, स्पन्दशास्त्रा एवं षडर्थक्रम आदि नाम भी प्रचलित हैं।

शैवागमों का समय उतना ही प्राचीन है जितना सच्चिदानन्द परम शिव। क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध शिव है जो अनादि एवं नित्य है। शैवागमों से तात्पर्य उन ग्रन्थों से है जिनके आदि प्रवर्तक भगवान शिव हैं। इस संदर्भ में आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं–

''आगमस्तु अनवच्छिन्नप्रकाशपरमार्थः''

अर्थात् 'आगम अनवच्छिन्न माहेश्वर प्रकारश परमार्थ है।' शास्त्राों में कहा भी गया है कि आगम सभी विद्याओं की जन्मभूमि है। यह भगवान् शिव के मुख से निःसृत है–

''आगमं शिव वक्त्रोभ्यो, गतं च गिरिजाश्रुतौ।
तदागम इति प्रोक्तं, शास्त्रां परमपावनम्।।''

शैवागमों की संख्या 64 बतलाई गयी है, लेकिन ग्रन्थ तो क्या इनके 64 नाम भी प्राप्त नहीं होते हैं। श्रीकुमार दास ने 28 आगमों की गणना की है जो दक्षिण भारत में प्रचलित हैं। यह 10 द्वैतवादी और 18 द्वैताद्वैत धारा के माने जाते हैं। इनकी गणना इस प्रकार की गयी है–

''कामिनं योगजं चिन्त्यं कारणं त्वजितं परम्।
दीप्तं सूक्ष्म सहस्रं च अंशुमान सुप्रभेदकम्।।
विजयं चैव निःश्वासं स्वयम्भुवमतः परम्।
वीरं च रौरवं चैव मकुटं विगलं तथा।।
चन्द्रज्ञानं बिम्बं च प्रोठीतं ललितं तथा।
सिद्धसन्तानसर्वोक्तं पारमेश्वरमेव च।।
किरणं वातुलं चैव त्वष्टाविंशतिसंहिताः।

मूलभेदमिति ख्यातसंख्यमुपभेदकम्।।

हमें यहाँ कश्मीर शैवागमों की संक्षिप्त चर्चा करना है, जिनका निकटतम सम्बन्ध त्रिाक संप्रदाय के आगमों से है। सम्प्रति त्रिाक संप्रदाय के आगमों में उपलब्ध मालिनीविजयोत्तरतन्त्रा, स्वच्छन्दतन्त्रा, रुद्रयामलतन्त्रा, नेत्रातन्त्रा, मृगेन्द्रतन्त्रा, विज्ञानभैरव, परात्रिांशका और शिवसूत्रा आदि नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा तीन और आगमों के नाम मिलते हैं – नैश्वासतन्त्रा, आनन्दभैरव, उच्छुष्मभैरव। लेकिन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, दुर्भाग्यवश काल–कवलित हो चुके हैं। उपलब्ध आगमों में नेत्रातन्त्रा तथा मृगेन्द्रतन्त्रा को कामिक आगम का भेद माना गया है जो द्वैत संप्रदाय से संबंधित है। विज्ञानभैरव और परात्रिांशिका को रुद्रयामल का भाग माना गया है। इन सभी में मालिनीविजयोत्तर तन्त्रा को सबसे प्रधान एवं प्राचीन स्वीकार किया गया है, जो त्रिाक दर्शन का मूलाधार है।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्रा – मालिनीविजयोत्तरतन्त्रा के संदर्भ में ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि इसका मूल आधार ग्रन्थ सिद्धयोगीश्वरी तन्त्रा है जिसे शतकोटी प्रवस्तर कहा गया है। इसकी विशालता को देखकर मानव कल्याणार्थ ऋषियों ने तीन बार संक्षिप्त किया। प्रथम संक्षिप्त तीन करोड़ श्लोकों का, दूसरा संक्षिप्त 12 हजार श्लोकों का था, किन्तु ये दोनों उपलब्ध नही हैं। आज हमें उपलब्ध है तीसरा संक्षेप, जो मालिनीविजयोत्तरतन्त्रा से जाना जाता है, जिसका आचार्य अभिनवगुप्त ने ''श्रीपूर्व शास्त्रा'' नाम से उल्लेख किया है। डॉ. मधुसूदन कौल ने इसे सिद्धयोगेश्वरी तन्त्रा का उत्तरभाग माना है।

वर्णमाला के माला शब्द से इसका नाम मालिनी पड़ा है, और वर्ण–विज्ञान के क्रमानुसार पूर्वमालिनी तथा उत्तरमालिनी नाम से दो भागों में विभाजित होकर यह लोक में प्रचलित हुआ। पूर्वमालिनी में वर्णों की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और ध्वनि विचार से संस्कृत की वर्णमाला के शुद्ध वैज्ञानिक उदयक्रम का विवेचन किया गया है और उत्तरमालिनी में स्वरों, व्य×जनों के क्रमहीन रूप का वर्णन किया गया है। वर्णों के 'न' आदि में और 'फ' अन्त में होने से उत्तरमालिनी को नादिफान्ता भी कहा जाता है।[1] श्री वी. एन. पण्डित ने संभावना व्यक्त की है, संभवतः यह तन्त्रा किसी मालिनीविजय नामक तन्त्रा का उत्तर भाग है, किन्तु आचार्य जयरथ तन्त्राालोक की व्याख्या में इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं–

''श्रीमालिनीविजयोत्तरे इति नादिफान्ताया मालिन्या विजयेन सर्वोत्कर्षेण उत्तरति सर्वस्रोतोभ्यः प्लवते सारभूतत्वात् सर्वशास्त्रााणाम्।''[2]

अर्थात् नकार से लेकर फकार पर्यन्त बीजमन्त्रा रूपिणी मालिनी शक्ति पर विजय प्राप्त करके साधक समस्त बन्धन धाराओं को पार कर लेता है। अतः यह तन्त्रा मालिनी विजयोत्तर तन्त्रा कहलाता है, क्योंकि यह समस्त शास्त्राों का सारभूत है।

मालिनी विजयोत्तर तन्त्रा में 23 अधिकार हैं जिनमें व्याप्ति, मन्त्रोाद्धार, भुवनध्वा, देहमार्ग, मुद्रा, समय, क्रियादीक्षा, अभिषेक, भूतजय, तन्मात्राधारणा, अक्षधारणा, परमविद्या, कुलचक्र, मन्त्रानिर्णय, चन्द्राकृष्टि, सूर्याकृष्टि आदि विषयों का सांगोपांग विवेचन किया

---

[1] परमार्थसार, डॉ. कमला द्विवेदी।

[2] तन्त्राालोक विवेक – जयरथ, 1/7।

गया है। ज्ञान–विज्ञान की दृष्टि से इसके विषय को महत्त्वपूर्ण जानकर आचार्य अभिनवगुप्त ने इस पर मालिनीविजयवार्तिक नाम की टीका लिखकर उसके गुह्य रहस्यों को उजागर किया है और उन्हीं विषयों को विशिष्ट रूप से नयी काव्य शैली में निबद्ध कर ''तन्त्राालोक'' की रचना की, जो आचार्य अभिनवगुप्त की विलक्षण प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है।

''तन्त्राालोक'' आचार्य अभिनवगुप्त की प्रथम मौलिक रचना है। यह विशाल ग्रन्थ अनुष्टुप छन्द में निबद्ध है। इसमें 14 आह्निक और 3059 श्लोक हैं। इसमें उन्होंने भारतीय दर्शन, संप्रदाय एवं मुख्य रूप से शैव दर्शन की क्रम, कुल, प्रत्याभिज्ञादि समस्त शाखाओं के सिद्धान्तों एवं कर्मकाण्ड का निरूपण किया है। तन्त्राालोक की प्रशंसा में उन्होंने स्वयं लिखा है कि मेरे द्वारा यह शास्त्रा केवल प्राचीन ग्रन्थों की विवेचना मात्रा नहीं है अपितु यह मेरे अनुभव से भी सिद्ध है। मैंने इस ग्रन्थ का निर्माण परमशिव से साक्षात्कार होने के उपरान्त ही आरम्भ किया था।[3]

तन्त्राालोक मुख्यतः कर्मकाण्ड प्रधान है जिसमें कश्मीर शैवदर्शन की कुल शाखा के आधार पर वर्णन किया गया है। तन्त्राालोक में कर्मकाण्ड की प्रधानता होने का कारण उनका कर्मकाण्ड का महत्त्व जानना है, क्योंकि कर्मकाण्ड लोक–जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। किसी भी धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों से संगति रखते हुये उनके द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति कराने वाला व्यावहारिक मार्ग कर्मकाण्ड है। कर्मकाण्ड से ही धर्म–दर्शन लोकजीवन में प्रतिष्ठित रहते हैं। धर्म एवं कर्मकाण्ड अविच्छेद्य है। कोई भी धर्म कर्मकाण्ड बिना विकसित नहीं हो सकता है।

तन्त्राालोक में कर्मकाण्ड के साथ–साथ पुरुषार्थ चतुष्टय को भी स्थान दिया गया है। वे मुक्ति के लिये अनुपाय, शाम्भव, आणव, एवं शाक्त आदि चार उपायों का वर्णन करते हैं। इनमें से किसी एक उपाय के द्वारा साधक इच्छित भोग या मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। ये उपाय संविदुत्कर्ष के क्रम से संबंधित है। सर्वाधिक संकुचित संविद वाले व्यक्ति के लिये क्रिया प्रधान आणवोपाय का उपदेश किया गया है। अन्य उपायों से अथवा स्वतः संविदुत्कर्ष को प्राप्त व्यक्ति शाम्भोपाय अथवा अनुपाय के माध्यम से सीधे परसंवित् समावेश को प्राप्त कर सकते हैं। इनका निरूपण ही तन्त्राालोक का मुख्य विषय है। जयरथ लिखते हैं–

''तन्त्रााणां पारमेश्वराणाम् आलोक एव आलोकः, तानि आलोकयति प्रकाशयति इति वा''

इस संदर्भ में पारमार्थिक विश्रांति के लिये गोपनीयता की रक्षा की दृष्टि से तन्त्राालोक का यह वर्णन आचार्य अभिनवगुप्त की दर्शन एवं साहित्य की मिश्रित साधना एवं ज्ञान–गांभीर्य के ज्वलन्त उदाहरणरूप में देखा जा सकता है–

''चतुष्षड्द्विर्द्विगुणित चक्रषट्क समुज्जवला।
तटस्थं विचारयेत खं खं खस्थं खस्थेन संविशेत।।
खं खं व्यक्ता खमारुह्य खस्थं खं चोच्चरेदिति।
खमध्यास्याधिकारेण पदस्थाश्चिन्मरीचयः।।''[4]

---

[3] तन्त्राालोक, 1/16।
[4] तन्त्राालोक, 5–90–91।

'ख' वर्ण की 10 बार आवृत्ति होने से अनुप्रास की छटा विकसित होकर काव्य माधुर्य को बढ़ा रही है। यहाँ भाव एवं धाम का भी यमकपूर्वक प्रयोग किया गया है। कर्मकाण्ड परक इस दार्शनिक ग्रन्थ में साहित्याचार्य की उपमा का उदाहरण भी द्रष्टव्य है–

''केतकीकुसुमसौरभे भृशं भृङ्गं एव रसिको न मक्षिका।
भैरवीयपरमाद्वयार्यने कोऽपि रज्यति महेशचोदितः।।''[5]

स्वच्छन्दतन्त्रा – मालिनीविजयोत्तरतन्त्रा के बाद दूसरा ग्रन्थ स्वच्छन्दतन्त्रा प्राप्त होता है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ छह खण्डों में विभाजित है। इसमें 15 अध्याय हैं जिनमें मन्त्राोद्धार, अर्चा, अधिवास, दीक्षा, अभिषेक, तत्त्वादिदीक्षा, प×चप्रवण, काल, अशक, भुवनाध्व, दीक्षाविधि, मुद्रा तथा द्युम्भका आदि विषयों का सविस्तार विवेचन किया गया है। मालिनीतन्त्रा की भाँति इस तन्त्रा में भैरव–भैरवी संवाद होने से ग्रन्थ विशालता को प्राप्त हुआ है। यह अद्वैत तन्त्राों में प्रधान माना गया है और इसमें भोग एवं मोक्ष को प्रदान करने वाले तत्त्वों का निरूपण है। साथ ही पौराणिक शैली में अनेक स्थानों पर आख्यानों, भूभागों, नदियों, पर्वतों, दीपों का वर्णन भी मिलता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने तन्त्राालोक में इसका स्वच्छन्द शास्त्रा नाम से उल्लेख किया है। तन्त्राालोक के छठे आह्निक की विषय–वस्तु इसी आगम पर आधारित है। देशाध्वा तथा कालाध्वा की विषय–वस्तु इसी पर आधारित है। आचार्य क्षेमराज ने इस तन्त्रा पर उद्योत टीका लिखकर गुह्य रहस्यों को उद्घाटित किया है जिससे इसकी भाषा एवं विषय वस्तु अधिक रूप से स्पष्ट है। अन्य तन्त्राों की अपेक्षा यह समझने में भी अति सरल है।

स्वच्छन्द तन्त्रा के संदर्भ में जयरथ ने लिखा है कि यह तन्त्रा आठ यामल तन्त्राों में से एक है। यह माना जाता है कि यह सिद्धयोगीश्वरी मत की भाँति एक करोड़ श्लोकों में निबद्ध था। अधुना उपलभ्यमान स्वच्छ तन्त्रा इसका संक्षिप्त रूप है। इसे शिव के दक्षिण मुख से उद्भूत माना जाता है एवं कुल संप्रदाय का प्रमाणभूत ग्रन्थ भी स्वीकार किया गया है। अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर यह तन्त्रा अन्य तन्त्राों से अधिक अर्वाचीन मानना चाहिये। क्योंकि, इसमें लकुलीश, पाशुपतदर्शन, कामशास्त्रा, चित्राशास्त्रा, वाल्मीकि एवं व्यास के संदर्भ मिलते है। इस दृष्टि से इसे द्वितीय शती पूर्व का नहीं माना जा सकता है। डॉ. के. सी. पाण्डेय ने इसका समय द्वितीय शती स्वीकार किया है।[6]

रुद्रयामलतन्त्रा – ''रुद्रयामलतन्त्रा'' 64 आगमों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। क्योंकि विज्ञानभैरव, परात्रिंशिका, भवानीसहस्रनाम आदि अनेक आगम ग्रन्थ इसके खण्ड माने जाते हैं। सम्प्रति यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त जी ने तन्त्राालोक में ब्रह्मयामल नाम से इसके उद्धरण दिये हैं। यह तन्त्रा रुद्रतन्त्रा से भिन्न है। इसका सार परात्रिंशिका में पद्यबद्ध प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मृति ग्रन्थमाला–2 से प्रकाशित ''तन्त्राालोक में कर्मकाण्ड'' नामक पुस्तक की भूमिका में डॉ. बीना अग्रवाल ने लिखा है कि रुद्रयामलतन्त्रा वामकेशरी मत में प्राचीन है क्योंकि स्वयं वामकेशरी मत 121 में कहा

---

[5] तन्त्राालोक, 4/276।

[6] परमार्थसार, डॉ. कमला द्विवेदी, भूमिका, पृष्ठ 24, 25।

गया है कि करशुद्ध्यादि विद्याओं का उपदेश मैंने पहले रुद्रयामलतन्त्रा में दे दिया है। यह ज्ञानार्णव तन्त्रा से भी प्राचीन है जिसमें इसका सन्दर्भ दिया गया है। यह कौल सम्प्रदाय का आधारभूत ग्रन्थ है। इसके अन्तिम भाग 'परात्रिंशिका' पर सोमानन्द एवं आचार्य अभिनवगुप्त ने टीकायें लिखी हैं, जो इस समय कुल सम्प्रदाय सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है।

नेत्रातन्त्रा – भगवान शिव के तृतीय नेत्रा 'मृत्युंजित' का प्रमुख रूप से वर्णन होने से इस तन्त्रा का नाम नेत्रातन्त्रा पड़ा है। यह स्वच्छन्द तन्त्रा का उत्तरकालीन तन्त्रा है इसलिये इसे प्राचीन तन्त्राों में अर्वाचीन माना गया है। यह तन्त्रा द्वैतपरक था लेकिन क्षेमराज ने इस पर अद्वैतपरक व्याख्या लिखकर अद्वैत सिद्धान्तों में इसका समाहार कर दिया है। इसमें प्रधानतया मृत्यु को जीतने की साधना का गहन उपदेश दिया गया है। यह साधना शिव के तृतीय नेत्रा के लिये होती है जिसे प्रातिम नेत्रा और मृत्युंजित कहा गया है। स्वयं नेत्रातन्त्रा में कहा गया है कि शिव के तृतीय नेत्रा के स्वरूप का वर्णन होने से तथा मुक्ति तक ले जाने के कारण और संसार के प्राण के कारण इसे नेत्रातन्त्रा कहा गया है।[7]

मृगेन्द्रतन्त्रा – मृगेन्द्र का अर्थ नरसिंह होता है। शर्व द्वारा उक्त आगम के श्रोता नरसिंह के होने से इसका नाम मृगेन्द्र पड़ा है। अन्यागमों की तरह इसमें विद्या, क्रिया, चर्या, तथा योग नामक चार पाद हैं। प्रथम में बारह, द्वितीय में आठ, और तृतीय, चतुर्थ पटल में एक–एक पटल हैं जिनमें पशुपति, पशु (जीव) तथा चतुर्विध पाश का निरूपण किया गया है। पाशुपत के वर्णन से प्रतीत होता है कि यह प्राचीन है, लेकिन कामिक आगम का इसमें वर्णन होने से इसका समय बाद का भी माना गया है। मृगेन्द्रतन्त्रा स्वयं इस बात को स्वीकार करता है कि इसमें कामिकागम के अर्थों का संग्रह है–

शिवोठीर्णमिदं ज्ञानं मन्त्रामन्त्रोश्वरेश्वरैः।
कामदत्वात् कामिकेति प्रगीतं वहुविस्तरं।।
तेभ्योऽवगम्य दृग्योनिर्ज्वालालीढस्मरद्रमः।
ददावुमापतिर्मध्यं सहस्रैर्भवसम्मितैः।।
तत्राापि विस्तरं हित्वा सूत्रौः सारार्थवाचकैः।
वदये निराकुलं ज्ञानं तदुक्तैरैव भूयसा।।[8]

कुछ लोग द्वैतप्रधान होने से इसकी गणना कश्मीर शैवागमों में नहीं करते हैं। परंतु आचार्य अभिनवगुप्त ने मृगेन्द्रतन्त्रा तथा इसके मूल कामिकागम का अनेकत्रा उपयोग किया है और इस पर भट्टनारायण की यत्रा–तत्रा अद्वैतपरक व्याख्या मिलती है। अतः शैव–दर्शन के आधारभूत आगमों में इसका ग्रहण होना चाहिये।

विज्ञानभैरव – विज्ञानभैरव रुद्रयामलतन्त्रा का अंतिम भाग माना गया है। इसका उद्भव अन्य तन्त्राों की तरह ही भैरव–देवी संवाद में हुआ है। इसे रुद्रयामलतन्त्रा का सार एवं सर्वशक्तियों के प्रभेदों का हृदय कहा गया है। इसमें शैवागम के ज्ञान तथा योग पक्षों की व्याख्या की गई है। परमतत्त्व निरूपण के बाद उसे प्राप्त करने के लिये उपायों के रूप में 112 धारणाओं का विवेचन है।

---

[7] नेत्रातन्त्रा – 1/12।
[8] विद्यापाद, श्लो. 27/29।

विज्ञानभैरव पर अनेक टीकायें प्राप्त होती है जिनमें आनन्दभट्ट की कौमुदी टीका सम्पूर्ण विज्ञानभैरव पर है। आचार्य क्षेमराज की 24वीं कारिका तक टीका प्राप्त होती है और शिवोपाध्याय की 25वीं कारिका तक। सभी कारिकाओं में इसका मूलपाठ 101 तथा 103 कारिकाओं का स्वीकार किया गया है।

तन्त्राराजतन्त्रा – तन्त्राराजतन्त्रा सभी तन्त्रा ग्रन्थों में अर्वाचीन है। समस्त 64 आगमों के बाद इसकी रचना हुई है। इसमें नित्याषोडशिकार्णव सम्बन्धी 9 तन्त्राों के तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिससे इसकी और ही अर्वाचीनता सिद्ध हो जाती है। आद्यगुरु शङ्कराचार्य ने इसे 65वें तन्त्रा के रूप में स्वीकार किया है।[9]

कुलार्णवतन्त्रा – कुलार्णवतन्त्रा के नाम से ही यह स्पष्ट होता है कि यह कौल सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। इसकी रचना रुद्रयामलतन्त्रा से बाद की है, क्योंकि इसका प्रारंभ नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण से होता है जबकि अन्य तन्त्रा भैरव–भैरवी के संवाद से शुरु होते हैं। वामकेश्वर तन्त्रा के एक अङ्ग नित्याषोडशिकार्णव के टीकाकार भास्करराय के अनुसार वामकेशरी तन्त्रा में इसका सन्दर्भ पाया जाता है। इस दृष्टि से कुलार्णवतन्त्रा वामकेशरी तन्त्रा से पूर्वकालीन एवं रुद्रयामलतन्त्रा से पश्चातकालीन है।[10]

परात्रिंशिका विवरण – परात्रिंशिका का सही नाम 'परात्रीशिका' है जिसका अर्थ इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया है, और जो इन तीन (त्रि) की स्वामिनी (ईशिका) परासंवित है, वह 'परात्रीशिका' है। परन्तु ध्वनि साम्यता के कारण परात्रिंशिका नाम अधिक प्रचलित है। इसे रुद्रयामलतन्त्रा का अंतिम भाग माना गया है। इस पर सोमानन्द, भवभूति, कल्याण, अभिनवगुप्त, लक्ष्मीराम, लासक आदि विद्वानों ने टीकायें लिखी हैं। इसी को त्रिकसूत्रा, त्रिकागम, अनुत्तरसूत्रा भी कहा गया है–

''श्रीसोमानन्दकल्याणभवभूतिपुरोगमाः।
तथाहि त्रिशिकाशास्त्राविवृतौ तेऽभ्यधुर्बधाः।।''

कालिकुलागम – कालिकुल आगम को डॉ. के. सी. पाण्डे ने 'सेमी–आगमिक' ('मउप. ।हउपब) कहा है। आचार्य अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में ''त्रिककालिकुलादिके.......।'' कहकर उल्लेख किया है। कुल सम्प्रदाय की गुरु–परम्परा, पर्व, दिवसों आदि प्रसङ्गों में भी इसका उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शैवग्रन्थों की परम्परा में ऐसे अनेक ग्रन्थ रहो होंगे जिनकी चर्चा आचार्य अभिनवगुप्त जैसे विद्वान् ही कर पाये हैं, अन्य विद्वान नहीं।[11]

शैवसूत्रा – शैवागमों की परम्परा में ''शिवसूत्रा'' अंतिम आगम माने जा सकते हैं। शैवसूत्राों का कश्मीर शैवागमों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। नवमीं शताब्दी के बाद जो भी कश्मीर में शैवसाहित्य लिखा गया है उसका मूल आधार शैवसूत्रा है। वास्तविक रूप से देखा जाये तो शैवदर्शन का व्यवस्थित प्रवर्तन नवमीं शताब्दी से हुआ है और आचार्य परम्परा विकसित हुई। किन्तु जिन आचार्यों की परम्परा के आधार पर शैवदर्शन का निर्माण हुआ है, वह अत्यन्त प्राचीन है, यह शैवाचार्य परम्परा से स्पष्ट होती है–

श्रीकण्ठं वसुमन्तं सोमानन्दं तथोत्पलचार्यम्।

---

[9] तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड, डॉ. वीणा अग्रवाल, भूमिका, पृ. 7।
[10] अभिनवगुप्त, पृ. 44, 45।
[11] तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड, डॉ. वीणा अग्रवाल, पृ. 7।

लक्ष्मणाभिनवगुप्तं वन्दे श्री क्षेमराज च।।

इस परम्परा में सर्वप्रथम 'श्रीकण्ठ' अर्थात् शिव है जिन्होंने इस दिशा में सर्वप्रथम वसुगुप्त को दीक्षित किया था। आचार्य अभिनवगुप्त भी तन्त्राालोक में गुरु–परम्परा में श्रीकण्ठ को प्रथम आचार्य मानते हैं। भट्टकल्लट ने स्पन्दकारिकावृत्ति के अन्त में लिखा कि नवमी शताब्दी में भगवान शिव ने शैवदर्शन के अद्वैतवादी परम्परा को प्रचलित करने के लिये वसुगुप्त को स्वप्न में शैवसूत्राों का उपदेश दिया। इस कथानक को आचार्य राजानक, रामकण्ठ, उत्पल वैष्णव और भट्टकल्लट पूर्णरूपेण स्वीकारते हैं। शैवसूत्राों के सम्बन्ध में एक और कथानक प्रचलित है कि आचार्य वसुगुप्त को स्वप्न में एक शिलालेख की जानकारी प्राप्त हुई। तदन्तर उन्होंने उन्हें उद्घाटित कर कल्लट आदि शिष्यों में प्रचारित किया। यह शिलालेख श्रीनगर में महादेवगिरि में आज भी स्थित है। इस परम्परा को आचार्य क्षेमराज एवं वरदराज पूर्णरूपेण स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से आचार्य वसुगुप्त प्रथम शैवाचार्यों में प्रथम हैं। उनकी शिष्य परम्परा का उल्लेख इस प्रकार मिलता है– वसुगुप्त – कल्लट – प्रद्युम्नभट्ट – प्रजार्जुन – महादेवभट्ट – श्रीकण्ठभट्ट – भास्करकण्ठ। इनका समय सर्वसम्मति से 9वीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित किया गया है। इनका प्रथम शिष्य कल्लट है जो अवन्तिवर्मा (855–63 ई.) का समकालीन रहा है। शैवसूत्राों की संख्या 77 है। इन्हें स्पन्दशास्त्रा के नाम से भी जाना जाता है। यह सूत्रा ही वसुगुप्त की रचना है। इनके अतिरिक्त और कोई भी रचना इनकी प्राप्त नहीं होती है। 77 शिवसूत्राों को तीन भागों में विभाजित किया गया है – आणव उपाय, शाक्त उपाय तथा शाम्भव उपाय। सूत्राों की व्यवस्थित व्याख्या भट्टभास्कर, क्षेमराज तथा वरदराज ने की है। शिवसूत्राों पर क्षेमराज की शिवसूत्राविमर्शिनी नाम की टीका शैव–दर्शन के तत्त्वों को भली–भाँति उजागर करती है।

शिवसूत्राों में भगवान शिव को परमतत्त्व के रूप में निरूपित किया गया है। वह शिव अपनी स्वतन्त्रा शक्ति, माया, प्रकृति तथा पृथ्वी– इन चार अण्डों में सृष्टि का निर्माण करता है। उस परमतत्त्व में 36 तत्त्वों का जगत प्रतिष्ठित है –

''षट्त्रिंशदात्मजगत'' तस्य भावः तत्त्वम्।

इनको तत्त्व इसलिये कहा गया है क्योंकि ये उसी शिव की अभिव्यक्ति है और उसी का व्यापन है ''तननाद् व्याप्तृभावतः''। 36 तत्त्वों में शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, कला, विद्या, राग, नियति – ये दस तत्त्व कश्मीर शैवाचार्यों के मौलिक चिन्तन का परिणाम हैं। 11वां तत्त्व वेदान्त में वर्णित माया है और शेष 25 तत्त्व सांख्यदर्शन से लिये गये हैं।

इस प्रकार से भगवान शिव के मुख से निःसृत होकर या भैरव–भैरवी संवाद से प्रकट होकर कश्मीर की आगम परम्परा विकसित हुई। सिद्धयोगेश्वरी तन्त्रा के संक्षिप्त भाग मालिनीविजयोत्तरतन्त्रा से लेकर शैव–सूत्राों तक अजस्र रूप में प्रवाहित होती रही। जो भी आगमशास्त्रा लिखे गये हैं वे अपने पूर्ववर्ती आगम शास्त्राों को आधार मानकर लिखे गये। आगमशास्त्राों का क्रमशः संक्षिप्तीकरण होता गया और आगे चलकर उन गूढ़ शास्त्राों को सूत्रा रूप में निबद्ध कर दिया गया होगा, ऐसा मेरा अनुमान है। यहीं पर आगम परम्परा अवरुद्ध हुई और अंतिम आगम 'शिव–सूत्राों' पर पुनः विस्तार से

टीकायें, व्याख्यायें प्रारम्भ हुईं। इसी समय को शैव–दर्शन का उषःकाल कहा जा सकता है। इस समय को 9वीं शताब्दी स्वीकार किया गया है।

यहाँ से शैवदर्शन का विकास प्रारम्भ हुआ और शैवाचार्यों ने अपनी साधना से शैवदर्शन के साहित्य को विशालता प्रदान की। शैवाचार्यों की परम्परा इस प्रकार मिलती है–

''श्रीकण्ठं वसुमन्तं सोमानन्दं तथोत्पलचार्यम्।
लक्ष्मणाभिनवगुप्तं वन्दे श्री क्षेमराजं च।।''

वसुगुप्त ने शिवसूत्रों की दीक्षा सर्वप्रथम भट्टकल्लट को दी है। भट्टकल्लट ने सूत्रों के रहस्योद्घाटन हेतु 51 कारिकाओं में 'स्पन्दकारिका' नामक लघु ग्रन्थ की रचना की। सोमानन्द ने शिवदृष्टि की रचना कर अद्वितीय कार्य किया। इनके पहले शैवदर्शन का कोई लिखित ग्रन्थ नहीं था। उन्होंने इस ग्रन्थ को लिखकर शैवदर्शन के लिये नया मार्ग प्रशस्त किया। उत्पल आचार्य लोकोत्तर प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे। उनके द्वारा अनेक शैव ग्रन्थों की रचना की गई है जिनमें 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' प्रत्यभिज्ञादर्शन का किंवा प्रवर्तक ग्रन्थ है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' पर आचार्य अभिवनगुप्त की लघु और बृहती वृत्तियों ने शैवदर्शन को सरल, सरस एवं बोधगम्य बना दिया है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनीविवृत्ति' के बिना शैवदर्शन को नहीं समझा जा सकता है। अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज ने इस परम्परा को बढ़ाते हुये प्रत्यभिज्ञाहृदय आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। क्षेमराज के बाद योगराज, महेश्वरानन्द, मधुराज, वरदराज, जयरथ, रामकण्ठ, नारायणकण्ठ, श्रीकण्ठसूरि, शितिकण्ठ, साहिव कौल, शिवोपाध्याय, भास्करकण्ठ आदि आचार्यों ने अपनी–अपनी तपस्या से अनेक शैव ग्रन्थों को लिखा और टीकायें, व्याख्यायें की। आज हमारे सामने शैवदर्शन का इतना विशाल वाङ्मय उपस्थित है जिसे एक सम्पूर्ण जीवन में भी नहीं पढ़ा जा सकता है, ऐसा मेरा मानना है। यदि शैवदर्शन के प्रकाण्ड आचार्य नवजीवन रस्तोगी जैसे गुरु मिल जायें, तभी इस गूढ़ार्थ से परिपूर्ण दर्शन को समझा जा सकता है और अपने जीवन को कृतार्थ किया जा सकता है।

सन्दर्भ–ग्रन्थ

1. सर्वदर्शन संग्रह, उमाशंकर ऋषि।
2. भारतीय दर्शन, पद्यभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय।
3. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीविवृत्ति, आचार्य कृष्णानन्द सागर।
4. प्रत्यभिज्ञाहृदय, डॉ. शिवशंकर अवस्थी।
5. पराप्रवेशिका, स्वामी सम्पूर्णानन्द सरस्वती।
6. परात्रिंशिका, नीलकण्ठदास।
7. स्पन्दकारिका, नीलकण्ठ गुड्डू।
8. स्पन्दसन्दोह, पं. मधुसूदन कोल।
9. महार्थम×जरी, मुकुन्दराम शास्त्री।
10. शैवमत, डॉ. यदुवंशी पटना।
11. परमार्थसार, डॉ. कमला द्विवेदी।

12. तन्त्राालोक में कर्मकाण्ड, डॉ. वीणा अग्रवाल।
13. तत्त्वप्रकाश, डॉ. कामेश्वरनाथ मिश्र।

इति

श्रीः

काश्मीर शिवाद्वयवाद की दृष्टि में श्रुति

नवजीवन रस्तोगी
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ।

[1]वस्तुतः लेख का शीर्षक होना चाहिये था ''काश्मीर शिवाद्वयवाद में वैदिकी श्रुति'' क्योंकि संपूर्ण भारतीय चिन्तन परम्परा में आगम और निगम शब्दों का प्रयोग ही श्रुतियों की द्विविध परिकल्पना का प्रतीक है। निगम और आगम परम्परा के लेखकों में उभयत्रा यह चेतना रही है और इसकी प्रखरतम अभिव्यक्ति हुई है *मनुस्मृति* के टीकाकार कुल्लूक भट्ट में – *'द्विधा च श्रुतिः वैदिकी तान्त्रिाकी च।'* समग्र भारतीय चिन्तन का मूल श्रुति में ढूँढा गया है और सामान्येन श्रुति का वाच्य रहा है वेद। इस सामान्य अभिधेयता के बावजूद भी भारती विद्या के अधीतियों में श्रुति के द्वैविध्य पर मतैक्य बढ़ता जा रहा है। परन्तु कठिनाई यह है कि निगम और आगम परम्परा के अंतःसम्बन्ध को लेकर भारतीय मनीषा अभी मझधार में है। मोटे तौर पर इस सम्बन्ध को लेकर तीन दृष्टियाँ मिलती हैं–

1. आगम परम्परा निगम परम्परा की विरोधी है। विद्वानों का एक वर्ग इनकी उत्पत्ति भी भिन्न स्रोतों से मानता है।
2. दोनों परम्परायें एक दूसरे की पूरक हैं।
3. निगम आगम दोनों परम्पराओं का यद्यपि मूल उत्स एक है परन्तु विकास दो भिन्न धाराओं में हुआ है। विकास के इस क्रम में दोनों परम्परायें भिन्न व्यक्तित्व अर्जित करती हैं। व्यक्तित्व के इस वैभिन्न्य को अंकित करने के लिये वैदिक परम्परा और तान्त्रिाक परम्परा जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

दूसरी और तीसरी दृष्टियों में पारस्परिक कार्यकारण भाव जैसा कोई सम्बन्ध है, यह कहना कठिन है। परन्तु निष्कर्षगत तथ्यों के आधार पर दोनों में निकटता है और इन्हें प्रकृत सन्दर्भ में एक कोटि में डाला जा सकता है। इन दोनों दृष्टियों का उन्मेष दो प्रकार से होता है–

1. <u>एकपक्षीय</u>। (अ) निगम परम्परा का उपजीव्य है। इसे शिथिल रूप से सामान्य अवधारणा कहा जा सकता है। वर्तमान शीर्षक समस्या को इसी दृष्टि से आंकता प्रतीत होता है। (आ) आगम परम्परा निगम परम्परा का उपजीव्य है। यह मत तान्त्रिाक विचारकों में बहुमान्य है।
2. <u>द्विपक्षीय</u>। दोनों परम्पराओं ने एक दूसरे को बहुत गहरे तक प्रभावित और रूपायित किया है। भारतीय मनीषा की आधारभूत परम्पराओं के मध्य होने वाली

---

[1] यह लेख पूज्य गुरुवर्य प्रो. कान्तिचन्द्र पांडेय की पुण्य स्मृति को समर्पित है। आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व उन्होंने *The Journal of Oriental Research* (अंक 13, वर्ष 1939) के लिये एक लेख लिखा था– "The Meaning of shruti in the Philosophical Literature of Kashmir " दुर्भाग्य से इस लेख की प्रति महत्प्रयास के बाद भी उपलब्ध नहीं हो सकी।

इस व्यापक आदान–प्रदान की प्रक्रिया में पुराण और लोक को भी शामिल किया जा सकता है। परन्तु यदि अध्ययन के क्षेत्रा को आगम और निगम तक ही सीमित रखा जाय तो भी इस विनिमय, अंतरवलम्बन, परस्परानुकूलन और परिहार के दूरगामी परिणाम हुये हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में काश्मीर शिवाद्वयवाद में श्रुति को लेकर जो दृष्टि उभरती है, उसके संबंध में दो बिन्दुओं से विचार किया जा सकता है। एक, सम्प्रदाय का अपना मन्तव्य क्या है और दूसरे, वस्तुस्थिति क्या है और सम्प्रदाय का अपना मन्तव्य वस्तुस्थिति से कितना समंजस है। इन दोनों ही बिन्दुओं के आकलन में तीन प्रकार की आधारभूत सामग्री का उपयोग किया गया है–

1. साम्प्रदायिक वाङ्मय श्रुति के संबंध में शब्दशः क्या कहता है
2. वैदिक श्रुति और आचार के संबंध में सम्प्रदाय का अर्थशः मन्तव्य क्या है। इन दोनों प्रसंगों में *तन्त्रालोक* हमारा प्रमुख उपजीव्य ग्रन्थ है, और
3. वैदिक परम्परा के सर्वग्राह्य ग्रन्थों, आचारों तथा मूल्यों के प्रति सम्प्रदाय में उपलब्ध व्यावहारिक निगमन का क्या रूप है। इन सभी के अध्ययन में सिद्धान्त –व्यवहार–समन्वयात्मक पद्धति का आश्रय लेने की चेष्टा की गयी है।

साम्प्रदायिक अभिधेय की चर्चा करते समय हम देखते हैं कि आगम, त०त्या श्रुति, के संबंध में अभिनवगुप्त ने *तन्त्रालोक* और *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी* में, विशेषकर पैंतीसवें (35वें) आह्निक और क्रियाधिकार के तीसरे आह्निक में क्रमशः विस्तार से चर्चा की है। यह चर्चा स्वरूपमूलक है। पर इस लेख के कलेवर में सबको समेटना कठिन है। यहाँ पर यह देखना प्रासंगिक होगा कि श्रुति और आगम के पारस्पर्य को लेकर यहाँ पर जो चिन्तन हुआ है उसमें चार सोपान हैं। ये सोपान समान्तर हैं या इनका विकास एक आनुपूर्वी में हुआ है, कहना कठिन है। फिर भी प्रतिपादन की सुविधा की दृष्टि से हम इनका आनुपूर्वी में आकलन करेंगे। ये चार सोपान हैं–

1. आगम और निगम में अभेदन
2. आगम और निगम की समकक्ष्यता
3. आगम की निगम से उत्कृष्टता, और
4. आगम और निगम के भेद का परिहार तथा युक्त्यनुकूलन करते हुये समन्वयन

आगम और निगम में अभेद की परिकल्पना आगम की स्वरूप–परिकल्पना पर आश्रित है। आगम को पर्यायशः दो प्रकार से प्रस्तुत किया गया है, यह मानते हुये कि तत्त्वतः दोनों का फलितार्थ एक ही है। सारे व्यवहार की कारणभूत पुरातनी प्रसिद्धि आगम है।[2] या प्रसिद्धि पर आश्रित सारा पुरातन व्यवहार आगम है।[3] यह प्रसिद्धि परम्परा और शास्त्रा इन दो रूपों में पनपती है। प्रसिद्धि और कुछ नहीं अविगीत, स्वावमर्शात्मक प्रतीति है जो प्रमाता का स्वभाव है। वस्तुतः यह प्रमाता सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त

---

[2] न च चेतःप्रसत्त्यैव सर्वो व्यवहृतिक्रमः।।
मूलं प्रसिद्धिस्तन्मानं सर्वत्रौवेति गृह्यताम्। –तं. 35/10ब–11अ

[3] इह तावत्समस्तोऽयं व्यवहारः पुरातनः।।
प्रसिद्धिमनुसन्धाय सैव चागम उच्यते। –वही, 1ब–2अ

और कोई नहीं है क्योंकि लोक और काल में अनुन्मूलित व्यवहार का आश्रय और मूल वही हो सकता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार आचार, लिपिबद्ध/शब्दबद्ध ग्रन्थ, शास्त्रा और आप्तोपदेश ये सभी उस प्रसिद्धि के विभिन्न रूप हैं। उनके अनुसार आगम की संभावना चार प्रकार से की जा सकती है[4]–

1. प्रतिभा रूप में
2. निबद्ध प्रसिद्धि के रूप में
3. अनिबद्ध प्रसिद्धि के रूप में, और
4. आप्तोपदेश के रूप में

पहले तीन साक्षात् प्रसिद्धि रूप हैं जबकि चतुर्थ एक विशेष माध्यम या प्रमाणान्तर से प्रसिद्धि को ग्रहण करता है। *प्रतिभा* का अर्थ है अक्रम अनन्त संवित् या पारमेश्वरी वाक् जिसे विमर्श, शाब्दी भावना या शब्दन कहते हैं और जिसमें सृष्टि की समग्र संभावनायें बीज रूप में अवस्थित हैं। यही मूल उत्स है।[5] यह परविमर्श बाहर फैलता हुआ शास्त्रा, परम्परा और व्यवहार का रूप धारण करता है। विशिष्ट वाक्य–रचना में गुंथकर यह प्रसिद्धि *निबद्धप्रसिद्धि* कहलाती है। आगम की निरुक्ति करते हुये अभिनव कहते हैं ''दृढविमर्शरूपं शब्दनमागमः, आ समन्तादर्थं गमयति''[6]। प्रतीति का प्ररूढ होना ही उसकी दृढता है, जिसके हृदय जो सिद्धान्त पैठ गया वही उसके लिये आगम है। *दृढनिरूढि* की आगमरूपता के लिये अभिनव को बल मिलता है स्वयं श्रुति से– ***'यश्चैनमेवं वेद' 'विद्वान् यजेत'*** इत्यादि श्रुति–वाक्यों से।[7] यही शब्दन–रूप विमर्श ही मुख्यतया आगम है और उसके लिये उपयोगी शब्दराशि भी उपचार से आगम कहलाती है।[8] *अनिबद्ध प्रसिद्धि* दिखाई पड़ती है महाजनों के अनुष्ठान के आकार में। महाजन कहते हैं संबद्ध क्षेत्रा में प्रसिद्धि को अर्जित करने वाला वर्ग जैसे वेदानुष्ठान में छान्दस लोग या वैष्णव अनुष्ठानों में भागवत समुदाय।[9] आगम की चौथी विधा या प्रकारता है *आप्तोपदेश*। प्रसिद्धि मूल है आप्तोपदेश का भी। परम्परा में आगत, किन्तु कालवशात् ओझल, वस्तु को प्राप्त करने के कारण आप्त 'आप्त' कहलाता है। सामान्य का विशेष के माध्यम से पुनरुद्धार होने के कारण यह प्रसिद्धि में परिनिष्ठित होने पर भी अपने आविष्कार के लिये साधनान्तर की *अपेक्षा* करता है। उस आप्त को भी यह परम्परा या ख्याति अपने से पूर्व स्रोत से मिली है अतः यहाँ पर भी प्रसिद्धि की अनादिता पारमेश्वर विमर्शात्मक आगम में ही पर्यवसित होती है। इससे यह सहज ही प्रतिफलित होता है

---

[4] एवं प्रतिभारूपेण निबद्धानिबद्धप्रसिद्धिद्वयात्मना च त्रिविधमागमं प्रदर्श्य रूपान्तरमपि अस्य दर्शयति 'अन्योऽपि' इति। एतासु तिसृषु प्रमाणान्तरमूलत्वं न अन्वेष्यम्, आप्तवादे तु तदन्वेषणीयमेव। –*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी*, भाग 2, पृ. 102। और भी देखिये *मन्त्रा और मातृकाओं का रहस्य*, पृ. 1–8।

[5] शास्त्रां नाम........ शुद्धविमर्शनिःष्यन्दवात्तत्त्वपरमार्थब्रह्मस्वभावम् स्वतन्त्राप्रसरतया आन्तरात् बोधस्वभावात् बहिः प्रसरपर्यन्तं, तच्च सुसूक्ष्मप्रणवादिरूपात् व्यवहारप्रसिद्धप्रवादपरम्परापर्यन्तम्। –*गीतार्थसंग्रह*, भाग 1, पृ.247।

[6] *ई.प्र.वि.वि.*, भा.3, पृ.85।

[7] वहीं पर।

[8] ततः स एव विमर्श आगम उच्येत मुख्यतया, तदुपयोगितया तु उपचारेण तज्जनकोऽपि शब्दराशिः। –*वही*, पृ.84।

[9] निबद्धः इति विशिष्टवाक्यरचनाभिः, अनिबद्धस्तु यत्रा तथा नास्ति। महाजनो यत्रा कर्तव्ये यः प्रसिद्धिं यातो वर्गः स एव मन्तव्यः........यथा वेदानुष्ठाने छान्दसः, वैष्णवानुष्ठाने भागवताख्यः।.........अनिबद्धापि इति महाजनानुष्ठानशेषतयैव स्थिता। –*वहीं*, पृ.100–102।

कि आगम चाहे लोकवचनरूप हो, चाहे शास्त्रावचनरूप, चाहे नियत कर्ता की अपेक्षा से प्रवृत्त हो उसकी विमर्शात्मक प्रसिद्धिरूपता अप्रतिहत रहती है।[10]

प्रश्न है कि इस सारी चर्चा में श्रुति का क्या रूप उभरता है। वेद अविगीत प्रसिद्धि रूप विमर्श है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में वेद, शैव और वैष्णव इन सभी आगमों का जो अर्थ विमर्श का विषय बनता हुआ परम्परागत अनुष्ठान से प्रसिद्ध है उसे 'यह इसने कहा है, इसने उत्पन्न किया है या इस समय से प्रारंभ होकर चला आ रहा है' इन रूपों में बांधा नहीं जा सकता। इसलिये वह अनवच्छिन्न प्रकाशात्मक विमर्शधर्मा परमेश्वर से अभिन्न है। कठ, भृगु, मतंग, नारद आदि ऋषियों के द्वारा उस अनादि प्रसिद्ध अनुष्ठान का ही संक्षेप और विस्तार से वाक्य योजना के द्वारा उपनिबंधन होता है।[11] इस प्रकार से वेद प्रातिभ विमर्शरूप है जो अनिबद्ध प्रसिद्धि के रूप में अनादि काल से चला आ रहा है और महाजनों के अनुष्ठान के आधार पर वाक्य रचना से निबद्ध होकर निबद्धप्रसिद्धिरूप लिपिबद्ध शब्दबद्ध शास्त्रा के रूप में उपचरित होता है। प्रश्न उठता है कि यदि पारमेश्वरी वाक् ही प्रमाण है तो वेद के प्रामाण्य का क्या अर्थ है। इसका उत्तर देते हुये अभिनव कवितामय हो उठते हैं। *स्तवचिन्तामणि*[12] को उद्धृत करते हुये वे कहते हैं कि वेदात्मिका आज्ञा या नियोगरूप वेदार्थ नियोक्ता आज्ञाता के होने पर ही संभव है इसलिये इच्छादि शक्तित्रितय वेदत्रायी के रूप में उन्मिषित होता है और उससे परे है परशक्तिरूप आनन्दधाम। समग्र शक्तियों की प्रतिष्ठारूप परम शक्ति भी जहाँ विश्रान्त होती है उस परमेश्वर को प्रमाण है। अभिनवगुप्त का मानना है कि वेदों का इस प्रकार का स्वरूपाकलन उस पारमेश्वरी आज्ञा के अत्यन्त गंभीर सौन्दर्य के अतिशय को प्रकट करता हुआ अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत आदि सहस्रों विषयों से वेदरूप आगम की सगर्भता को बताता हुआ सारे आगमों से उसकी असंवादिता को रेखांकित करता है। यही कारण है कि वेद को सारे ज्ञान का आकर कहा गया है।[13] इसी बात को वह *तंत्रालोक* में दुहराते हैं[14] और उनके सुयोग्य टीकाकार जयरथ स्पष्ट घोषणा करते हैं कि वैदिक विधि और शैवी विधि का प्रामाण्य अशंकनीय है क्योंकि परमेश्वर दोनों का उपदेष्टा है।[15]

वेदों की मान्य स्थिति – वेद अपौरुषेय हैं, अकर्तृक हैं– को लेकर शिवाद्वयवादगत प्रतिपादन एक अंतर उत्पन्न करता है। भर्तृहरि आगमों को अकर्तृक नहीं मानते। वह तो

---

[10] अतएव तदा लोकवचनरूपो वा शास्त्रावचनरूपो वा नियताकारं कर्तारं च अपेक्ष्य अपि वर्तमानोऽपि शङ्कनीय एव मूलभूततत्प्रमाणसंभवे विचिकित्साभावागत्। –*वही*, पृ.102।

[11] एनमागममविगीतप्रसिद्धिलक्षणं विभजति 'तथाहि' इति। वेदशैववैष्णवादीनां हि योऽर्थो विमृश्यमानः परम्परानुष्ठानेन (परस्परा?) प्रसिद्धिः, सोऽनेनैव उक्तः, अनेनैव उत्पादितः अमुष्मात् कालादारभ्यैव प्रवृत्त इति न अवच्छेदभागीति अनवच्छिन्नप्रकाशधर्मो विमर्शात्मा परमेश्वर एवेति अनादित्वमेव तत्रा। कठादिभिर्भार्गवमतङ्गादिभिर्नारदप्रभृतिभिश्च प्रसिद्धानुष्ठानमनादि एव निबध्यते यतःशब्दनं समासव्यासोपकल्पितवाक्ययोजनाभिः। –*वही*, पृ.92।

[12] नुमस्त्वामृग्यजुःसाम्नां शुक्रतःपरतः परम्।
यस्य वेदात्मिकाज्ञेयमहो गम्भीरसुन्दरी।। –*स्तवचिन्तामणि* 69, क्षेमराज की *विवृति* भी देखिये, पृ.77–78।

[13] यदि पारमेश्वरी वाक् प्रमाणं, तदा वेदः कथम्। आह ईश्वराज्ञा हि। ....अहो इति गांभीर्यस्य सौन्दर्यस्य च अतिशयं द्योतयन्नध्यात्माधिभूताधिदेवादिविषयार्थसहस्रगर्भत्वमाचक्षाणः सर्वागमाविसंवादितां वेदागमस्य आह। यथोक्तं.......
सर्वज्ञाननमयो हि सः। –*ई.प्र.वि.वि.*, भा.2, पृ.98–99।

[14] इत्थमस्तु तथाप्येषा चोदनैव शिवोदिता। –*तं.* 4–229अ।

[15] ततश्च वैदिक्यामस्यां वा चोदनायां साक्षात्कृतनिखिलधर्मा सकलजगदुद्दिधीर्षापर एक एव परमेश्वरः प्रामाण्यनिबन्धनं, तदुपदिष्टत्वात् सर्वशास्त्राणाम्। –*तं.वि.*, भा.3, पृ. 867–68।

यहाँ तक कहते हैं कि कोई भी आगमों को निष्कर्तृक नहीं मानता।[16] आगमों के बीज वेदत्रायी अर्थात् निगम में स्थित है इसलिये आगमों का भी प्रवाहानादित्व प्रमाणित है। परन्तु शैवों की स्थिति भिन्न है। वेद परमेश्वरोपदिष्ट हैं या परमेश्वरकर्तृक हैं, इसको लेकर शैवों के मन में कोई विचिकित्सा नहीं है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि यह कार्यकारणभाव नियत्युपजीवी अर्थात् साधारण कार्यकारणभाव न होकर नित्ययुल्लंघी कार्यकारणभाव है। काश्मीर शिवाद्वयवाद में समग्र आभासन और सारा कार्यकारणभाव कर्तृकर्मभाव में पर्यवसित होता है अतः सकल श्रुति परमेश्वर के विमर्शन व्यापार की शेषभूत होकर ही उल्लसित होती है। परंतु चूँकि कर्म कर्ता की प्रकृति है, शक्ति शक्तिमान् का स्वभाव है, अतः विमर्शात्मा होकर वेद प्रकाशात्मा शिव से एकात्म रहता है।

श्रुति और आगम के पारस्पर्य का दूसरा चरण यहीं से शुरू होता है। वह है श्रुति और आगम की समकक्ष्यता का। वस्तुतः समकक्ष्यता–बुद्धि अभेदन की प्रक्रिया का स्वाभाविक विस्तार है। दोनों परम्पराओं का जो सहज रूप से अपना वैविध्य भरा विकास है उसमें सामनन्तर्य देखा गया है विभिन्न समीकरणों के माध्यम से। शक्तियों और वेदचतुष्टयी के मध्य हम एक समीकरण देख चुके हैं। वस्तुतः दोनों ही परम्पराओं में इस प्रकार के प्रतीकात्मक समीकरण मिलते हैं। हमें इतने विस्तार में जाना संप्रति अभिप्रेत नहीं है। शतपथ ब्राह्मण वेदत्रायी को सूर्य का स्वरूप मानता है।[17] *छान्दोग्य* के मत में इसी सूर्य के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा इतिहास–पुराण के फूल फलते हैं।[18] ठीक इसी प्रकार *स्वच्छन्द तन्त्रा* में सदाशिव के पंचवक्त्रा और वेदत्रायी में समीकरण के दर्शन होते हैं। सम्पूर्ण मन्त्राराशि का प्रसार ऊर्ध्वमुख ईशान से माना गया है और सद्योजात, तत्पुरुष, वामदेव और अघोर में क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को मानना की गयी है।[19] *शारदातिलकतन्त्रा,* जिसे विद्वानों का एक वर्ग अभिनवगुप्त के गुरु लक्ष्मणगुप्त की कृति मानता है, ने काव्यमयी भाषा में वर्णमय वृक्ष को शिवशक्ति से एकरूप माना है और वेदागम के रूप में उसके ऊर्ध्वभाग की परिकल्पना की है और यह माना है कि परामृत रूप मधु से वेद और आगम पारमेश्वरी शक्ति का अभिषेक करते हैं।[20]

इन दोनों सोपानों में एक बात साफ उभर कर आती है कि वेदों के प्रति काश्मीर शिवाद्वयवाद की दृष्टि श्रद्धामयी है परन्तु उसकी निजन्धर दृष्टि का पता तीसरे चरण में लगता है। ऊपर की चर्चा से उस बात में संशय नहीं रहता कि समस्त शास्त्रा की आगमरूपता होने के कारण उसके प्रकारों और अवान्तर भेदों का प्रामाण्य भी अप्रतिहत रहता है। कठिनाई तब आती है जब इन विविध प्रकारों में विरोध या चढ़ा–ऊपरी होती है और या तमाम में एक को चुनने का प्रसंग आ खड़ा होता है। इसके लिये यहाँ आगम के सारे अवान्तर भेदों में द्वारद्वारिभाव का आसूत्राण करते हुये,

---

[16] न जावत्कर्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते।
बीजं सर्वागमापाये त्राय्येवादौ व्यवस्थिता।। –*वाक्यपदीय* 1.134; *मन्त्रा और मातृकाओं का रहस्य,* पृ.6 पर उद्धृत।

[17] सैषा त्रायी एव विद्या तपति। –*शतपथ ब्राह्मण* 10/5/2/2, *म.मा.रह.* में उद्धृत, पृ.7।

[18] वहीं पर उद्धृत, पृ.8।

[19] *स्वच्छन्दतन्त्रा* 11/42–45, वहीं पर उद्धृत।

[20] *शारदातिलकतन्त्रा,* 6–9–14।

जो जिस जगह है वहीं से, प्रत्येक में पर्यन्तोपायत्व की परिकल्पना की है। इस द्वारद्वारिभाव की सम्पूर्ण श्रृंखला का प्रारम्भ होता है वेद से और समाप्ति होती है त्रिाक में।[21] त्रिाक को समग्र आगम विचारधारा का शिखर माना गया है। द्वारद्वारिभाव से पर्यन्तोपायत्व की सारी सरणि का निश्चय क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी मूल्यवत्ता के सहारे होता है। इस उत्कृष्टता की क्रम यात्राा में त्रिाक सर्वोत्कृष्ट, फलतः वेद से भी उत्कृष्टतर, सिद्ध होता है। हम इसे थोड़ा विस्तार से लेते हैं।

इस उत्कर्ष–क्रम निरूपण में शास्त्राों का उल्लेखन अनिवार्यतः एक ही सीध में नहीं हुआ है, परन्तु फिर भी उनमें एक क्रम ढूंढा जा सकता है। जहाँ वैदिक और तान्त्रिाक सम्प्रदायों की गणना हुई है उनमें वेद से तान्त्रिाक सम्प्रदाय उत्कृष्ट हैं। जहाँ नास्तिक सम्प्रदायों (बौद्ध आदि) का उल्लेख हुआ है वहाँ वेद की स्थिति नास्तिक सम्प्रदायों से प्रबलतर है। हाँ, पांचरात्रा और वैष्णवों को लेकर अवश्य अनिश्चय की स्थिति है। कहीं पांचरात्रा सौगतों से पिछड़ जाते हैं कहीं आगे बढ़ जाते हैं; परन्तु वेद शैव और तन्त्रा से पीछे ही रहता है। जहाँ शैवों और तन्त्रा के अवान्तर सम्प्रदायों का जिक्र है वहाँ शैव अर्थात् शैव सिद्धान्त से अन्य सम्प्रदाय उत्कृष्टतर होते जाते हैं। किन्तु सारी स्थितियों में कुल और कौल या त्रिाक की मूर्धन्यता में कमी नहीं आती और सारे सम्प्रदायों में द्वारद्वारि–संबंध और उसके माध्यम से उनकी क्रमिक पर्यन्त–उपायता अक्षुण्ण रहती है। उत्कृष्यमाण सम्प्रदायों का सामान्य क्रम इस प्रकार है– वैष्णव, सौगत, अर्हत्, वेद, शैव सिद्धान्त, वाम, दक्ष, मत, कुल, कौल, त्रिाक।[22] यहाँ यह बात अवश्य रोचक है कि इस सन्दर्भ में वैदिकों के तीन वर्गों का उल्लेख अभिनव करते हैं– 1) श्रौत 2) लोक, और 3)श्रुत्यन्तवादी।[23] ठीक थोड़ा पहले जयरथ ने दो वर्गों का

---

[21] क) वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षः ततः कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिाकं सर्वोत्तमं परम्।। –*तं.वि.*, भा.2, पृ.49 पर जयरथ द्वारा उद्धृत।
ख) वेदादिभ्यःपरं शैवं शैवाद्वामं च दक्षिणम्।
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात्परतरं नहि।।
इत्यादिना उक्तमेषां यथायथमुत्कृष्टत्वं युक्तं.......द्वारद्वारिभावेन एषाम् उपायोपेयभावस्य उक्तत्वात्। –*वहीं पर,* पृ.48।
ग) जयरथ इसी सन्दर्भ में *निशाचर तन्त्रा* से भी निम्न पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं–
वाममार्गाभिषिक्तोऽपि दैशिकः परतत्त्ववित्।
संस्कार्यो भैरवे सोऽपि कुले कौले त्रिाकेऽपि सः।। –*वहीं पर,* पृ.49।

[22] अ) सिद्धान्ते वामके ततः।।
दक्षे मते कुले कौले षडर्थे हृदये ततः।। –*तं.* 13/300ब–301अ
जयरथ की टिप्पणी है– ''त्रिाकार्थस्यैव परमुत्कृष्टत्वात्। तदुक्तम्–
वेदाच्छैशं ततो वामं.......'' (इत्यादि 21 {अ} का अंश) –*तं.वि.*, भा.5, पृ.2389।
ब) इस मिलाइये जयरथ के इस कथन से–
तदुक्तं 'वैष्णवाः सौगताः श्रौतास्तथा श्रुत्यन्तवादिनः।
इत्यादयो नाधिकृता जातुचित्पतिशासने।। –*वहीं,* पृ. 2389य और मिलाइये :
लौकिकं वैदिकं सांख्यं योगादि पा×चरात्राकम्।
बौद्धार्हतन्यायशास्त्रां पदार्थक्रमतन्त्राणम्। –*तं.* 35/26–27
सिद्धान्ततन्त्राशाक्तादि सर्वं ब्रह्मोद्भवं यतः।

[23] अहमत्यत एवाधःशास्त्रादृष्टिकुतूहलात्।।
तार्किकबौद्धार्हद्वैष्णवादीन्नसेविषि।
लोकाध्यात्मातिमार्गादिकर्मयोगविधानतः।।
संबोधोत्कर्षबाहुल्यात्क्रमोत्कृष्टान् विभावयेत्। –*तं.* 13/345ब–347अ।

उल्लेख किया था– श्रौत और श्रुत्यन्तवादी।[24] सच पूछा जाय तो अभिनव ने जिस शब्द का प्रयोग किया है वह 'श्रुत्यन्तवादी' न होकर 'अध्यात्म' है।[25] जयरथ अध्यात्म की व्याख्या करते हैं 'वेदान्तादि' से। चूंकि जयरथ श्रुत्यन्तवादी का उल्लेख कर चुके हैं और स्वयं अभिनव भी इस शब्द से परिचित हैं,[26] इसलिये अध्यात्म, वेदान्त और श्रुत्यन्त इन तीनों को पर्याय के रूप में लेने में कोई बाधा नहीं जान पड़ती। लोक की व्याख्या भी जयरथ ने श्रुति और स्मृति के युग्म के रूप में की है (श्रुतिस्मृत्यादिः) 'आदि' के प्रयोग से हम पुराण, इतिहास आदि को भी इसमें समेटने का साहस कर सकते हैं। श्रौत को लेकर हम निश्चय ही अंधकार में हैं क्योंकि न तो जयरथ और न ही अभिनव इसकी व्याख्या करते हैं सबसे विचित्रा बात है कि श्रौत का अभिनव बौद्ध और जैनों से भी बोध की दृष्टि से अपकृष्ट मानते हैं।

द्वारद्वारिभाव से पर्यन्तोपायता और यथायथ उत्कर्ष का यौक्तिक परिणाम यह भी है कि पारस्परिक बलाबल के सन्दर्भ में शैवी श्रुति वैदिक श्रुति से प्रबलतर सिद्ध होती है। शैवी श्रुति की प्रबलतरता के कई आधारों का अभिनवगुप्त उल्लेख करते हैं। प्रसंग है *मालिनीविजयोत्तरतन्त्रा* में जीवन्मुक्त की स्थिति में विधिनिषेधतुल्यता का अर्थात् न वहाँ कोई विधान है न कोई निषेध। जबकि वैदिक श्रुति या तो विधिरूप है या निषेधरूप। वैदिक श्रुति यदि शुद्धि का विधान और अशुद्धि का निषेध करती है और त्रिकीय श्रुति दोनों की व्यर्थता का, तो दोनों के श्रुतिरूप होने पर भी शैवी श्रुति प्रामाणिकतर सिद्ध होगी।

अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत आधारों में सर्वप्रथम है– अधिकारिभेद। वेदों में भगवान् ने शुद्धि अशुद्धि का विधान सारे पुरुषों को ध्यान में रखकर किया है जबकि शैवी श्रुति विशिष्ट जनों के लिये अभिप्रेत है।[27] इसलिये दोनों ही चोदनाओं की सार्थकता भिन्नविषय को लेकर है, अतः वैदिकी श्रुति शैवी श्रुति की बाधक नहीं हो पाती।[28] यदि यह तर्क दिया जाय कि सब लोगों के लिये प्रवृत्त विधि विशिष्टविषय में तो अप्रवृत्त रहेगी अतः एक न एक श्रुति की तो सत्त्वहानि माननी पड़ेगी। शिवाद्वयवादी मीमांसकों के तर्क का आश्रय लेते हुये इस संभावना को नकारता है। मीमांसक मानते हैं कि *विशेषात्मक अपवाद विधि* सामान्यात्मक उत्सर्ग विधि का बाधन करती है। अतः अपवादविधि–रूपा शैवी श्रुति *उत्सर्गविधिरूपा* वैदिक श्रुति से प्रबलतर हो जाती है। भिन्नविषयता या अधिकारिभेद का यदि आश्रय लिया जाय तो दोनों का प्रामाण्य अखण्डित रहता है।[29] इस प्रकार प्रकृत सन्दर्भ में वैदिकी श्रुति द्वारा सामान्य विषय के रूप में विहित होकर भी शुद्धि और अशुद्धि तत्त्वज्ञ के विषय में अपवादरूप

---

[24] देखिये ऊपर 22ब के अंतर्गत।

[25] लोकः श्रुतिस्मृत्यादिः, अध्यात्म वेदान्तादिः.....। –*तं.* 13/346ब पर जयरथ, *तं.वि.*, भा.5, पृ. 240–7।

[26] *तं.* 17/7अ।

[27] तर्हि सुतरामिदम् अप्रामाण्यकारणं – यदेकस्मिन्नपि उपदेष्टरि परस्परव्याहतत्वं नामेति, नैतत्, अधिकारिभेदेन तथोपदेशात्। भगवता हि शुद्ध्यादि सामान्येन सर्वपुरुषविषयतया चोदितं विशिष्टविषयतया त्विदम्...। –*तं.वि.*, भा.3, पृ. 869।

[28] इति न कश्चिदनयोरप्रामाण्यपर्यसायी दोष तदुभयोरपि चोदनयो र्भिन्नविषयत्वेनावस्थितेः सत्त्वमवशिष्टमेव इति सिद्धम्। –*वही*।

[29] सम्यक्चेन्मन्यसे बाधो विशिष्टविषयत्वतः।।
अपवादेन कर्तव्यः सामान्यविहिते विधौ। –*तं* 4/230ब–231अ।

मालिनीविजयात्मक श्रुति– 'नात्रा शुद्धिर्नाचाशुद्धिः' से बाधित होती ही है। यदि यह कहा जाय कि शुद्धि और अशुद्धि दोनों ही लोक में दिखाई पड़ने के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण शैवी विधि का यह उपर्युक्त स्थल ही नहीं बनता अतः शैवी श्रुति विधि न होकर अधिक से अधिक *अर्थवाद* कही जा सकती है और यह भी सर्वमान्य है कि अर्थवाद से विधि का– यहाँ पर वैदिक श्रुति का,– बाधन नहीं हो सकता। शैव पक्ष का उत्तर है कि अर्थवाद का कार्य है प्ररोचना। प्ररोचना की आवश्यकता वहाँ पड़ती है जहाँ अबुद्धिपूर्वक काम किया जाय या अर्थ की सत्ता को लेकर शंका हो। जब अविच्छिन्न विज्ञानात्मा महेश्वर ही शास्त्रा के रूप में स्थित है तब माहेश्वर वाक्य में मिथ्यात्व, असदर्थता की शंका की गुंजायश ही नहीं है अतः मालिनी श्रुति को अर्थवाद नहीं माना जा सकता।[30] दूसरे यदि अभ्युपगमवाद से मालिनी श्रुति को अर्थवाद मान लिया जाये तो भी अर्थवाद स्वतःप्रमाण नहीं होता, वह विधि या निषेधवाक्य के साथ एकवाक्यता को अंगीकार करके ही प्रमाण बन सकता है, ऐसी वाक्यवित् मीमांसकों की मान्यता है[31], क्योंकि अर्थवाद का प्रयोजन अश्रुत अर्थ का प्रतिपादन नहीं है बल्कि विधेय या निषेध्य की प्ररोचना है। मालिनी श्रुति को अर्थवाद मानने पर, उसके आधीन यदि विधि निषेध होता है उसमें न तो प्रवृत्ति में आदर होगा न निवृत्ति में। जहाँ तक अर्थवाद वाक्य का सवाल है वह अपना अर्थ तो देगा ही। अतः मालिनी श्रुति को 'यहाँ न शुद्धि है न अशुद्धि'– यह अर्थवादात्मकता विधिवाक्यान्तर जो यहाँ वैदिक विधि निषेध का अंग होने पर उसका अपह्नव तो करेगी ही।[32] अभिनवगुप्त कहते हैं कि शैवी श्रुति को चाहे विधिवाक्य मानिये और चाहे अर्थवादवाक्य, वैदिक श्रुति द्वारा प्रतिपादित शुद्ध्यादि विभाग तो पूर्वोक्त युक्तियों से ही बाधित हो जाता है, अतः वैदिक शुद्ध्यशुद्धिविधान सिद्ध नहीं हो पाता। सच बात यह है कि शुद्धि और अशुद्धि वस्तुधर्म नहीं हैं अपितु प्रमातृधर्म हैं। संवित् से ऐकात्म्य शुद्धि का लक्षण है और अनेकात्म्य अशुद्धि का।[33] यदि इसे किसी प्रकार से वस्तु का धर्म मान भी लिया जाय तो भी शुद्धि और अशुद्धि का निश्चय प्रमाता की अपेक्षा करेगा।[34]

शैवी श्रुति की उत्कृष्टतासाधन प्रक्रिया का दूसरा परिणाम है श्रुति–तन्त्रा, निगम– आगम में परस्पर *बाध्य–बाधक* भाव का एक ही दिशा में होना। जिस प्रकार शैवी विशेष चोदना सामान्यात्मिका वैदिक श्रुति का बाधन करती है उसी प्रकार वैदिक श्रुति के ईश्वरप्रणीत होने पर भी वह शैवी श्रुति का बाधन नहीं करती। *अभिनव सर्वज्ञानोत्तर*[35] तन्त्रा को उद्धृत करते हुये कहते हैं कि मनुष्य, ऋषि, देव, ब्रह्मा, विष्णु

---

[30] नार्थवादादिशंका च वाक्ये माहेश्वरे भवेत्। –*वही,* 4/232ब।

[31] अत एव 'विधिवाक्यैवाक्यतयैव अस्य प्रामाण्यम् इति वाक्यविदः। –*तं.वि.,* भा.3, पृ.877।

[32] विधिवाक्यान्तरे गच्छन्नङ्गभावमथापि वा।
न निरर्थक एवायं संनिधेर्गजडादिवत्।।
स्वार्थप्रत्यायनं चास्य स्वसंवित्त्यैव भासते।
तदपह्नवनं कर्तुं शक्यं विधिनिषेधयोः।। –*तं.* 4/237–238।

[33] अन्यत्रा नेति बुद्ध्यन्तामशुद्धं, संविदश्च्युतम्।।
संवित्तदात्म्यमापन्नं सर्वं शुद्धमतः स्थितम्। –*तं.* 4/240–241अ।

[34] प्रमातृधर्म एवायं चिदैक्यानैक्यवेदनात्।
यदि वा वस्तुधर्मोऽपि मात्रापेक्षानिबन्धनः।। –*वही* 245।

[35] सर्वज्ञानोत्तरादौ च भाषते स्म महेश्वरः।

और रुद्र की उक्तियों में प्रत्येक परवर्ती अपने पूर्ववर्ती से विशिष्ट है और इस उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य के कारण विरोध की स्थिति में प्रत्येक उत्तरवर्ती अपने पूर्ववर्ती का बाधक है। इस प्रकार ऋषि–वचन मानवीय उक्ति का बाधक है, देव–वचन ऋषि–वाणी का। इस युक्ति से रुद्र अर्थात् शिव का वाक्य चरम प्रमाण है। विपर्यय से बाध की संभावना भी नहीं की जा सकती। विष्णु के वाक्य शिववचन का आपलाप नहीं कर सकते।[36] इसके पीछे कारण का अनुसंधान करते हुये अभिनव इस बात से इंकार नहीं करते कि वेद आदि का निरूपण यद्यपि मूलतः शिव ने ही किया है फिर भी शास्त्राों के द्वैविध्य के प्रणयन में संकोच का भाव तथा अभाव का आश्रय लिया गया है। जहाँ संकोच है वे भेदप्रधान शास्त्रा हैं। वेदादि का समाहार उन्हीं में होता है। जहाँ संकोच नहीं है वे अभेदप्रधान शास्त्रा हैं और त्रिकादि शैव शास्त्राों की भूमि यही है।[37] संकोच के तारतम्य की भूमि बद्ध जीव के ज्ञान की भूमि है, पाशव भूमि है और विकास का तारतम्य पति अर्थात् मुक्त की या शैवी ज्ञानभूमि है। विकास के उत्तरोत्तर उत्कर्ष के कारण पतिज्ञाना शैवी श्रुति बाधक है और पाशव ज्ञान/वैदिकी श्रुति बाध्य।[38]

श्रुति और आगम के पारस्पर्य का चौथा आयाम है आगम और निगम के आपातिक भेदों का परिहार और युक्त्यनुकूलन के द्वारा समन्वयन। समग्रतावादी दर्शनों की नियति है सारी विविधता को समग्रता के अंतर्गत संरचनात्मक रूप से या आवयविक संरचना के घटक रूप से परिघटित करना। अतः निगम आगम का समन्वयन समग्रतामूलक युक्ति–प्रक्रिया की तार्किक परिणति है। अधिकारिभेद और भिन्नविषयता के आधार पर दोनों के मध्य समन्वयन की चेष्टा हमने ऊपर प्रसंगान्तर से देखी। अभिनव का कहना है कि सारे का सारा आगम विध्यात्मक या निषेधात्मक विमर्शपरक है और इस विधि–निषेध की प्रयोज्यता का निर्धारण होता है नियत अधिकारी, नियत देश, नियत काल, नियत दशा, नियत सहकारी इत्यादि के विमर्शनपूर्वक।[39] सच पूछा जाय तो ऊपर सम्प्रदायों और विभिन्न श्रुतियों के मध्य उत्तरोत्तर उत्कर्ष का अनुसंधान किया गया है प्रकारान्तर से वह समन्वयन की ही विधा है। इस पद्धति का विस्तार करते हुये हम देखते हैं कि समन्वयन की प्रक्रिया के कुछ अंश तो साम्प्रदायिक आग्रहों का अनुवाद करते हैं और कुछ अंश वस्तुगत विवशताओं से जन्मे हैं। सारे सम्प्रदायों में औत्तरोत्तर्य एक तारतम्यात्मक विकास (मबबसमबजपबंस चतवहतमेपवद) का रूप लेता है। इसमें संगति के आसूत्राण के बीज ढूँढे गये हैं शक्तिपात की क्रमिकता को लेकर।

नरषिदेवद्रुहिणविष्णुरुद्राद्युदीरितम्।।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यात् पूर्वपूर्वप्रबाधकम्। –*वही* 248–249अ।

[36] न शैवं वैष्णवैर्वाक्यैबाधनीयं कदाचन।। –*वही* 249ब य यही बात आगे चलकर पंद्रहवें आह्निक में दुहराई गयी है– एवं विषयभेदान्नो शिवोक्तेर्बाधिका श्रुतिः।
क्वचिद्विषयतुल्यत्वाद्बाध्यबाधकता यदि।।
तद्बोध्या श्रुतिरेवैति प्रागेवैतन्निरूपितम्। –*तं.* 15/178–179अ।

[37] वेदादीनां सर्वशास्त्रााणां परमेश्वर एवोपदेष्टा इति नास्ति विवादः किंतु तेन संकोचभावाभावभेदेन द्विधा शास्त्रााण्युपदिष्टानि – कानिचिद् भेदप्रधानानि, कानिचिद् अभेदप्रधानानि। तत्रा भेदप्रधानानि वेदादीनि शास्त्राणि, अभेदप्रधानानि च शैवादीनि। –*तं.वि.*, भा.3, पृ.898।

[38] संकोचतारतम्येन पाशवं ज्ञानमीरितम्।
विकासतारतम्येन पतिज्ञानं तु बाधकम्।। –*तं.* 4/253।

[39] सर्व एव हि आगमो नियताधिकारिदेशकालदशासहकारिप्रभृतीनामृश्य विधिनिषेधादिविमर्शमयः।

सिद्धान्त से त्रिाक या वेद से त्रिाक तक की यात्राा क्रमिक शक्तिपात के प्रारंभिक स्तर से लेकर क्रमोत्तीर्णता के स्तर तक है।[40] इसलिये क्रमिक शक्तिपात की *पर्यन्तोपायता* अक्रम शक्तिपात में होने पर भी प्रारंभिक सम्प्रदायों को ऊर्ध्वस्थ सम्प्रदायों में अनधिकारी माना गया है। इसी बात को अभिनवगुप्त ने अधःशास्त्रा और, व्य×जनया, ऊर्ध्वशास्त्रा की शब्दावली में व्यक्त किया है। तार्किक, श्रौत, बौद्ध आदि अधःशास्त्रा हैं और योग, शैव शासन आदि ऊर्ध्व। इनके अंदर पाये जाने वाली क्रमिक उत्कृष्टता का संधान *संबोधोत्कर्ष* गत बाहुल्य के आधार पर होता है।[41] यहाँ यह दुहराना उचित होगा कि यह ऊर्ध्वमुखी गतिशीलता एकमुखी है, अनुलोम है– जहाँ उत्तरस्थ पूर्वस्थ को अन्तःसात् कर सकता है पर अधरस्थ उत्तरस्थ को नहीं। संभवतः समन्वयन को प्रणाम करते हुये भी अपनी साम्प्रदायिक निजता को बनाये रखने का आग्रह इसमें कारण रहा है और दूसरी ओर सम्प्रदायसाङ्कर्य को बचाये रखने पर जोर भी। सम्प्रदायसाङ्कर्य हमेशा प्रतिलोम सक्रियता का निष्यन्द है और उससे दोनों सम्प्रदायों के भ्रष्ट हो जाने का खतरा है। इसलिये वैष्णव के लिये शैव या वैदिक के लिये शैव सम्प्रदाय से सम्मेलन निषिद्ध है।[42] समन्वयन की प्रक्रिया में वास्तविक चुनौती मिली है जहाँ वस्तुगत विवशताओं की दृष्टि से संगति ढूंढने की चेष्टा की गयी है। शैवी साधना में बहुत स्थलों पर वीर साधकों के लिये लोक और शास्त्रा के विरुद्ध तमाम द्रव्यजात के सेवन का विधान किया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि जो भी निंद्य है, गर्हणीय है वह सब वीर का आहार्य है।[43] पंच मकारों की गणना यहाँ की जा सकती है। चर्याक्रम आदियाग आदि स्थलों में ऐसी ही स्थिति है। मुनियों के द्वारा गोमांसभक्षण तक की चर्चा मिलती है।[44] इस प्रकार के स्थलों का सामंजस्य दो प्रकार से बैठाया गया है। एक व्याख्या तो दार्शनिक युक्त्यनुकूलन के तर्ज पर की गयी है और दूसरी सामाजिक दायित्व के निर्वाह के आग्रह से। लोकशास्त्रा से विरुद्ध का बाह्यचर्या में विधान विकल्पनाश के लिये किया गया है। लोकविरुद्धत्व इन द्रव्यों का वास्तविक रूप नहीं है। वास्तविक रूप तो संविद्रूपता है। चित्त के ऐकाग्र्य की जांच के लिये इनका

---

[40] क्रमिकः शक्तिपातश्च सिद्धान्ते वामके ततः।।
दक्षे मते कुले कौले षडर्थे हृदये ततः।
उल्लङ्घनवशाद्वापि झटित्यक्रममेव वा। –*तं.* 13/300ब–301।

[41] अहमष्यत एवाधःशास्त्रादृष्टिकुतूहलात्।।
तार्किकबौद्धार्हद्वैष्णवादीन्नसेविषि।
लोकाध्यात्मातिमार्गादिकर्मयोगविधानतः।
संबोधोत्कर्षबाहुल्यात् क्रमोत्कृष्टान् विभावयेत्। –*तं.* 13/245ब–347अ।

[42] स्वदृष्टौ परदृष्टौ च समयोल्लङ्घनादसौ।।
प्रत्यवायं यतोऽभ्येति चरेत्तन्नेदृशं क्रमम्। –*वही,* 318ब–319अ
वैष्णवादि शैवशास्त्रां मेलयेचिच्छासने।।
ध्रुवं संशयमापन्न उभयभ्रष्टतां व्रजेत्। –*वही* 317ब–318अ य जयरथ अनुमोदन करते हैं–
तदुक्तम् – 'अथ वेदाश्रितः शैवं पुनरेव समीहते।
वेदनष्टः शैवनष्टः पुनरेव भविष्यति।। –*तं.वि.भा.*5, पृ.2390–91।

[43] यद्द्रव्यं लोकविद्विष्टं यच्च शास्त्राबहिष्कृतम्।
यज्जुगुप्स्यं च निन्द्यं च वीरैराहार्यमेव तत्।। –*वही,* भा.3, पृ.885, जयरथ द्वारा उद्धृत।

[44] ......विकल्पप्रहाणाय लोकशास्त्राविरुद्धं द्रव्यजातमभिहितम्। यन्नाम सर्वद्रव्याणां लोकविरुद्धत्वादि न वास्तवं रूपं, किन्तु परा संविदेव, इति किं नाम जुगुप्स्यं निन्द्यं वा सर्वत्रौव संविद्रूपत्वाविशेषात्, अतएव तत्रा चित्तप्रत्यवेक्षामात्रामेव प्रयोजनं– किं संविदेकाग्रीभूतं चित्तं न वा इति। –*वही*।

अवलम्बन लिया जाता है कि चित्त संवित् में ऐकाग्रय भाव से तन्मय हो गया है कि नहीं। मुनियों के लिये गोमांस–भक्षण आदि का निषेध या अभक्ष्यतया उपदेश उसकी संविद्रूपता को छिपाने के लिये नहीं किया जाता बल्कि इसलिये कि लोकयात्राा का उच्छेद न होने पाये। लोक संरक्षण की दृष्टि से ही उस द्रव्य से संविद्रूपता के स्वरूप का गोपन कर इनकी अभक्ष्यता, निन्दनीयता आदि का निरूपण किया गया है ताकि सामान्य जन जिसने संविद् से एकरूपता का अनुभव नहीं किया है, कहीं लालच या इन्द्रिय सुख की लोलुपता से सामाजिक मर्यादा को छिन्न–भिन्न न कर डाले।[45] *तन्त्राालोक* में बार–बार यह चर्चा आई है और इसका इसी प्रकार से समाधान किया गया है। एक ओर सारे शिवाद्वयवादी सम्प्रदायों में मद्य, मांस, मैथुन के परम माहात्म्य का संकीर्तन हुआ है[46] और ठीक इसके विपरीत श्रुति, स्मृति में मद्यादि की अग्राह्यता का विधान हुआ है। शैव शास्त्राों का प्रवृत्तिनिमित्त है आनन्दातिशय की उपलब्धि, जबकि वेद और स्मृति का प्रवृत्तिनिमित्त है लोकस्थिति की रक्षा।[47]

वस्तुस्थिति के कठोर आग्रहों के कारण ऊपर समन्वयन की जिस प्रक्रिया का आश्रय लिया गया है वह केवल वहीं समाप्त नहीं हो जाती। वस्तुतः तन्त्राों के वैदिकीकरण की (प्रकारान्तर से हम इसे श्रुति का तान्त्रिाकीकरण भी कह सकते हैं) निरन्तर प्रवर्तमान प्रक्रिया का यह अंग है। वैदिक मूल्य–संस्थान के अंगीकरण का सबसे पुष्ट प्रतीक है पुरुषार्थ–चतुष्टय की सिद्धि में शाम्भवागम को उपाय मानना और फलभेद के आधार पर उसे श्रुति का अविरोधी मानना। अभिनवगुप्त कहते हैं–

धर्मार्थकाममोक्षेषु पूर्णापूर्णादिभेदतः।
विचित्रोषु फलेष्वेक उपायः शाम्भवागमः।।
तस्मिन्विषयवैविक्त्याद्विचित्राफलदायिनि।
चित्राोपायोपदेशोऽपि न विरोधावहो भवेत्।। तं.35/24–25

शाम्भवोपाय की सार्थकता को प्रतिपादित करते हुये भी अनेक उपायों के सहभाव और उनकी सामर्थ्य से तन्त्राालोककार इन्कार नहीं करते। अपने *भगवद्गीतार्थसंग्रह* में अभिनव इसी प्रतिज्ञा का अनुवाद करते हैं।[48] आपाततः यह बात अभिनव के स्वयं अपने सैद्धान्तिक उद्घोषों से मेल खाती नहीं जान पड़ती। चूंकि बार–बार शैवशास्त्रा को सर्वोत्कृष्ट कहा जा रहा है, इसलिये *सर्वज्ञानोत्तर* आदि तन्त्राों के अनुसार मुख्या वृत्ति

---

[45] लोकसंरक्षणार्थं तु तत्तत्त्वं तैः प्रगोपितम्। –*तं.* 13/244अ।

[46] अतएव आनन्दातिशयकारिणो मद्यादेरेव सर्वशास्त्रोषु परं माहात्म्यमुक्तमित्याह–
अतः कुलक्रमोत्तीर्णत्रिाकसारमतादिषु।।
मद्यकादम्बरीशीधुद्रव्यादेर्महिमा परम्। –*तं.* 15/169ब–170अ
आदिशब्देन मांसमैथुनादि..........। –*तं.वि.,* भा. 5, पृ.2526।

[47] ननु यदि एवं तत् कथं श्रुतिस्मृत्यादौ मद्यादेरशुद्धत्वमुक्तमित्याह–
लोकस्थितिं रचयितुं मद्यादेः पशुशासने।।
प्रोक्ता ह्यशुद्धिस्तत्रौव तस्य क्वापि विशुद्धता।
.........क्वापि इति सौत्राामण्याम्। –*वही*।

[48] द्वैपायनेन मुनिना यदिदं व्यधायि
शास्त्रां सहस्रशतसंमितमत्रामोक्षः।
प्राधान्यतः फलतया प्रथितस्तदन्य–
धर्मादि तस्य परिपोषयितुं प्रगीतम्।। –*उपोद्घात,* श्लोक 2।

से हमारी निष्ठा शैव शास्त्रा में ही होनी चाहिये।[49] लोकधर्मों और वर्णाश्रम के आचारों का आचरण यदि करना है तो निष्ठारहित होकर तटस्थ भाव से केवल लोकसंरक्षणार्थ करने में दोष नहीं है। लोकसंरक्षण के लिये किये जाने वाला लोकधर्म तथा वर्ण और आश्रम के लिये निर्दिष्ट आचार शैव शास्त्रा के अंगरूप से नहीं बल्कि अपरिहार्य विवशता के रूप में ही विहित हैं। तटस्थता, निष्ठाशून्यता और गौणी वृत्ति आदि की सारी शब्दावली वैदिक संस्कारों, वर्णाश्रम व्यवस्था, तत्सम्बद्ध अन्य लोकधर्म तथा देशधर्म की अनिवार्यता का संकेतन करते हैं। लिङ्गोद्धार आदि शैव संस्कार और आचार वैदिक कर्म जहाँ से समाप्त होता है वहाँ से शुरू होते हैं।[50] शैव साधक के आचारोल्लंघी, सामाजिक मर्यादा का अनादर करने वाले चरित्रा को वैदिक आचार के चौखटे में समेटने का काम बड़ा दुरूह है। इसलिये शैव साधक की जो भावना की गयी वह इस श्लोक से बहुत अच्छी तरह से प्रकट होती है–

अंतःकौलो बहिःशैवः लोकाचारे तु वैदिकः।
सारमादाय तिष्ठेत नारिकेलफलं यथा।।[51]

साधारणशब्दावली में इसका तात्पर्य है कि लोकसंरक्षणार्थ सामाजिक जीवन में जो श्रुति–स्मृत्यनुमोदित आचार का पालन करता है, बाह्याचर्या में शैव है – अर्थात् विकल्पप्रहाण के लिये जो निषिद्ध का सेवन और आचरण करता है और आंतरिक रूप से अंतर्याग में जो सबको सामस्त्य–भाव के घटक रूप संविद् से एकात्मतया ग्रहण करता है। बाद वाले दो को दूसरे ढंग से भी कहा जा सकता हैः जो बाह्य रूप में सिद्धान्तशैवी है और आंतरिक रूप से कुलमार्गगत चर्या और आदियाग का अनुपालक। यहाँ पर थोड़ी सी सतर्कता अपेक्षित है। 'लोकाचार में जो वैदिक है' इस कथन को कुछ अपवादों के साथ ग्रहण करना उचित होगा। इस अपवादन को तान्त्रिाकीकरण का परिणाम मानना चाहिये। ये अपवाद हैं– जाति का अस्वीकरण, तान्त्रिाक उपासा में स्त्राी के प्रवेशाधिकार की मान्यता और अकुलीनस्पर्श के प्रति आदर भाव।

तन्त्राों के वैदिकीकरण की प्रक्रिया के अनेक पक्ष हैं। जो पक्ष सबसे पहले आकर्षित करता है वह है वैदिक वाङ्मय या श्रुतियों का प्रमाणरूप में उल्लेख। *छान्दोग्य उपनिषद्* के प्रामाण्य का आश्रयण[52], स्मृति का अवलम्बन[53], *विष्णु–पुराण* का

---

[49] तस्मान्मुख्यतया स्कन्द लोकधर्मान्न चाचरेत्।
नान्यशास्त्रासमुद्दिष्टं स्रोतस्युक्तं निजे चरेत्।। –*तं.* 4/251।

[50] तदुक्तं तत्रा–
ये तु वर्णाश्रमाचारा प्रायश्चित्ताश्च लौकिकाः।
सम्बन्धान्देशधर्माश्च प्रसिद्धान्न विचारयेत्।
गर्भाधानादितः कृत्वा यावदुद्वाहमेव च।
तावत्तु वैदिकं कर्म पश्चाच्छैवे ह्यनन्यभाक्।
न मुख्यवृत्त्या वै स्कन्द लोकधर्मान् समाचरेत्।। इति –*तं.वि.*, भा. 3, पृ. 893–94य और भी देखिये–
यथैकत्राापि वेदादौ तत्तदाश्रमगामिनः।
संस्कारान्तरमत्राापि तथा लिङ्गोद्धृतादिकम्।।
यथा च तत्रा पूर्वस्मिन्नाश्रमे नोत्तराश्रमात्।
फलमेति तथा पांचरात्राादौ न शिवात्मताभ्।। –*तं.* 37/28–29।

[51] वहीं पर उद्धृत।

[52] *तं.* 17/6–7, 15/172, *तं.वि.*, भा.6, पृ.2527–28।

[53] *तं.वि.*, भा.6, पृ.2528; भा.7, पृ.3132।

प्रमाणतया ग्रहण[54], *गीता* के साथ अर्थ की एकतानता का अनुसंधान[55] ये सारे वैदिक प्रमाण निगम के प्रति आगम के सुकुमार भाव का निदर्शन कराते हैं। यहाँ आश्चर्यजनक विशेष बात देखने की है कि अभिनव प्रस्थानत्रायी में से *गीता* पर अपनी टीका लिखते हैं। प्रस्थानत्रायी वेदान्त में श्रुतिरूपा और श्रुत्युपजीवी है। उपनिषद् और *गीता* श्रुतिरूप और ब्रह्मसूत्रा श्रुत्युपजीवी है। अभिनव *गीता* को *महाभारत* का अंग और महामुनि व्यास की रचना मानते हैं। यदि गीता को श्रुति न माना जाय तो भी वह परम्परया वह श्रुति ही है– ''*इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्*।'' और इस ग्रन्थ के द्वारा वह वर्णाश्रम परमपरा की मूल्य–परिपाटी का पोषण करते हैं। *गीता* का प्रसिद्ध श्लोक–

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।। (15/15)

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका के प्रमातृविचार का आधारबिन्दु बनता है। *गीता* की टीका करने में अभिनव का एक विशेष प्रयोजन है। अपनी परम्परा से एकसूत्राता आपादन में अभिनव *गीता* का उपयोग करते हैं। उनकी दृष्टि में *गीता* वेदान्त से भी गुह्य परमाद्वैत तत्त्व का प्रकाशन करती है।[56] इस व्याख्यान के द्वारा अभिनव अपने को श्रुति–परम्परा से जोड़ते हैं और साथ ही अपने सम्प्रदाय को अधिक आदरास्पद बनाते हैं।

इस प्रक्रिया को अभिनव और आगे बढ़ाते हैं। अपनी याग–प्रक्रिया को समृद्ध बनाने में वह वैदिक याग–प्रक्रिया और तत्संबंधी शब्दावली को आयातित करते हैं। *तन्त्रालोक* के पन्द्रहवें आह्निक में अभिनव जिन 48 संस्कारों का वर्णन करते हैं[57] वे वैदिक संस्कारों के उपबृंहण हैं और वैदिक संस्कारों को सम्मिलित करके चलते हैं। सारी वैदिक शब्दावली– आहुति, प्रणव, स्रुवा, अग्निसंस्कार, होम, आज्य, पूर्णाहुति, याग, स्थण्डिल, कुंभ, कर्करी, वषड्, श्राद्ध, भभोग, पवित्राक, मण्डल, न्यास, अग्नीषोम, दैवत, अधिवासन, अभिषेक आदि आदि कहीं उसी अर्थ में, कहीं अर्थभेद, कहीं अर्थविस्तार, कहीं अर्थसंकोच के साथ स्वीकार कर ली गयी है। श्रुति, स्मृति का साक्षात् प्रभाव अभिनव पर पड़ा है। पुराण[58] आदि के माध्यम से वह परम्परया भी श्रुति का प्रभाव ग्रहण करते हैं। मीमांसा और श्रुतिपरम्परा के अनेक मूलभूत सिद्धान्तों का उपयोग अभिनव करते हैं। उदाहरणार्थ ''*वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति*'' की भांति यहाँ भी पशुकर्म में हिंसाबुद्धि का निषेध किया गया है।[59] परन्तु साथ ही पशुयाग के अतिरिक्त सर्वत्रा हिंसा का निषेध हुआ है।[60] इसी प्रकार से अभिनव 'धर्मक्षेत्रो' में धर्म शब्द की

---

[54] *तं.* 17/343–344।
[55] *तं.वि.*, भा.7, पृ.3132।
[56] इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्यात् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।। –*गीता* 18/63
......तदेवेदं ज्ञानम् उक्तं गुह्यात् वेदान्तादपि गुह्यं परमाद्वैतप्रकाशनात्।
एतच्चाशेषेण विमृश्येति– तात्पर्यमत्राविचार्येत्यर्थः। –*भगव०गीतार्थसंग्रह*, भा.1, पृ.277।
[57] *तं.* 15/498–505।
[58] न केवलमेतदस्मदागम एवोक्तं, यावच्छुत्यर्थोपजीविनि पुराणादौ अपि/ –*तं.वि.*, भा.5. पृ.2374।
[59] 'न हिंसाबुद्धिमादध्यात् पशुकर्मणि जातुचित्। –*तं.* 16/57 –*तं.वि.*, भा.5, पृ.2374।
[60] *तं.वि.*, भा.6, पृ.2748।

व्याख्या *याज्ञवल्क्य स्मृति* के आलोक में करते हैं।[61] वेदों के तान्त्रिाकीकरण की प्रक्रिया में शिवाद्वयवादी ग्रन्थों में तमाम पारिभाषिक वैदिक शब्द हूबहू वैसे ले लिये गये हैं, पर युक्त्यनुकूलन पूर्वक सैद्धान्तिक समंजसन के द्वारा उन्हें नई व्याख्यायें दे दी गयी हैं। उदाहरण के लिये द्विजत्व को रुद्रात्मतापत्ति की अनिवार्य अर्हता के रूप में ग्रहण किया गया है। पर यह द्विजता वस्तुतः द्विजतान्तर है जिसका संबंध संवित् के संस्कार से है, न कि जन्म या जाति से।[62] यहाँ पर अभिनव महाभारतकार को प्रमाण के रूप से उद्धृत करते हैं।[63] इस उद्धरण से एक ओर द्विजता की पहचान के लिये शान्त्यादिरूप चिद्धर्मता को स्थापित करते हैं तो दूसरी ओर शूद्र आदि के ब्राह्मणीकरण का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। इस सन्दर्भ में इस बात की ओर ध्यान दिलाना संभवतः प्रासंगिक होगा कि वेदान्त परम्परा द्विजों के प्रति (न कि शूद्रों के लिये) उद्दिष्ट है। यह बात सही है कि *महाभारत* में विदुर और धर्मव्याध आदि के प्रकरणों से शंकर वेदान्त में शूद्र की अधिकारिता स्वीकार करते हैं पर तभी जब वेदान्त का उपदेश पुराण या *महाभारत* के माध्यम से संक्रान्त हो। हम सब इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि *गीता महाभारत* का अंश है और महामुनि व्यास के कर्तृत्व का प्रसाद है। यह एक अतिरिक्त कारण हो सकता है अभिनव द्वारा प्रस्थानत्रायी में से छांटकर *गीता* की व्याख्या करने का।[64] अभिनव इस प्रसंग का उपयोग भगवद्याग की पात्राता का स्त्रिायों आदि में विस्तार करने के लिये भी करते हैं। श्रुति के प्रति शिवाद्वयवादियों का गहरा श्रद्धाभाव है। चूँकि अविगीता प्रसिद्धि ही आगम है, अपनों और परायों में बंटकर वह आगमों की अनेकता का कारण बनती है, इसलिये अभिनव कई बार वेद की आलोचना करने के बाद भी वेदनिन्दा का निषेध करते हैं।[65]

निगम और आगम परम्परा के पारस्पर्य के सन्दर्भ में एक तथ्य और ध्यान खींचता है वह है ऋषियों की, राजन्यों की एक लम्बी श्रृंखला जो दोनों ही धाराओं में समान रूप से पायी जाती है और दोनों ही स्थलों पर बड़ी श्रद्धा से उनका स्मरण होता है। *मालिनीविजयोत्तर* में सूची मिलती है– सनत्कुमार, सनक, सनातन, सनन्दन, नारद, अगस्त्य, संवर्त, वशिष्ठ। *तन्त्रालोक* में जो नामोल्लेख हुआ है उसमें दक्ष, संवर्त, वामन,

---

[61] धर्मक्षेत्रा इति। ......'अयं स परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' (याज्ञवल्क्यस्मृति 1.8) इत्यस्य च धर्मस्य क्षेत्राम्। –*गीतार्थसंग्रह,* भा.9, पृ.5।

[62] योनिर्न कारणं तत्रा शान्तात्मा द्विज उच्यते।।
मुनिना मोक्षधर्मादावेतच्च प्रविवेचितम्। –*तं.* 15/513ब–514अ।

[63] यदुक्तं तेन........
'शूद्रोऽपि शीलसंपन्नो गुणवान्ब्राह्मणो भवेत्।
पंचेन्द्रियार्णव' घोरं यदि शूद्रोऽपि तीर्णवान्।।
तस्मै दानं प्रदातव्यमप्रमेयं युधिष्ठिर।
न जातिर्दृश्यते राजन्गुणाः कल्याणकारकाः।। इति –तं.वि., भा.6, पृ. 2694–95।

[64] मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रिायो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।। –*गी.* 9/33।
स्त्रिाय इति अज्ञाः। शूद्रा इति कार्त्स्न्येनेन वैदिकक्रियानधिकृताःपरतन्त्रावृत्तयश्च। तेऽपि मदाश्रिता मामेव यजन्ते। केचिदाक्षते द्विजराजन्यप्रशंसापरमेतद्वाक्यम्, न तु स्त्रयादिषु अपवर्गप्राप्तितात्पर्येण इति। ते हि भगवतः सर्वानुग्राहिकां शक्तिं मितविषयतया खण्डयन्तः हास्यरसविषयभावमात्मनि आरोपयन्ति। –*गीतार्थसंग्रह,* भा.1, पृ. 163–64।

[65] तथैव सा प्रसिद्धिर्हि स्वयूथ्यपरयूथ्यगा।।
सांख्यं योगं पांचरात्रां वेदांश्चैव न निन्दयेत्।
यतः शिवोद्भवाः सर्व इति स्वच्छन्दशासने।। –*तं.* 35ब–36।

परशुराम, शुक, बलिनन्द, सिंह, गरुड, महानाग, वासुकि, रावण, विभीषण, राम, लक्ष्मण, सिद्ध, श्रीकण्ठ, दुर्वासा, अत्रि, अगस्त्य आदि के नाम भी मिलते हैं। दोनों परम्पराओं में पायी जाने वाली इस ऋषि–मालिका की एकता की व्यंजना को लेकर हम निश्चित भले ही न हों पर दोनों की पारस्परिक आंतरिक अनुस्यूति का संकेतन तो मिलता ही है।

उपर्युक्त सामग्री के विश्लेषण से हम दो निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। पहला, काश्मीर शिवाद्वयवाद ने जिस समग्रतावादी दृष्टि का पल्लवन अपने दार्शनिक चिन्तन में किया है, श्रुति के प्रति उसकी दृष्टि भी इसी से पनपी और उसी को प्रतिबिम्बित करती है। दूसरा, निगम या श्रुति–परम्परा के प्रति काश्मीर शिवाद्वयवाद का गंभीर आदर है। उसका कारण है वैदिक संस्कृति की दी हुई लोक–व्यवस्था और मूल्य–संस्थान के अंदर ही आगम परम्परा का विकास हुआ है। दूसरे शब्दों में चूंकि तान्त्रिाक वाङ्मय या आगम परम्परा सामान्यतः और शिवाद्वयवादी परम्परा विशेषतः वैदिक लोकव्यवस्था की स्थानापन्न दूसरी लोकव्यवस्था नहीं देती है। अतः सारे अपवादों, निषेधों, मतभेदों और उल्लंघनों के बावजूद भी दोनों का आधारभूत सांस्कृतिक ढाँचा और मूल्य चौखटा एक ही रहता है अतः वस्तुस्थिति की दृष्टि से श्रुति काश्मीर शिवाद्वयवादी परम्परा में अपनी मौलिक आदरास्पदता सुरक्षित रखती है। यह निगमन दोनों परम्पराओं के अंतःसम्बन्ध को लेकर प्रारम्भ में वर्णित तीसरी दृष्टि के पास हमें पहुँचाता है कि निगम और आगम परम्पराओं का आदिम स्रोत एक है पर विकास दो भिन्न धाराओं, जिन्हें कभी समंजस और कभी विरोधी भी कहा जा सकता है, में हुआ है।

इति

सन्दर्भग्रन्थ

1. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (ई.प्र.वि.वि.), अभिनवगुप्तकृत, सं. मधुसूदन कौल, खण्ड 3, मुंबई, 1943।
2. मालिनीविजयोत्तरतन्त्रा (मा.वि.तं.), सं. मधुसूदन कौल, मुंबई, 1822 ई.
3. मन्त्रा और मातृकाओं का रहस्य (म.मा.रह.), शिवशंकर अवस्थी, वाराणसी, 1966।
4. Shrimadbhagvadgita with Gitarthasangraha of Abhinavgupta (गीता) सं. डॉ. एस. शंकरनारायणन्, दो खण्ड, तिरुपति, 1985।
5. स्तवचिन्तामणि (स्त.चि.), भट्टनारायणकृत, क्षेमराजकृत विवृति–उपेत (स्त.चि.वि.), सं. मुकुन्दराम शास्त्राी, श्रीनगर, 1918।
6. शारदातिलकतन्त्राम्, लक्ष्मणदेशिककृत, सं. आर्थर एवलॉन, दो खण्ड, कलकत्ता ए 1933।
7. तन्त्राालोक (तं.), अभिनवगुप्तकृत, जयरथकृत विवेक (तं.वि.), सं.रा.चं. द्विवेदी तथा नवजीवन रस्तोगी, 8 खण्ड, दिल्ली, 1987।

निगम और आगम में सृष्टिसन्दर्भ

पुष्पा दीक्षित

उज्जयिनी के भर्तृहरिप्रसङ्ग में आचार्य राधावल्लभजी त्रिपाठी ने संस्कृतसाहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की बात उठाई थी। यह अत्यावश्यक है। वर्तमान में वस्तुतः समग्र भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है।

दुर्भाग्य है कि विल्सन ने तथा आर्यसमाजियों ने पुराणों के विषय में बिना प्रमाण के जो कुछ भी लिखा है, उसे ही हम आज भी पीट रहे हैं। उन्होंने सारे पुराणों को 11वीं शताब्दी के बाद का सिद्ध करके हमारी वैदिक तथा पौराणिक परम्परा पर आघात किया है।

पुराण शब्द का अर्थ है– पुरा भवम्। सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्य– ट्युट्युलौ तुट् च (पाणिन्यष्टाध्यायी – 4.3.23) सूत्रा से ट्यु प्रत्यय लगाकर, अथवा पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन (पाणिन्यष्टाध्यायी – 2.1.49) सूत्रा और पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (पाणिन्यष्टाध्यायी – 4.3.105) सूत्रा के निर्देश से पुराण शब्द निष्पन्न होता है। पुराण शब्द का अर्थ ही पूर्वतन है। जिस प्रकार पुराणों में वेदों का उल्लेख है उसी प्रकार अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीयारण्यक, आश्वलायनगृह्यसूत्रा, आपस्तम्बधर्मसूत्रा, आदि वैदिक ग्रन्थों में पुराणों का उल्लेख है।

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणयजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः (अथर्व. 11/7/24) तथा स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्। तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्।।11।। इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीना×च प्रियं धाम भवति य एव वेदं।। अथर्वका. 15 अनु. 1 प्र. 6 मं. 12।।

एवमिमे सर्वे वेदा निर्मितास्सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वयाख्याताः सपुराणाः सस्वराः इत्यादि। गोपथपूर्व भा. 2 प्र.।

अध्वर्यविति हवै होतरित्येवाध्वर्युस्ताक्ष्र्यो वै पश्यतो राजेत्याह तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति कि×चत् पुराणमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति न प्रक्रमान् जुहोति। अथदशमहन् शतपथ. 13/4/3/13।

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः इत्यादि शतपथ. 14/6/100 बृहदा. 2/4/11।।

स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं प×चमं वेदानां वेदमिति. छा. प्र. 7 खं. 1।

एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहासपुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एनन्तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वैर्भोगैः शतपथ. 11/5/7/9।

ब्रह्मसूत्राभाष्य में पूर्वपक्ष में भगवान् भाष्यकार कहते हैं– ''**इतिहासपुराणमपि पौरुषेयत्वात्प्रमाणान्तरमूलतामाकांक्षते**''।

सायणाचार्य ने ऐतरेयब्राह्मण के उपक्रम में लिखा है– ''देवासुराः संयत्ता असन्नित्यादय इतिहासाः इदं वा अग्रे नैव कि×चदासीदित्यादिकं जगतः प्रागवस्थानुपक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्''

अर्थात् देवासुर संग्रामादि के वर्णन का नाम इतिहास है और सृष्टि के पूर्व असत् था इत्यादि जगत् की प्रथम अवस्था का वर्णन करके सृष्टि प्रक्रिया आदि बतलाने का नाम पुराण है।

न्यायदर्शन के भाष्य में वात्स्यायन कहते हैं कि ''य एव मन्त्राब्राह्मणस्य द्रष्टारः ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रास्य चेति विषयव्यवस्थापनाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम्। अर्थात् जो ऋषि मन्त्रा ब्राह्मणों के देखने वाले हैं, वे ही पुराणों के रचने वाले हैं, अतः दोनों का प्रामाण्य है।

श्रीमद्भागवत में भी भगवान् वेदव्यास यही बात कहते हैं–

त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन्।।23।।
त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः।।24।।
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रायी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।।25।।

अतः स्पष्ट है कि पश्चिमी विद्वान् कालक्रमनिर्धारण की भारतीय परम्परा से अनभिज्ञ हैं और उनका अन्धानुकरण करने वाले हम भारतीय सर्वथा विवेकहीन।

वेदों और पुराणों की दार्शनिक धारा एक है। उनमें एक निश्चित सुसंगति है। दोनों एक ही तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं।

इस लेख में इसे हम ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' के सन्दर्भ में देखें।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का 139वाँ सूक्त 'नासदीय सूक्त' है। इसमें सात मन्त्रा हैं, जिनमें सृष्टि के कारण का विचार किया गया है। इन सात मन्त्राों में सात सन्दर्भ हैं। प्रथम मन्त्रा में 'मायाशेषसन्दर्भ' है। प्रथम मन्त्रा इस प्रकार है–

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।।1।।

इस मन्त्रा में समस्त कार्यप्रप×च से विमुक्त सृष्टि की पूर्वावस्था अर्थात् प्रलयावस्था का प्रतिपादन है। उस प्रलयदशा में अवस्थित जो जगत् का मूलकारण था, वह शशशृङ्गतुल्य, अथवा आकाशकुसुमादितुल्य असत् नहीं था। यदि ऐसा होता, तो उससे अर्थक्रियाकारी सद्रूप कार्यप्रप×च की उत्पत्ति असंभव थी।

कार्यप्रप×च का मूलकारण, आत्मा तथा आकाश के सदृश निर्वाच्य अत्यन्त अबाध्य सत् भी नहीं था। यदि वह सत् होता तो महाप्रलय की प्राप्ति ही कैसे होती?

परिशेष से यही सिद्ध होता है कि सत्, असत् या सदसद् न होकर, इनसे विलक्षण, रजोरूप कार्यप्रप×च से रहित, स्वाश्रयापेक्ष, स्वाश्रयभावापन्न अनिर्वचनीया माया ही जगत् के मूलकारण के रूप में महाप्रलय में शेष थी। अतः यह मूलकारण सत्त्व

अथवा असत्त्व दोनों ही रूपों से अनिर्वाच्य था। यही बात श्रीमद्भागवत में कही गयी है—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्हम्।।
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः।।
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्।।
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्रा सर्वदा।। 2.9.32—35

रजः का अर्थ है लोक। लोको रजांसीत्युच्यते (निरुक्त 4.19)। प्रश्न उठता है कि क्या लोक थे? नहीं। अर्थात् लोक भी नहीं थे और व्योम भी नहीं था। अर्थात् पृथिवी और उसके नीचे के लोक भी नहीं थे और व्योम अर्थात् अन्तरिक्ष तथा उसके ऊपर के लोक भी नहीं थे। इस प्रकार चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड भी नहीं था।

अब प्रश्न उठता है कि क्या आवरक था? नहीं। भोक्ता जीव, सुख दुःखसाक्षात्काररूप भोग कर सके, इसके लिये ही यह अज्ञान का आवरण होता है। इस महाप्रलय में यह भोक्ता जीव तो देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण आदि उपाधियों से शून्य होकर, ईश्वरभावापन्न होकर ही अवशिष्ट था। अर्थात् जीव ईश्वर का भेद नहीं था, तो फिर किस भोक्ता जीव के सुख दुःखरूप साक्षात्कार के लिये (कस्य शर्मन्) वह आवरक आवर्य का आवरण करता?

जब कोई आवर्य ही नहीं था तो उसके आवरणों के होन का प्रश्न ही नहीं उठता। कुह का अर्थ है 'कुत्रा'। अर्थात् वह देश भी नहीं था जिसमें खड़े होकर आवरक, आवर्य का आवरण करता। कार्य आवर्य होता है। कारण आवरक होता है। लोक में आभूषणरूप आवर्य के न रहने पर भी सुवर्णरूप आवरक शेष रहता है, किन्तु यहाँ तो चतुर्दश भुवन भी कार्यकोटि के हैं, और उन्हें आवृत करने वाले पृथिवी से लेकर महत् पर्यन्त सारे आवरण भी कार्यकोटि के ही हैं, अतः महाप्रलय में न कोई आवर्य था, न ही कोई आवरक। ये अष्टावरक ही इस श्रुति में 'आवरीवः' कहे गये हैं। वृणोतेर्यङ्लुगन्तात् छान्दसे लङि तिपि रूपमेतत्।

पुराणों में भगवान् के स्वरूप को आठ आवरणों से घिरा हुआ बतलाया गया है। वहाँ, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्तत्त्व, प्रकृति ये पृथिव्यादि महत्पर्यन्त अष्टावरक प्रसिद्ध हैं—

एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया।
मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम्।। 2.10.33

तो क्या दुष्प्रवेश्य और अत्यन्त अगाध जल था? नहीं। जल तो केवल अवान्तर प्रलय में ही रहता है। महाप्रलय में उसका रहना संभव नहीं। अतः यहाँ सलिल का अर्थ है— कारण से कार्य का अविभागापन्न होकर रहना।

व्यष्टि, समष्टि, सूक्ष्म और कारण शरीरपर्यन्त जीवभाव है। इस प्रकार महाप्रलय में मायारूपी महाकारण में सूक्ष्म और कारणप्रप×च का विलय हो जाने के कारण,

जीवसंज्ञक सापेक्ष अमृतब्रह्म का प्रतिषेध तथा ब्रह्माधिष्ठिता माया का अस्तित्व ही इस प्रथममन्त्रा का प्रतिपाद्य है।

तात्पर्य यह कि त्रिगुणमयी गुणसाम्या माया ही सृष्टि का महाकारण है और वही ब्रह्माधिष्ठिता माया महाप्रलय में शेष रहती है।

प्रश्न उठता है कि निरपेक्ष अमृतब्रह्म, महाप्रलय में था कि नहीं? निरपेक्ष अमृतब्रह्म का प्रतिषेध तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि वही तो सर्वाधिष्ठान है। यही बात दूसरे मन्त्रा की प्रतिपाद्य है–

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्राया अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास।।2।।

संहार के लिये संहर्ता की अपेक्षा होती है। कठोपनिषद् में कहा है– मृत्युर्यस्योपसेचनम् 1.1.25। जैसे दाहककाष्ठ के दग्ध हो जाने पर दाहकक्रिया के सहित अग्नि भी शान्त हो जाता है, उसी प्रकार भूतभौतिकप्रप×च का संहार कर लेने पर, संहारकर्ता मृत्यु भी समाप्त हो जाता है। अतः उस समय मृत्यु का भी अभाव ही था। मृत्यु के न रहने पर भी अमृत – अमरधर्मा प्राणी रहे होंगे, ऐसा भी नहीं हो सकता। भोगप्रदान के उन्मुख परिपक्व कर्मों का जीवों द्वारा भोग कर लिये जाने पर, जब भोग न होने पर भोग्यप्रप×च का होना निष्प्रयोजन हो जाता है, तब परमेश्वर में संहार की इच्छा उदित होती है। उस समय मृत्यु या उसके अभाव के कारण होने वाले अमरण की प्राप्ति नहीं है।

पृथिव्यादि का अधिकरण काल भी नहीं था। रात दिन और इनका प्रकेत अर्थात् प्रज्ञान भी नहीं था। सूर्य, चन्द्र, और उनसे सिद्ध मास, ऋतु, संवत्सर आदि भी उस समय नहीं थे। प्रश्न उठता है कि जब काल नहीं था तब काल वाचक **'तर्हि'** – **'तदानीम्'** (उस समय) शब्द का प्रयोग क्यों किया? तो जानना चाहिये कि यह प्रयोग गौण है। जीव कालवासनावासित है, अतः वह वस्तुस्थिति को उन्हीं शब्दों से जानेगा, जिनका उसे अभ्यास है। इसीलिये **'तदानीम्'** शब्द का प्रयोग है। जैसे प्रलय में अविद्यमान पदार्थों का प्रतिपादन निषेधमुख से **'इदानीम्'** (इस समय) किया जाता है; वैसे ही **'तदानीम्'** (उस समय) माया के द्वारा उपस्थापित है।

अवातम् आनीत् आसीत् – उस समय ब्रह्मतत्त्व ही बिना वायु के श्वास ले रहा था। आनीत् का अर्थ है– अननं कुर्वत्। अभिप्राय यह है कि वह ब्रह्म ही सम्यग्रूप से विद्यमान था। उसका प्राण से भी कोई सम्बन्ध नहीं था। 'आनीत्' इस क्रिया के द्वारा प्राणनक्रिया अथवा उसका कर्ता विवक्षित नहीं है।

उस समय ब्रह्म स्वधा से युक्त था। जो अपने स्वरूप में – ब्रह्म में धारण की जाये – स्वरूप के आश्रित रहे, उसे स्वधा माया कहते हैं।

इसे ही भागवत में 'स्वरोदीरितया स्वशक्त्या' कहा है। यह ब्रह्माधिष्ठिता मलिनसत्त्वप्रधाना प्रकृति ही जगत् का निमित्तकारण है तथा ब्रह्माधिष्ठिता तमःप्रधाना प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। कार्यप्रप×च की उत्पत्ति की महाकारण उपादानभूता माया, महाप्रलय में महेश्वर के साथ एकीभूत होकर स्थित है। इसे ही पुराणों में प्राकृतप्रलय कहा गया है।

(सांख्योक्त प्रधान या अव्यक्त से वह माया निःसन्देह विलक्षण है। साङ्ख्योक्त प्रधान स्वतंत्रा है, जबकि वेदोक्त माया ब्रह्माश्रिता रहती हुई अनिर्वचनीया है।)

पुराणों में यह प्रसङ्ग योगनिद्रा करके भगवान् का शेषशय्या पर शयन कराकर बतलाया जाता है। इसे ही श्रीमद्भागवत में निरोध कहा गया है।

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।। श्रीमद्भागवत–2.10.6
आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवासीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते।। श्रीमद्भागवत–2.10.7

उदाप्लुतं विश्वमिदं तदासीत्, यन्निद्रया मीलितदृङ् न्यमीलयत्।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः, कृतक्षणः स्वात्मरतौ निरीहः।।
सोऽन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः, कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः।
उवास तस्मिन् सलिले पदे स्वे यथानलो दारुणि रुद्धवीर्यः।।
चतुर्युगानां च सहस्रमप्सु स्वपन्स्वयोदीरितया स्वशक्त्या।
कालाख्ययासादितकर्मतन्त्राो लोकनपीतान्ददृशे स्वदेहे।।
तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टेरन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान्।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः सूष्यंस्तदाभिद्यत नाभिदेशात्।।
सपद्मकोशः सहसोदतिष्ठत् कालेन कर्मप्रतिबोधनेन।
स्वरोचिषा तत् सलिलं विशालं विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः।।
तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः प्रावीविशत्सर्वगुणावभासम्।
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत्।।
तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकायामवस्थितो लोकमपश्यमानः।
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्राश्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि।।
तस्माद्युगान्तश्वसनावघूर्णजलोर्मिचक्राद् सलिलाद्विरूढम्।
उपाश्रितं क×जमु लोकतत्त्वम् नात्मानमद्धाविददादिदेवः।।
क एष योऽसावहमब्जपृष्ठ एतत् कुतो वाब्जमनन्यदप्सु।
अस्ति ह्यधस्तादिह कि×चनैतदधिष्ठतं यत्रा सता नु भाव्यम्।।
स इत्थमुद्वीक्ष्य तदब्जनालनाडीभिरन्तर्जलमाविवेश।
नार्वाग्गतस्तद्खरनालनालनाभिं विचिन्वंस्तदविन्दताजः।।
तमस्यपारे विदुरात्मसर्गं विचिन्वतोऽभूत् सुमहांस्त्रिाणेमिः।
यो देहभाजां भयमीरयाणः परिक्षिणोत्यायुरजस्य हेतिः।।
ततो निवृत्तोऽप्रतिलब्धकामः स्वधिष्ण्यमासाद्य पुनः स देवः।
शनैर्जितश्वासनिवृत्तचितो न्यषीददारूढसमाधियोगः।।
कालेन सोऽजः पुरुषाभिप्रवृत्तयोगेनविरूढयोगः।
स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभातमपश्तापश्यत यन्न पूर्वम्।।
मृणालगौरायतशेषभोगपर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम्।
फणातपत्राायुतमूर्धरत्नद्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये।। **3.8.10–22**
तर्ह्येव तन्नाभिसरःसरोजमात्मानम्भः श्वसनं वियच्च।
ददर्श देवो जगतो विधाता नातः परं लोकविसर्गदृष्टिः।। **3.8.32**

न यत्रा वाचो न मनो न सत्त्वं तमो रजो वा महदादयोऽमी।
न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा न सन्निवेशः खलु लोककल्पः।।
न स्वप्न जाग्रन्न च तत् सुषुप्तं न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः।
संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति।। 12.4.19–21

यही बात विष्णुपुराण में 1.2.24 से 30 में कही गयी है।
तृतीय मन्त्रा में स्रष्टव्यपर्यालोचन है।

तम आसीत् तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत् तपस्तन्महिनाजायतैकम्।।

सृष्टि के पूर्व तमस् ही था। किन्तु इस आवरक तमोरूप कर्ता और आवर्य जगत्रूप कर्म, ही पृथकता ज्ञात नहीं थी क्योंकि सम्पूर्ण जगत् सलिल था। अर्थात् अपने कारण से ऐसे मिला हुआ था जैसे नीरक्षीर। फिर भी विचारकों की दृष्टि से यह तुच्छ ही है क्योंकि इसका यह सामर्थ्य नहीं है कि यह लीन प्रप×च को पुनः प्रादुर्भूत न होने दे। अतः इन पदार्थों को परमात्मा अपने ज्ञानमय स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तप से प्रकट करते हैं। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत यदिदं कि×चन (तै.आ. 8. 6)। यस्य ज्ञानमयं तपः (मु.उ. 1.1.9) आदि श्रुतियाँ इसकी समर्थक हैं। पुराण भी इसी का प्रतिपादन करते हैं–

तपो मे हृदयं साक्षादात्माहं तपसोऽनघ
सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः।।

श्रीमद्भागवत–2.9.22,23

सृष्टि के पूर्व जल ही था, इस अर्थ की प्रतिपादिका अनेक श्रुतियाँ हैं। आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् तस्मिन् प्रजापतिर्भूत्वाऽचरत् स इमामपश्यत्। तां वाराहो भूत्वाऽहरत्। (तैत्ति. सं. 1.23.1)।

इसके भाष्य में श्रीसायणाचार्य कहते हैं– इदानीं दृश्यमानं गिरिनदीसमुद्रादिकं जगत्पृथिव्युत्पत्तेः पूर्वं सलिलमासीत्।''

कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीयारण्यक में 'आपो वा इदमासन् सलिलमेव। स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्। (तैत्ति. सं. 7.1.5.1)। यही बात नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् में भी कही गयी है।

भाष्यकार सायणाचार्य इस स्थल में सलिल का संकुचन अर्थ 'जल' न करके कहते हैं– यदिदं जगत् इदनीमस्माभिर्दृश्यते, तदिदमुत्पत्तेः पूर्वमाप एवासन्, न तु देवतिर्यङ्मनुष्यादिकं कि×िचदपि भौतिकमासीत्। पृथिव्यादिभूतान्तरमपि वारयितुं सलिलमेवोच्यते।

पूर्वसृष्टौ लीनायामव्यक्ते जगत्कारणे स्रक्ष्यमाणप्राणिकर्मोद्भवे सति यदा प्रजापतेर्मनसि प्रथमं कार्यमुत्पन्नं तदा तत्कार्यं सृष्टिविषयेच्छारूपेण निष्पन्नमित्यर्थः।

पूर्वसृष्टि में जगत्कारण अव्यक्त में लीन प्राणियों के कर्मों का उद्भव होने पर प्रजापति के मन में कामरूप प्रथम कार्य सृष्टिविषयक इच्छा से ही उत्पन्न हुआ।

अतः '**आपो वा इदमासन् सलिलमेव**' यह कृष्ण यजुर्वेदीय श्रुति अथवा '**अथवा तम आसीत् तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।**' यह ऋग्वेदीय श्रुति

सलिलसंज्ञक 'आप' का अर्थ 'लयस्थान अव्यक्त प्रधान' करने के लिये बाध्य करती है। इसी अर्थ के प्रतिपादन के लिये श्रुति में एवकार का प्रयोग है।

यदि इस सलिल का अर्थ '**ब्रह्माधिष्ठिता अव्याकृतसंज्ञक प्रधान**' नहीं मानेंगे तो 'तस्माद् वा एतस्माद् आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः (तैत्तिरीया 8.5) से विरोध होगा। जल से आकाशादि की उत्पत्ति कैसे होगी?

अतः यह अव्यक्त प्रधान ही तमोरूपा अव्याकृतसंज्ञक ब्रह्माधिष्ठिता प्रकृति है। इसमें कार्य कारण का विभाग नहीं है।

जहाँ एवकार नहीं होता वहाँ अवान्तरप्रलय में सलिल का अर्थ जल होता है, यह जानना चाहिये।

हमारे पुराण जल में शेषशय्या में सोये हुये भगवान् विष्णु के नाभिकमल से सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को उत्पन्न करके श्रुतियों की इसी विचारधारा में अपनी धारा मिलाते हैं।

चतुर्थ मन्त्रा में सिसृक्षासन्दर्भ है।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।।

भगवान अकेले थे। न द्रष्टा था न दृश्य। उनकी शक्तियाँ उन्हीं में सोयी थीं अतः वे अपने आपको असत् जैसा समझ रहे थे। अतः उन्होंने स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तप किया, तब माया में विलीन अन्तःकरणनिष्ठ जीवों की पूर्वकर्मवासना के योग से कर्माध्यक्ष ईश्वर में सृष्टि का काम अर्थात् इच्छा हुई।

यथापूर्वमकल्पयत् (ऋक्संहिता 10.12.190.30) इस ऋक् के अनुसार भी पूर्वकल्प के अनुरूप उत्तरसृष्टि होती है। जीवों के शुभाशुभ कर्म फलोन्मुख थे, अतः सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदों से शून्य होते हुये भी ईश्वर ने स्वयं को ही अपनी अचिन्त्य, अनिर्वचनीय मायाशक्ति के योग से स्थावर जङ्गमात्मक प्रप×च के रूप में अभिव्यक्त करने की कामना की।

सोऽकामयत बहु प्रजायेयेति। (तै.आ. 8.6)/ तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत। (कृष्णयजुर्वेदीय तैत्ति. सं. 7.1.5.1)। इत्यादि श्रुतियाँ भी इसी तथ्य को पुष्ट करती हैं।

श्रुतियों के इन उक्त तथ्यों को पुराणों के सन्दर्भों में प्रकारान्तर से इस प्रकार व्यक्त किया गया है–

भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः।।
स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद् दृश्यमेकराट्।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्।। भागवत–3.5.23,24
एको नानात्वमन्विच्छन् योगतल्पात् समुत्थितः।
वीर्यं हिरण्मयो देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा।। भागवत–2.10.13

निष्कर्ष यह कि वेद में मायासहित परब्रह्म अव्याकृत हैं। अव्याकृत ब्रह्म के आधिदैविकरूप ही पुराणों में प्रलयावशेष भगवान् विष्णु हैं। ये आकाशात्मक हैं। आकाशशरीरं ब्रह्म (तैत्ति. उप. 1.6.62)। उनकी नाभि आकाशस्थ उच्छूनावस्थारूप वायु है। नाभि से प्रादुर्भूत कमल तेजोरूप है। शेष जलरूप हैं। नाभिकमल से प्रादुर्भूत ब्रह्मा

पृथिवीरूप हैं। ईश्वरीय तेज से उपबृंहित ब्रह्मा स्थूल आकाशादिसहित ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डान्तर्गत प्राणिप्रभेद की रचना करते हैं।

प×चम मन्त्रा में सर्गक्रमदुर्लक्ष्यतासन्दर्भ है।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्।।

जगत् के मूलतत्त्व हैं– अविद्या, काम और कर्म। जैसे– सूर्य की किरणें एक निमेष में सर्वत्रा व्याप्त हो जाती हैं, उनका क्रम दुर्लक्ष्य होता है, वैसे ही यह सृष्टि भी कहीं आड़ी, टेढ़ी, ऊपर, नीचे हुये बिना एक साथ निष्पन्न हो गई।

रेतोधा का अर्थ है, बीजभूतकर्मों के भोक्ता जीव हैं और आकाशादि भाव भोग्य हैं तथा माया सहित परमेश्वर रचयिता है। इनके क्रम को कोई नहीं जानता। इन्हीं से इस जगत् का व्यवहार चल रहा है।

षष्ठ मन्त्रा में जगत्कारणदुर्लक्ष्यतासन्दर्भ है।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव।।

यह विविध विचित्रा भूत भौतिक भोक्ता भोग्यादिरूपा सृष्टि किस उपादान कारण और किस निमित्त कारण से उत्पन्न हुई है, इस तत्त्व को परमार्थतः कौन जानता है? अतः सृष्टि का मूल तत्त्व दुर्विज्ञेय है, क्योंकि जो वस्तु जानी जाती है वह जड़ होती है और जिसे हम कारण के रूप में जानते हैं वह भी छिन्न–भिन्न होने वाला होता है। ऐसी स्थिति में कार्य, कारण और कल्पना के प्रकाशक सर्वाधिष्ठान स्वयं प्रकाश प्रत्यक् ब्रह्म को ज्ञान का विषय कैसे बनाया जात सकता है।

यही बात श्रीमद्भागवत में कही गयी है–

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचिया ननु सावरणाः।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय–
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः।। भागवत– 10.87.41

सप्तम मन्त्रा में दुर्धरदुर्विज्ञेयतासन्दर्भ है।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।।

जिस विवर्तोपादानकारण से अर्थात् कल्पित कार्य के उपादानकारण से इस विविध विचित्रा परस्पर विलक्षण सृष्टि का उदय हुआ है, उस सृष्टि को केवल ईश्वर ही अपने स्वरूप में धारण कर सकता है। वह भी परम व्योम में रहता है। तर्पणार्थक अव धातु से बनने पर अर्थ होगा– देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न। ज्ञानार्थक अव धातु से व्युत्पत्ति मानने पर अर्थ होगा– विशिष्ट ज्ञानस्वरूप।

ऐसा देशकलादित्रिविधपरिच्छेदशून्य, विशिष्ट ज्ञानस्वरूप परमात्मा भी अपने स्वरूप को तथा अपने में कल्पित इस अज्ञान प्रप×च को जानता भी है, या नहीं। यदि वही नहीं जानता है तो अन्य भला कौन जानेगा। इस प्रकार जगत दुर्विज्ञेय भी है और दुर्धर भी। परमात्मा के अतिरिक्त उसे कौन धारण कर सकता है? स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः इत्यादि छान्दोग्य श्रुति (7.4.41) आदि भी इसी की समर्थिका हैं।

इस प्रकार तदैक्षत (छान्दोग्य श्रुति 6.2.3), स ईक्षा×चक्रे (प्रश्नोपनिषत् 6.3) सोऽकामयत (तैत्ति. 2.6) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तैत्ति. 3.1) इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा जगत् का निमित्तकरण सिद्ध होता है तथा बहु स्याम् (तैत्ति. 2.6, छान्दो. 6.2.3) इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा जगत् का उपादानकारण सिद्ध होता है। इस प्रकार परमात्मा जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है। उसमें ईश्वररूप से कर्तृत्व तथा ब्रह्मरूप से अकर्तृत्व है।

श्रीमद्भागवतमहापुराण भी इसी की पुष्टि करता है–

इत्थंभावेन कथितो भगवान्भगवत्तमैः।
नेत्थंभावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः।। श्रीमद्भागवत–2.10.44

महात्माओं ने अचिन्त्यैश्वर्य श्रीभगवान् को कर्ता, भोक्ता और संहर्ता के रूप में वर्णन किया है, परन्तु तत्त्वज्ञों को केवल इसी रूप में उनका दर्शन नहीं करना चाहिये क्योंकि वे तो इसके भी परे हैं।

नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते।
कर्तृत्वप्रतिषेधार्थ माययारोपितं हि तत्।। श्रीमद्भागवत–2.10.45

सृष्टि की रचना आदि का निरूपण करके पूर्ण परमात्मा में कर्म या कर्तापन का सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया है। वह माया से आरोपित होने के कारण कर्तृत्व का प्रतिषेध करने के लिये है।

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान्विभो। वदन्त्यनीहादगुणाविक्रियात्।।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुद्ध्यते। त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः।।
श्रीमद्भागवत – 10.3.19

प्रभो! कहते हैं कि आप स्वयं समस्त क्रियाओं, गुणों तथा विकारों से रहित हैं। फिर भी इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहृति आप से ही होती है। यह बात इसलिये असंगत नहीं है, क्योंकि आप ईश्वररूप से कारण और ब्रह्मरूप से अकारण हैं। तीनों गुणों के आश्रय आप ही हैं। तीनों गुणों का आप में ही आरोप किया जाता है। इसी प्रकार–

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या ह्यदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन।।
श्रीमद्भागवत–11.21.42

कोई कहते हैं कि उपादान से विलक्षण तटस्थ परमात्मा ने ही जगत् का निर्माण किया है। सत्य है, जिसे देवता, मन, इन्द्रियाँ कोई भी विषय बनाने में समर्थ नहीं हैं उसे किसी और प्राणी ने जान लिया, इसकी तो चर्चा ही क्या है? ऐसी स्थिति में प्रमाणपद्धति के द्वारा सृष्टिपरीक्षा करने का क्या अर्थ है? अवश्य ही इसके मूल में यही प्रमाणित होता है '**यो वा अध्यक्षः परमे व्यामन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।**'

वेदों से पुराणों का यह समन्वय न केवल श्रीमद्भागवत में, अपितु सभी पुराणों में मिलता है, यथा श्रीविष्णुपुराण में नासदीयसूक्त के से सारे के सारे मन्त्रा ज्यों के त्यों अनूदित हैं, साथ ही उनके अर्थ का विस्तार भी है, जिन्हें निगमगीत नाम से जाना जाता है। (श्रीविष्णुपुराण – 1.2.19से70) अतः वेदों और पुराणों में कोई भेद नहीं है।

इति

निगम और आगम परम्परा में रुद्र

डॉ.प्रभुनाथ द्विवेदी
उपाचार्य, संस्कृत विभाग
म.गां.काशी विद्यापीठ, वाराणसी

वेदेषु यो रुद्र इति प्रगीतः पश्चात्पुराणेषु शिवः स ख्यातः।
सकलं जगद्यो व्याप्नोति नित्यं तमेकमीशं सततं नमामि।।

हमारा धार्मिक वाङ्मय जिन देवों की द्युति से विद्योतित है, उनमें रुद्र का विशिष्ट स्थान है। इनका चरित और चरित्रा – दोनों ही इतना विचित्रा है कि इनके स्वरूप का कोई ऐकान्तिक निर्धारण करना अत्यन्त दुष्कर है। यह जटिल देव कितने जटिल हैं?– इसका अनुमान करना भी असम्भव है। एक ओर, वे अपने रौद्ररूप से प्रलयाग्निसदृश असह्य भीषण हैं, प्रचण्ड ताण्डव से ब्रह्माण्ड को क्षुब्ध कर देते हैं किन्तु दूसरी ओर अपने सौम्य रूप से शिवतम हो भक्तों को अपनी ओर लुब्ध कर लेते हैं। वेदों के रुद्र यदि 'तीव्ररोष' हैं तो पुराणों के शिव 'आशुतोष' हैं।

ऋग्वेद में रुद्र गौर वर्ण के तेजस्वी युवक के रूप में वर्णित हैं जो धनुर्बाण से सुसज्ज होकर भ्रमण करते हैं तथा क्रुद्ध होने पर मनुष्यों और पशुओं का हनन करते हैं। इनको तेजोयुक्त[1] और सूर्य व सुवर्ण के समान दीप्तिमान्[2] कहा गया है। स्वर्णाभूषणों की आभा से इनका शरीर दमकता रहता है।[3] कनकमय चित्रा–विचित्रा निष्क धारण करना इन्हें विशेष प्रिय है।[4] कहीं–कहीं इन्हें बभ्रुवर्ण और दृढ़ अंगों वाला युवक कहा गया है।[5] इनके शुभ हाथ शीतल और कोमल कहे गये हैं।[6] रुद्र का वाहन रथ तथा मुख्य आयुध धनुर्बाण हैं।[7] इनके धनुष का नाम पिनाक है।[8] इनके हाथ में वज्र का भी उल्लेख मिलता है।[9] तडित्, रुद्र का विशेष आयुध है और इससे बचाने की प्रार्थना की गयी है।[10]

वेदों में रुद्र को भीम, उग्र और उपहत्नु कहकर इनके भीम और उग्र रूप का प्रबल उल्लेख किया गया है।[11] रुद्र की स्तुति करने में स्तोता सर्वत्रा भयपूर्वक प्रवृत्त होता है और स्वजनों तथा पशुओं का वध न करने की प्रार्थना करता है।[12] रुद्र के आयुध और दुर्बुद्धि को अपने सम्बन्ध में प्रवृत्त न होने की स्तुति करता है।[13] स्तोता,

---

[1] ऋग्वेद, 10.114.5 – त्वेषं रूपं तदसा निह्वावामहे।
[2] ऋ. 1.43.5 – यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते।
[3] ऋ. 2.33.9 – शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः।
[4] ऋ. 2.33.10 – अर्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपं बिभार्षि।
[5] ऋ. 2.33.5; 2.33.9; 2.33.11; 5.60.5।
[6] ऋ. 2.33.7।
[7] ऋ. 5.4.11 – तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वाः; ऋ. 10.125.6 – अहं रुद्राय धनुरायतनोमि।
[8] शुक्लयजुर्वेद (वा.सं.) 3.61 – अवततधन्वा पिनाकावसः।
[9] ऋ. 2.33.3 – तवस्तमः तवसां वज्रबाहो।
[10] ऋ. 7.46.3 – या ते विद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः।
[11] ऋ. 2.33.11 – स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्।
[12] ऋ. 1.114.7–8 – मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्ररीरिषः; मा नस्तोके......अश्वेषुरीरिषः।
[13] ऋ. 2.33.14 – परि णो हेतो रुद्रस्य वृज्याः परित्वेषस्य दुर्मतिः मही गात्।

रुद्र से सदैव प्रार्थना करता है कि वे क्रुद्ध न हों। एक स्थान पर, रुद्र को उनका यज्ञ भाग देकर बिना किसी की हिंसा किये मूँजवान पर्वत के उस पर चले जाने की प्रार्थना की गयी है।[1] अथर्ववेद में ज्वर, विष, खाँसी और तडित् को रुद्र का चार मुख्य अस्त्रा माना गया है। स्तोता इन अस्त्राों को कहीं दूर रखने तथा विद्युत् को अन्यत्रा गिराने की प्रार्थना करता है।[2]

रुद्र के स्वरूप का सौम्य पक्ष भी वेदों में वर्णित है। वे अत्यन्त उदार, कृपालु, कल्याणमय और रोगों के अपहर्ता श्रेष्ठ वैद्य कहे गये हैं। मीढ्वान् और मीढुष्टम रुद्र अपने स्तोता को प्रचुरधन देते हैं।[3] समस्त औषधियों पर उनका अधिकार है और अपने भक्तों के कल्याण हेतु वे उनका प्रयोग करते हैं।[4] रुद्र सभी वैद्यों में श्रेष्ठतम वैद्य के रूप में स्तुत हैं।[5]

वैदिक वाङ्मय में 'रुद्र' शब्द की व्युत्पत्ति का सम्बन्ध रुद्र देवता की उत्पत्ति के साथ अनेकत्रा प्रदर्शित है। अतः रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति से रुद्र के आधिभौतिक स्वरूप का बोध भी होता है। ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण, अथर्ववेद, मत्स्यपुराण, वायुपुराण और विष्णुपुराण में रुद्र की उत्पत्ति और निर्वचन से सम्बद्ध आख्यान प्राप्त होते हैं।

रुद्र के भौतिक स्वरूप की जिज्ञासा में यह ज्ञात होता है कि 'अग्नि' को ही 'रुद्र' कहा गया है। आचार्य सायण ने, ऋग्वेद के मन्त्रा –'त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे' (2.1.6), का भाष्य करते हुये रुद्र की जो व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है और उसे तैत्तिरीय संहिता के उद्धरण से पुष्ट किया है, तदनुसार, रुद्र का अर्थ दुःख, दुःख का हेतु पापादि है। उसे दूर करने वाला 'रुद्र' है और वह अग्नि ही है – 'रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा पापादिः। तस्य द्रावयिता एतन्नामको देवो असि, रुद्रो वै एष यदग्निः इत्यादिषु (तै.सं. 5.4.3) अग्नेः रुद्रशब्देन व्यवहारात्।' आचार्य सायण ने पुनः यहीं 'रुद्र' की एक और रोचक व्युत्पत्ति दी है– 'यद्वा, त्वं रुद्रः। रौति। मामनिष्ट्वा नराः दुःखे पतिष्यन्ति। रुद्रस्तादृशो असि।'

अनेक ऋचाओं में 'रुद्र' अग्नि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हैं।[6] अग्नि और रुद्र रुद्र की एकात्मकता की दृष्टि से ऋग्वेद का अधोलिखित मन्त्रा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें अग्नि को 'उग्र' और दुर्गों का विनाशक कहा गया है –

य उग्र इव शर्यहा तिग्मशृङ्गो न वंशगः।
अग्ने पुरो रुरोजिथ।।[7]

आचार्य सायण ने इस पर भाष्य करते हुये कहा है– 'रुद्रो वै एष यदग्निरिति श्रुतेः। रुद्रकृतमपि त्रिपुरदहनम् अग्निकृतमेव इत्यग्निः स्तूयते।' ध्यातव्य है कि पुराणादि परवर्त्ती साहित्य में शिव द्वारा त्रिपुरदहन की कथा का उत्स उपर्युक्त मन्त्रा है।

---

[1] शुक्ल यजुर्वेद (वाज.सं.) 3.61 – अहिंसन नः शिवः परो मूजवतः अतीहि।
[2] अथर्ववेद 11.2.22,26 – अन्यत्रा विद्युतं पातयैताम्।
[3] ऋ. 1.114.3; 2.33.14; वा.सं. 16.51; ऋ. 10.92.2।
[4] ऋ. 5.42.11 – यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य; ऋ. 1.114.5; 7.46.1।
[5] ऋ. 2.33.4 – भिषक्तमं त्वां भिषजां शृणोमि।
[6] ऋग्वेद 3.2.5; 4.3.1।
[7] ऋ. 6.16.39।

अथर्ववेद में भी अग्नि और रुद्र का एकत्व प्रदर्शित है–

य इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्तु अग्नये।[1]

शतपथ ब्राह्मण में भी अनेकत्रा रुद्र को अग्नि कहा गया है– 'यो वै रुद्रः सो अग्निः'[2]। 'अग्निर्वै रुद्रः'[3]। 'अग्निर्वै स देवः'। '......पशूनां पती रुद्रः अग्निरिति'[4]। 'अथातः 'अथातः शतरुद्रियं जुहोति। अत्रौष सर्वोऽग्निः संस्कृतः। स एषो अत्रा रुद्रो देवता'[5]।

रुद्र को तडित् से सम्बद्ध करके देखने पर, कड़कती हुई तेज चमकवाली (कौंधती हुई) मेघनिर्गत विद्युत् की 'रुद्र' (चिल्लाने, रोने या डराने वाली) संज्ञा सङ्गत प्रतीत होती है। उग्र अर्थात् प्रचण्ड अग्नि की तड़तड़ाहट या चटचटाहट की अन्वर्थता की सम्भावना भी इसी संज्ञा में हो सकती है। तीव्र भीषणा लपटों के साथ धधकती हुई अग्नि की संज्ञा रुद्र के रूप में मानी जा सकती है। यास्क ने 'रुद्र' के निर्वचन में इसी ओर सङ्केत किया है– 'रुद्रो रौतीति सतः रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा'[6]। 'अग्निरपि रुद्र उच्यते'[7]। बृहद्देवताकार के अनुसार, विद्युत् रूप अन्तरिक्षस्थानीय अग्नि ही रुद्र है–

अरोदीदन्तरिक्षे यद् विद्युद्वृष्टिं ददन्नृणाम्।
चतुर्भिर्ऋषिभिस्तेन रुद्र इत्यभिसंज्ञितः।।[8]

अग्नि से रुद्र का तादात्म्य सिद्ध करने में आचार्य सायण द्वारा ऋग्वेद के 1.114.1 मन्त्रा पर किये गये भाष्य में प्रदर्शित रुद्र की यह व्युत्पत्ति अत्यन्त साधक है– 'रुणद्धि आवृणोतीति रुद् (क्विप्) अन्धकारादिः। तद्दृणाति निवारयति इति रुद्रः।' वायुपुराण में (21.75 तथा 31.23) अग्नि को कालरुद्र कहा गया है। विष्णुपुराण में भी प्रलयकालाग्नि को रुद्र कहा गया है– 'ततः कालाग्निरुद्रोऽसौ भूत्वा......'।[9]

पाश्चात्य वैदिक विद्वानों में श्रोएदर, प्रेतात्माओं का प्रतीक मरुतों को मानते हुये उनके आकाशचारी नेता को रुद्र मानते हैं। ओल्डेनबर्ग रुद्र को पर्वतों का देवता मानते हैं, जो अपने बाणों (रोगों) से मनुष्यों को पीड़ित करता है। वेबर रुद्र को झ×झावात से सम्बद्ध मानते हैं।

वैदिक वाङ्मय में रुद्र के लिये अरुष (ऋ. 1.114.5), बभ्रु (ऋ.2.33.5,8,15), कल्मलीकिन् (ऋ.2.33.8), श्वित्य×च (ऋ.2.33.8), केशी (ऋ.1.114.1 तथा 10.102.8) इत्यादि विशेषण प्रयुक्त हैं जो रुद्र को अग्नि, विद्युत् आदि मानने पर संगत होते हैं। रुद्र के लिये प्रयुक्त अन्य शब्द– दिवो–वराह, धूर्जटि, नीलशिखण्डी, कपर्दो, असितग्रीव, नीलग्रीव, विलोहित, शितिकण्ठ, त्रिपुरारि आदि भी अर्थसङ्गत हैं। रुद्र के समग्र स्वरूप

---

1 अथर्ववेद 7.87.1।
2 शतपथ ब्राह्मण 5.2.4.13।
3 श.ब्रा. 5.3.1.1।
4 श.ब्रा. 1.7.3.8।
5 श.ब्रा. 9.1.1.1–2।
6 निरुक्त 10.5।
7 निरुक्त 10.7।
8 बृहद्देवता 2.34।
9 विष्णुपुराण 6.3.24।

का विश्लेषण, शुक्ल यजुर्वेद के षोडश अध्याय में प्राप्त होता है। रुद्र के उस व्यापक स्वरूप की अभिव्यक्ति 'सर्वं खल्विदं रुद्रः' से ही हो सकती है।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' – यह विश्रुत उक्ति वैदिक वाङ्मय के साथ इतिहास–पुराण के अन्तःसम्बन्ध को सुस्पष्ट करती है। पुराणों के उपलब्ध स्वरूप को देखते हुये यह कहना समीचीन है कि वेदों के तत्त्वार्थ का उपबृंहण पुराणों में हुआ है। यदि हम वैदिक देवताओं के पौराणिक स्वरूप की समीक्षा करें तो पायेंगे कि विष्णु और रुद्र के स्वरूप का जितना विकास पुराणों में हुआ उतना किसी अन्य देवता का नहीं। प्रख्यात वैदिक देवता रुद्र, पौराणिक वाङ्मय में 'शिव' के रूप में व्यापक रूप से प्रतिष्ठित हुये। पौराणिक शिव के 'संहारक' रूप की अवधारणा वैदिक रुद्र के स्वरूपगत क्रोध, भयानकता और विनाशकता के कारण ही है। रुद्र का शिव के रूप में विकास हो जाने पर भी पौराणिक शिव में रुद्रत्व बना ही रहा। वस्तुतः शिवत्व तो वैदिक रुद्र में भी पहले से ही विद्यमान था। वेदों में हमें रुद्र के उग्र और सौम्य रूप का निदर्शन साथ–साथ मिलता है। वैदिक रुद्र में उग्रता अधिक थी और सौम्यता तदपेक्षा न्यून। पौराणिक शिव में इसका विपर्यय हो गया।[1]

पौराणिक शिव के जो विशेषक गुण वर्णित हैं, वे वैदिक रुद्र में भी वर्तमान थे। शतपथ ब्राह्मण में अग्नि को रुद्र के रूप में प्रतिपादित करते हुये उन्हें स्पष्टतः 'पशुपति' और 'शान्ततम' कहा गया है– '....पशूनां पती रुद्रः अग्निरिति।...अग्निरित्येव शान्ततमम्।'[2]

रुद्र के लिये 'शिव' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में किया गया है–

स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते।
येमिः शिवः स्ववाँ एवयावभिर्दिवः सिषक्ति स्वयशा निकामभिः।।[3]

शुक्ल यजुर्वेद में हमें रुद्र की एक महत्त्वपूर्ण संज्ञा प्राप्त होती है– 'त्रयम्बक', जो पौराणिक एवं परवर्त्ती काल में शिव का एक प्रमुख नाम हुआ और प्रयुक्त मन्त्रा 'महामृत्यु×जय' मन्त्रा के रूप में सादर प्रसिद्ध हुआ–

त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।।[4]

रुद्र के लिये 'महादेव' शब्द का प्रयोग अथर्ववेद (9.7.7) में प्राप्त होता है। पौराणिक वाङ्मय में यह शब्द शिव का प्रमुख सम्बोधन हो गया और आज भी उतना ही प्रसिद्ध है। इसी प्रकार शिव के 'शर्व' और 'भव' नाम भी शतपथ ब्राह्मण में रुद्र के लिये प्रयुक्त हैं।[5] शिव की प्रचलित धूर्जटि, कपर्दी, नीलग्रीव आदि संज्ञायें भी वैदिक वाङ्मय से ही प्राप्त हैं। शिव का नाम 'कृत्तिवासा' और उनके धनुष का नाम 'पिनाक' तैत्तिरीय और वाजसनेयि संहिताओं में उल्लिखित है।[6]

---

[1] शिव की 'अघोर' संज्ञा का सम्भवतः यही कारण है।
[2] शतपथ ब्राह्मण 1.7.3.8।
[3] ऋग्वेद 10.92.9।
[4] वाज. संहिता 3.60।
[5] शतपथ ब्राह्मण 1.7.3.8।
[6] तै.सं. 1.8.6 – 'अवततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः।'
वाज.सं. 3.61 – 'अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिंसन् नः शिवः अतीहि।।'

महाभारत में वैदिक रुद्र (=अग्नि) का शिव से तादात्म्य अनेकत्रा निरूपित है–

स वै रुद्रः स शिवः सोऽग्निः शर्वः स सर्वजित्।
वदन्त्यग्निं महादेवं तथा स्थाणुं महेश्वरम्।।
धूम्ररूपं च यत्तस्य धूर्जटीत्यत उच्यते।।[1]

द्वे तनू तस्य देवस्य वेदज्ञा ब्राह्मणा विदुः।
घोरामन्यां शिवामन्यां ते तनू बहुधा पुनः।।
उग्रा घोरा तनूर्या सा सोऽग्निर्विद्युत्स भास्करः।
आत्मनोऽर्धं तु तस्याग्निः सोमोऽर्धं पुनरुच्यते।।[2]

शिव की जटाओं, उनके विषपान और नीलग्रीवत्व का उल्लेख रुद्र (=अग्नि) के स्वरूप के साथ क्रमशः शतपथ ब्राह्मण, 3.2.2.9; 13.2.7.2, ऋ.सं. 10.136.7; वाज.सं. 23. 13 और तैत्तिरीय सं. 16.1.66 में बीजरूप में प्राप्त होता है। इसका उपबृंहण रामायण – बालकाण्ड 45.18–26, महाभारत आदिपर्व 13.20–30; श्रीमद्भागवतपुराण 8.7.18–46 और अग्निपुराण 3.1–10 आदि में हुआ है।

वैदिक वाङ्मय में रुद्र के एकादशत्व का बहुधा उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में (11.6.3.7) दश प्राणों और आत्मा को एकादश रुद्र कहा गया है। पुराणों में एकादश रुद्र का उल्लेख किया गया है। कुछ पुराणों में रुद्रों की संख्या करोड़ों बताई गयी है किन्तु जिन ग्यारह रुद्रों की प्रमुखता प्रदर्शित की गयी है उनमें से कुछ वैदिक रुद्र के पर्याय हैं और कुछ पौराणिक शिव के। श्रीमद्भागवद्गीता (10.23) में भगवान् कृष्ण ने स्वयं को रुद्रों में शङ्कर माना है– 'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि।' इसी प्रकार वैदिक वाङ्मय में रुद्र की अष्टमूर्तियों का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, ये आठ मूर्तियाँ हैं– अग्नि (रुद्र), आप (शर्व), ओषधि (पशुपति), वायु (उग्र), पर्जन्य (भव), अशनि (विद्युत्), चन्द्रमा (महादेव), आदित्य (ईशान)। कौषीतकी ब्राह्मण के अनुसार, अग्नि (शर्व), आप (भव), ओषधि (उग्र), वायु (पशुपति), अन्न (ईशान), अशनि (इन्द्र), चन्द्रमा (रुद्र), आदित्य (महादेव)। इन आठों नामों का सम्बन्ध किसी न किसी प्राकृतिक तत्त्व से है। पौराणिक शिव की भी आठ मूर्तियाँ कही गयी हैं– 'भूतार्कचन्द्रयज्वानो मूर्तयोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।' यहाँ यजमान को छोड़कर शेष सात प्राकृतिक तत्त्व ही हैं। लौकिक संस्कृत साहित्य में भी शिव की इन आठ अष्टमूर्तियों का उल्लेख किया गया है।[3]

वैदिक रुद्र का मुख्य आयुध 'पिनाक' (धनुष) है। शिव को भी पुराणों में पिनाकी कहा गया है। पुराणों में पिनाक गौण हो गया है और 'त्रिशूल' नामक आयुध प्रमुख हो गया है। शिव के इस आयुध त्रिशूल का रहस्य तैत्तिरीय संहिता (5.5.6) से उद्घाटित होता है जिसमें अग्नि को रुद्र बताते हुये उनके तीन शरों (शूलों=घातक लपटों) का निर्देश है–

---

[1] महाभारत, अनुशासन पर्व 60.38 तथा 60.50।
[2] महाभारत. अनुशासन पर्व 60.47–48।
[3] कालिदास – अभिज्ञान शाकुन्तल 1.1 – 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या.......वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।'

'रुद्रो वा एष यदग्निः तस्य तिस्रः शरव्याः प्रतीची, तिरश्ची अनूची। ताभ्यो वा एष आदृश्यते।'

पुराणों में शिव द्वारा दक्ष प्रजापति के यज्ञविध्वंस की कथा व्यापक रूप से प्राप्त होती है। इसका भी मूल वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होता है। तै.सं. में (2.6.8) में रुद्र को मखघ्न (मखहन्) कहा गया है– ''नमो रुद्राय मखघ्ने।' पुनश्च, 'देवा वै यज्ञाद् रुद्रमन्तरायन्। स यज्ञमविध्यत्।' शत.ब्रा. (1.4.1.3) और ऐतरेय ब्रा. (3.3.9) में भी इसी घटना के बीज उपलब्ध हैं।

इसी प्रकार पुराणों में शिव द्वारा त्रिपुरदाह की कथा भी बहुधा वर्णित है। इसी आधार पर उनका एक नाम 'त्रिपुरारि' भी है। ऐतरेय (1.4.6.8) और शतपथ (3.4.4.4) ब्राह्मणों में इस कथा का मूल विद्यमान है। शिव के नीलकण्ठत्व का मूल भी वाज.सं. के सोलहवें अध्याय के कुछ मन्त्रों में देखा जा सकता है।

महाभारत और पुराणों में शिवोपासना के अत्यन्त श्रद्धेय प्रकार 'लिङ्गपूजा' के सम्बन्ध में विपुल साहित्य उपलब्ध है। पुराणों और स्तोत्रों में भगवान् शिव के पवित्रतम द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों का माहात्म्य और उनके दर्शन–पूजन का अपूर्व फल कहा गया है। वैदिक विद्वान् इसे अग्नि (=रुद्र) की ऊर्ध्वगामी शिखाओं के रूप में परिकल्पित करते हैं जबकि कुछ विद्वान् इसका सम्बन्ध अनार्यों की 'शिश्नदेव–पूजा' से जोड़ते हुये परवर्त्ती काल में आर्यों द्वारा अपना लेने का मत व्यक्त करते हैं।

वैदिक रुद्र का प्रथमतः एकाकी उल्लेख प्राप्त होता है और बाद में उनके अनुचरों या गणों (अन्य रुद्रों) का उल्लेख मिलता है। पौराणिक शिव को महायोगी और दरिद्र के रूप में चित्रित करते हुये भी उनकी पत्नी, पुत्रों, अनुचरों, सम्बन्धियों एवं मित्रों का वर्णन मिलता है।

यहाँ इस विषय के कुछ मुख्य बिन्दुओं का स्पर्श मात्रा किया गया है। निष्कर्षतः, पुराणों में वर्णित शिव, अपनी शक्ति, स्वभाव, प्रभाव और कृत्यों से वैदिक रुद्र से बहुत आगे निकल गये। अब शिव के उग्र रूप के लिये ही 'रुद्र' का व्यवहार होता है। शिव सभी देवों में महत्तम अतः महादेव कहलाये और वे ही अपनी शक्तियों द्वारा सृष्टि के कर्ता, धर्ता (भर्ता) और संहर्ता कहे गये हैं।

इति

निगमागम की परम्परा में सरस्वती

डॉ. आशा सर्वटे
पूर्व–प्रवाचक (संस्कृत विभाग)
डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि., सागर

¬ यस्याः स्मरणमात्रोण वाग्विभूतिर्विजृम्भते
सा भारती चिरं नित्यं रमतान्मन्मुखाम्बुजे।

'वेद' शब्द के पर्याय के रूप में आज अनेक शब्द प्रचलित हैं। उनमें से मुख्य हैं– 'श्रुति', 'आम्नाय', 'त्रायी', 'छन्द', 'स्वाध्याय', 'आगम' और 'निगम'। कात्यायन, पत×जलि, कुमारिल भट्ट[1] और ईश्वरकृष्ण[2] ने 'आगम' शब्द का प्रयोग मन्त्राब्रह्मणात्मक वेद के लिये किया है। बाद में आगम शब्द का प्रयोग तन्त्रा के लिये प्रसिद्ध हो गया। शैव–आगम, वैष्णव–आगम, जैन और बौद्ध 'आगमों' में जो आगम शब्द है वह एक विशेष सम्प्रदाय के धार्मिक साहित्य के लिये ही प्रयुक्त है।

'निगम' शब्द का भी प्रयोग वेद के लिये किया जाता है। यास्क[3] को मन्त्राभाग, मन्त्राों से उद्धृत पद और उन पदों के संकलन ग्रन्थ 'निघण्टु' से ही निगम शब्द का अभिप्राय होगा। कालान्तर में ब्राह्मण ग्रन्थों के लिये भी निगम शब्द का प्रयोग होने लगा। व्यास[4], श्रीधर स्वामी, विश्वनाथ आदि ने 'निगम' का अर्थ मन्त्राब्राह्मणात्मक वेद के लिये किया है। मेधातिथि 'निगमान्' पद का अर्थ वेदार्थज्ञान के सहायक निरुक्त, व्याकरण–मीमांसा आदि ग्रन्थों के लिये करते हैं।[5] जो एक सीमा के अन्दर ऐहिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति करावे वह आगम है। इसमें शैव–वैष्णव–जैन–बौद्ध–शाक्तादि सभी धर्मग्रन्थ आते हैं। तथा जो निश्चित रूप से ऐहिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति के साधन रूप 'पुरुषार्थ' चतुष्टय का ज्ञान कराये वह निगम है[6]। इसमें वेद–ब्राह्मण और वेदाङ्ग के ग्रन्थ आते हैं।

प्रस्तुत शोधपत्रा में सरस्वती का ऋग्वेद–यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में स्वरूप वर्णित किया है। तत्पश्चात् ब्राह्मण और उपनिषदों में वर्णित उसके कलापक्ष का चिन्तन निदर्शित है। सरस्वती–रहस्योपनिषद–प्रप×चसार तथा शारदातिलक आदि ग्रन्थों में उसका महत्त्व वर्णित है। अग्निपुराण, मत्स्यपुराण, मार्कण्डेयपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण में सरस्वती के स्वरूप की समीक्षा है। श्रीमद्भागवत, दुर्गासप्तशती तथा देवीभागवत में भी सरस्वती की काव्यमयी स्तुति की गई है।

सरस्वती पद 'सृ गतौ' धातु से 'मतुप्' प्रत्यय एवं 'ङीप्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है और स्यन्दन्, गति अथवा सरणशीलता का सूचक है।[7]

---

[1] आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्मपि (श्लो.वा. भूमिका)।
[2] तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् (सां.का. 6)।
[3] निगमा इमे भवन्ति (निरु. 1.1)।
[4] निगमो वेदः, स एव कल्पतरुः सर्वपुरुषार्थोपायत्वात् (श्रीधरस्वामी भा.दी. 1.1.3)।
[5] मेधातिथि , मनु. 4.19।
[6] नितरां गमयति धर्मादिचतुर्विधपुरुषार्थसाधनानि बोधयतीति निगमो वेदः (राधारमणदास गोस्वामी, दी.व्या. 1.1.3)
[7] निरुक्त 9/26।

भारतीय संस्कृति में सरस्वती विद्या की अधिष्ठात्राी देवी के रूप में प्रसिद्ध है। वैदिक देवियों में इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद के तीन सूक्त[8] तथा विभिन्न मन्त्राों में (कुल मिलाकर लगभग साठ मन्त्रा) विविध रूपों में देवी सरस्वती की स्तुति की गई है। इन मन्त्राों का पर्यालोचन करने पर प्रकट होता है कि सरस्वती को वैदिक संहिताओं में भिन्न–भिन्न अर्थ की वाचिका माना गया है। ऋग्वेद एवं अन्य वेदों के मन्त्राों में[9] सरस्वती एक नदी के रूप के साथ दिव्य, शक्तिसम्पन्न, ज्ञान एवं वैदुष्य की अधिष्ठात्राी वाग्देवी के रूप में स्तुत है। वैदिक सरस्वती के विषय में हम कह सकते हैं कि वह प्रकृति – वैज्ञानिक रूप से नदी रूप में वर्णित है और प्रतीकात्मक दृष्टिकोण से वह वाणी या देवी रूप में वर्णित है। पुराणों में और सभी आगम ग्रन्थों में वह विद्या की अधिष्ठात्राी देवी के रूप में उपास्य है।

नारी जाति के अनन्य हितैषी एवं सर्वोच्च उन्नायक महर्षि दयानन्द ने 'शतपथ ब्राह्मण' के वचन 'योण वै सरस्वती' को आधार बनाकर सरस्वती का विदुषी नारीपरक अर्थ किया है। सरस्वती वैदिक आर्यों की पूज्य देवी थी। इसने वैदिक–सभ्यता को अत्यधिक प्रभावित किया था। यह ऋग्वैदिक काल की सबसे विशाल नदी थी। वैदिक सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में इसका योगदान महत्त्वपूर्ण है। ऋषियों ने इसके तट पर निवास करते हुये ऋचाओं का दर्शन किया और वेद अस्तित्व में आये। यह नदी स्नेहाधिक्य के कारण नदी देवता बनी तथा पुनः वाक् रूप में वाग्देवी बनी। ऋग्वेद में आपः का वर्णन है। ये जल सामान्यतः नदियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऋग्वेद[10] में विपाशा, गंगा, यमुना, शुतुद्रि, सिन्धु, परुष्णी और सरस्वती नदियों के काव्यमय वर्णन हैं। ऋग्वैदिक कवि सरस्वती की स्तुति करते हुये भावविभोर होता है। वह सरस्वती को माताओं, नदियों और देवियों में सर्वश्रेष्ठ बताते हुये गाता है–

''अम्बितमे, नदीतमे, देवितमे सरस्वति'' (ऋ. 2/4/16)।

सरस्वती पवित्रा करने वाली, अन्नदात्राी और बलसम्पन्ना है। यहाँ सरस्वती एक नदी देवता के रूप में चित्रित है। सरस्वती के अङ्गों, सौन्दर्य आदि की अभिव्यक्ति भौतिक सन्दर्भ में की गई है। सरस्वती के सौन्दर्य को विविध विशेषणों से अभिव्यक्त किया है, यथा– सुयमा[11], शुभ्रा[12], सुभगा[13], सुपेशस आदि। सरस्वती के मानसिक पक्ष को स्पष्ट करते हुये उसे 'धियावसु', 'चोदयित्राी सुनृतान्', 'साधयानी धियम्' आदि कहा है। सामाजिक पक्ष में सरस्वती को माता, बहिन, पत्नी, पुत्राी तथा सखी के रूप में प्रस्तुत किया है। माता के सम्बन्ध में 'अम्बितमा, सिन्धुमाता'[14] आदि कहा है। बहिन के रूप में उसे 'सप्तस्वसा', 'सप्तधातु'[15], 'सप्तधी', 'ऋतावरी' आदि कहा है। पत्नी के रूप

---

[8] सरस्वति देवनिदो निर्वहय प्रजां विश्वस्य वृसयस्य मायिनः।
उत क्षितिभ्योऽवनीरविन्दो विषम् एभ्यो अस्रवो वाजिनीवति।। 6/61/3

[9] सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीम् अध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्न सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्।। ऋ. 10/17/7

[10] इमं मे गंगे यमुने सरस्वति (ऋ. 10/75/5)।

[11] सुयमा – ऋ. 7.95.4।

[12] शुभ्रा – ऋ. 7.95.4।

[13] सुभगा – ऋ. 7.95.4।

[14] सिन्धुमाता – ऋ. 7.95.2; अम्बितमे – ऋ. 2/4/16।

[15] सप्तस्वसा, सप्तधातु – ऋ. 7.36.6।

में वह वीरपत्नी, मरुत्वती[16] है। 'पावीरवी'[17] उसके पुत्रीरूप को व्यक्त करता है। 'मरुत्सखा'[18], 'सख्य'ादि से उसका सखीरूप ज्ञात होता है। सरस्वती 'धनदात्री', 'अन्नदात्री' तथा 'सन्तानदात्री' है, इस तरह उसको 'रत्नधा', 'मयोभूः' कहा है। वह इडा और भारती के साथ ऋग्वैदिक देवियों का त्रिक बनाती है। सरस्वान् उसका पति है।

वह सरस्वती शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सब तरह की पवित्राता करने वाली है। विद्या अन्न देती है, अनेक तरह के बल भी इससे प्राप्त होते हैं। बुद्धिपूर्वक किये जाने वाले कर्मों को यह सफल करती है। यथा –

''पावकाः न सरस्वती वाजेमिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः।'' (ऋ. 9/3/90)

सरस्वती सत्य कर्मों को प्रेरणा देने वाली है और उत्तम बुद्धियों को बढ़ानेवाली है ''चोदयित्री सुनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्''। यह विद्या की देवी यज्ञ को पूर्ण रूप से धारण करती है (ऋ. 1/3/11)।

सरस्वती ज्ञान से संसार रूपी महासागर का ज्ञान कराती है और सब प्रकार की बुद्धियों को प्रकाशित करती है। यथा–

''महो अर्णः सरस्वती। प्र चेतयती केतुना।
धियो विश्वा वि राजति।।'' (ऋ. 1/3/12)

सरस्वती रत्नधा के साथ सुभगा भी है। ऋषि कहता है 'हे भाग्ययुक्त सरस्वती हमें सुख दे' – ''सरस्वती नः सुभगामयस्करत्'' (1/89/3)

ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में वाग्देवता का स्वरूप उद्‌घाटित किया गया है। यथा–

''चत्वारि वाक् परिमिता पदानि,
तानि विदुब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति,
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।'' (ऋ. 9/164/45)

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी – ये वाणी के चार रूप हैं। जो ज्ञानी ब्राह्मण हैं वे ही इन चारों को जानते हैं। उनमें ये तीन वाणियों के स्थान गुप्त हैं, वे प्रकट नहीं होते। मनुष्य वाणी के चतुर्थ रूप (वैखरी) को बोलते हैं।

निम्नांकित सूक्त में कवि वाक् पर गौ का आरोप करते हुये कहता है–

''गौरीमिमाय सलिलानि तक्ष–
त्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टपदी नवपदी बभूवुषी,
सहस्राक्षरा परमे व्योमन्।।'' (ऋ. 1/10/4)

यह वाक् रूपी गौ अर्थात् काव्यमयी वाक् एक, दो, चार अथवा आठ, नौ पदों वाले छन्दों में विभक्त हुई है। वह अनेक प्रकार की है, हज़ार अक्षरों तक इसकी सीमा है।

---

[16] मरुत्वती, वीरपत्नी – ऋ. 2.31.8, 6.49.7।
[17] पावीरवी – ऋ. 6.49.7।
[18] मरुत्सखा – ऋ. 7.97.2।

वह सारे आकाश में व्याप्त है। शब्द आकाश का गुण है इसलिये वाणी भी आकाश का गुण है।

ऋग्वेद में वाणी की विश्वरूपता का पूर्ण आभास कराया गया है। यहाँ ब्रह्म से तादात्म्य का साक्षात् अनुभव करती हुई वागम्भृणी सूक्त की अधिष्ठात्राी, 'अम्भृण ऋषि' की पुत्राी वाक् स्वयं कहती है – ''मैं रुद्रों एवं वसुओं के साथ घूमती हूँ, मैं आदित्यों एवं विश्वदेवों के साथ चलती हूँ, मैं मित्रा और वरुण को धारण करती हूँ; इन्द्र, अग्नि और दोनों अश्विनों को मैंने ही थाम रखा है। मैं सोम को धारण करती हूँ; त्वष्टा, पूषा एवं भग को भी मैं ही धारण करती हूँ; मैं ही हविष्मान, सोमपीसी यजमान के लिये द्रविण प्रस्तुत करती हूँ। मैं सम्पूर्ण जगत् की ईश्वरी एवं धनों को प्राप्त करानेवाली, यज्ञियों को सर्वप्रथम ज्ञान से सचेत करने वाली हूँ, ऐसी मुझे देवताओं ने नाना रूपों में रख दिया है। हे विद्वान्! सुनो श्रद्धा से प्राप्त होने योग्य इस सत्य (ब्रह्म) को सुनो। मैं जिस –जिसको चाहती हूँ उसको ब्रह्मा, ऋषि और सुमेधा बना देती हूँ। ब्रह्मद्वेषी तथा हिंसकों को मारने के लिये मैं रुद्र के लिये धनुष को तानती हूँ। मैं ही आकाश और पृथ्वी में समायी हुई हूँ।'' (ऋ. 10/125) 'वागाम्भृणीय सूक्त' की द्रष्ट्री 'वाक्' साक्षात् ब्रह्मचैतन्यस्वरूपा है। यह विश्वात्मा का प्रतीक है। यहाँ वाणी ने अपनी महिमा का वर्णन करते हुये विश्व की सर्वोच्च शक्ति के स्वरूप का आभास कराया है।

'यजुर्वेद' में भी सरस्वती का प्रथम नदीरूप दिखाया है। उसकी विशिष्ट उपाधियाँ हैं– 'यशोभागिनी', 'हविष्मती'[19]। यहाँ उसे एक चिकित्सक के रूप में प्रस्तुत किया है। वह आयुर्वेद ज्ञानरूप सरः से युक्त है तथा अपने वैद्यकशास्त्रा के ज्ञान से सबका हित साधती है।[20]

'वाक्' के रूप में यह सरस्वती सप्तस्वरात्मिका[21] और सप्तनादात्मिका है क्योंकि सब स्वर और नाद इसी से निकलते हैं। वाणीरूपा यह सरस्वती ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का स्रोत है, यह तथ्य स्पष्टतः यजुर्वेद के एक मन्त्रा में संकेतित है जहाँ कहा गया है कि पाँच नदियाँ सरस्वती की ओर जाती हैं और वहाँ से अपनी–अपनी (विषयरूपिणी) शक्ति के प्रवाह को प्राप्त करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वाणी ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों– रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि को विभक्त कर वर्णित है। यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में ऋषि हवन करते हुये वाक् की स्तुति करता है। यथा–

'जुष्टो वाचो भूयासं जुष्टो वाचस्पतये देवि वाक्।
यद्वाचो मधुमत्तस्मिन्मा धाः स्वाहा सरस्वत्यै।।'[22]

''हे वाग्देवि! शब्दरूप में वाणीसंबेधी जो माधुर्य है, उसे मुझमें स्थापित करो।' उसे 'चेतन्नी सुमतीनां' तथा 'चोदयित्री सूनृतानां'[23] कहा है। अथर्ववेद में सरस्वती को शिवा[24], शन्तमा चिकितुषा[25] आदि विशेषणों से संबोधित किया है। अथर्ववेद में सरस्वती

---

[19] हविष्मती – यजु. 20.74।
[20] सरः प्रशस्त आयुर्वेदबोधो विद्यते यस्याः सा (यजु. 19.12) (द.भा.)
[21] यजु. 34.11।
[22] कृष्ण तैत्तिरीय संहिता (तृतीय काण्डात्मकः – पं.भा.) 3.1.10।
[23] यजु. 20.83।
[24] शिवा – अथ. 7.68.3।
[25] चिकितुषा – अथ. 6.6.13।

को चिकित्सा विद्या से सम्बद्ध करते हुये स्तवन किया गया है। अथर्ववेद में औषधियों का वर्णन है। इस अध्याय के प्रथम शीर्षक में सरस्वती की स्तुति करते हुये कहा है कि वह अग्नि, सविता तथा बृहस्पति के साथ मनुष्य की खोई हुई शक्ति को बढ़ाये तथा थके अङ्गों को धनुष्य के समान दृढ़ बनाये। सरस्वती ने अश्विन के साथ इन्द्र की चिकित्सा की थी। अथर्ववेद के कतिपय मन्त्राों में सम्पत्ति के स्वरूप तथा उसकी बुराइयों का मनोहारि वर्णन है। धन के कारण मनुष्य में अहंकार आ जाता है। वह अहंकार से चारित्रिाक मूल्य खो देता है, फलतः इस वेद में मनुष्य को उपदेश दिया गया है कि सरस्वती की शरण में जाओ, जिससे उसमें कोमल विचार तथा सत्य वाणी जन्म लें। सरस्वती को एकता तथा मित्राता लाने वाली बताया गया है।

ब्राह्मणों में सर्वप्रथम 'वाक्' पर विचार किया गया है। ब्राह्मणों के अनुसार सरस्वती नदी थी, जल की पवित्राता के कारण वह 'वाक्' तथा 'वाक् देवी' बन गयी। विश्व की उत्पत्ति का सिद्धान्त भी वाक् से सम्बद्ध है। ब्राह्मण काल यज्ञ–प्रधान था। यज्ञों में वाणी की प्रधानता होती थी। प्रायः सभी ब्राह्मणों ने एक स्वर से 'वाग्वै सरस्वती' कहा है। वाचस्पति वाक् का स्वामी अथवा वाणीस्वरूप है। वाक् का तादात्म्य कभी–कभी जलों से पाया जाता है। ये संसार की उत्पत्ति के प्रथम तत्त्व हैं। प्रजापति जब सृष्टि करना चाहते थे तो सर्वप्रथम उन्होंने जलों को उत्पन्न किया। तदनन्तर अन्य वस्तुयें उनसे उत्पन्न हुई। वाक् इस प्रकार जल का प्रतिनिधित्व करती है।

'शतपथ ब्राह्मण' में सरस्वती को 'वाक्' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। श.ब्रा. के अनुसार इस प्रजापति को प्राण तथा वाक् से संयुक्त दिखाया गया है। वाक् प्राणों का प्रकटीकरण है। ''वाग्वै सरस्वती तस्मात्प्राणानां वागुत्तमम्''।[26] ऐतरेय ब्राह्मण भी सरस्वती को वाग्देवता के रूप में प्रस्तुत करता है– ''वाक्तु सरस्वती'', ''सरस्वती हि वाग्देवता''। यहाँ भी प्राण और वाक् का सम्बन्ध है। यथा–

> 'सरस्वतीवान्भारतीवानिति वागेव
> सरस्वती प्राणो भरतः इति।' (ऐतरेय ब्राह्मण, अ. अ., षष्ठ खण्ड)

सरस्वती के आधिभौतिक और आधिदैविक स्वरूप को वेदों और ब्राह्मणों ने प्रस्तुत किया। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञ मनीषियों ने 'वाक्' का चिन्तन, मनन करते हुये उसका आध्यात्मिक स्वरूप प्रस्तुत किया।

'तैत्तिरीयोपनिषद्' में अध्यात्म दर्शन के सन्दर्भ में वाणी को 'सन्धि' और जिह्वा को 'सन्धान' कहा है। यथा– ''वाक्सन्धिः। जिह्वा सन्धानम्। इत्यध्यात्मम्।'' (तै.उ. तृ.अ. ।।4।।)

¬कार से सम्पूण वाणी व्याप्त है। उपनिषदों में वाक् के कलापक्ष का भी पर्याप्त चिन्तन किया गया है। वाक् स्वयं अभिव्यक्ति है अतः वाक् की अभिव्यक्ति ही संवेदनशील होने पर आह्लादकता एवं माधुर्य भाव को उद्दीप्त करती है। यही उसका कलात्मक स्वरूप है। 'वाक्' का कलात्मक पक्ष ही अपने आभ्यन्तरिक स्वरूप में रस की निष्पत्ति करता है और बाह्य स्वरूप में सौन्दर्य का सृजन करता है। वाक् की सौन्दर्य–मीमांसा करते हुये छान्दोग्योपनिषद् कहता है– ''वाक् का रस (सौन्दर्य) ऋक् (कविता)

---

[26] शतपथ ब्राह्मण।

है। ऋक् का रस साम (लय, नाद सौन्दर्य या समरसता) साम का रस उ෴ीथ है। ऋक् (छन्दबद्ध स्वर) तथा साम (ताल लयबद्ध नाद) से उ෴ीथ (अक्षरस्वरूप ब्रह्म) की प्राप्ति संभव है। गीत ही स्वर–शक्ति है, ताल, गति, छन्दबद्ध है। उ෴ीथ ही लय है, प्राण शक्ति है। दोनों का सामरस्य ही आह्लाद की रसानुभूति कर स्रोत है। यह वही 'उ෴ीथ' प्रणव अथवा ओंकार है।'' ''तस्यापि साम्न उ෴ीथ प्रकृतत्वादोंकारः सास्तरः'' (छा. उ. प्रथम खण्ड।।2।।)

यह वही उ෴ीथ प्रणव अथवा ¬कार परम रस है। यथा ''स एष रसाणां रसतमः परमः पराध्यो्ऽष्टमो यदु෴ीथः।।'' (छा.उ. प्र.खण्ड।।3।।) काव्यमीमांसकों ने इसी उ෴ीथ को 'रसो वै सः'' कहा है। 'गीत' ही बाह्य स्वरों की साधना है, उ෴ीथ ही आभ्यन्तर नाद की उपासना है। वाक् के सूक्ष्म स्वरूप मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा वाणी की आभ्यन्तर संगीत का सृजन करते हैं। पत×जलि ने अपने अष्टांग योग निरूपण में प्रत्याहार की यौगिक प्रक्रिया माध्यम से ही इसे श्रव्य एवं साध्य बताया है। उपर्युक्त वाक् ही छन्दों का अलंकरण पाकर अपनी रूप–सुषमा को व्यक्त करती है। यही वाक् ऋक्, छन्द, श्लोक अथवा कविता है। वाक् का अनुशासनबद्ध निष्पन्द ही कविता है। गीतों की समरसता अथवा सुसंगति ही वाणी को निखारती है। स्वरों का मात्रा स्पन्दन या आघात ही नहीं अपितु स्थूल ध्वनि सौन्दर्य का सूक्ष्म प्राणशक्ति के साथ ऐक्य स्थापित करने पर ही सामगान संभव है। कविता का ऋङ्गार है 'गीत', गीतों का परिपाक है उ෴ीथ, यही गीत (साम) आह्लादक स्वरूप का द्योतक है तथा इसी आह्लादकता में माधुर्य तथा माधुर्य रस है। रस का नाम ही आनन्द है। अतः वाक् के कला पक्ष की चरम परिणति आनन्द की सृष्टि में है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में वाक् के अधिदैवत पक्ष की व्याख्या की गयी है। 'वाक्' ही यज्ञ का होता है।[27] पृथ्वी और अग्नि से इसमें दैवी वाक् का आवेश होता है। वह दैवी वाक् ही ब्रह्म का चौथा पाद है। बृहदारण्यकोपनिषद् वाक् के सृष्टिपरक स्वरूप को ही वर्णित करता है। यथा–

''स तया वाचा तेनात्मना इदं सर्वम् सृजत्''

वाक् के रहस्यात्मक स्वरूप का निर्देशक प्रणव (¬कार) है, यही ब्रह्म है। ब्रह्म का पर्याय प्रजापति है। ''वाक्'' उसकी शक्ति है। अतः प्रणव ही वाक् का मूल तत्त्व है। वाक् का सम्पूर्ण वैभव ही प्रणव का विलास है। उ෴ीथ ही प्रणव है। वही ओऽम् अक्षर पूर्णत्व के पर्याय ब्रह्म की महिमा का लक्ष्य कराने वाला एवं भूत, भविष्य तथा वर्तमान को अपने में समाहित करने वाला है।[28] वाक् ही परब्रह्म है (मा.उ. 1.1)। 'वाक्' का मन और प्राण से अनन्य सम्बन्ध है। यथा–

''अथ यदाऽस्य वाऽमनसि संपद्यते मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति।'' (छा.उ. 6.5.1–4)

'तैत्तिरीयोपनिषद्' में ओङ्कारोपासना का विधान है। ¬कार के स्वरूप और उसकी उपासना का महत्त्व वर्णित हैं। 'ओङ्कार' से बुद्धि, बल और लक्ष्मी के लिये उपासना (तै.उ. 4/1–2)। 'छान्दोग्योपनिषद्' के अनुसार 'वाक्' ही ऋग्वेद को

---

27 बृ.उ. 3.1.4।

28 मा.उ. 1.1।

विज्ञापित करती है। यजुर्वेदादि चारों वेद, प×चम – नाट्यवेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पत्ति–शास्त्रा, निधि–ज्ञान, तर्कशास्त्रा, नीति, निरुक्त, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूत–विद्या, नक्षत्रा–विद्या, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु–पक्षी, तृण, वनस्पति, हिंसक पशु, कीट–पतंग, पिपीलिका पर्यन्त प्राणी, धर्म और अधर्म, सत्य–असत्य, साधु और असाधु, मनोज्ञ और अमनोज्ञ जो कुछ भी है, उसे वाक् ही विज्ञापित करती है। वाणी के द्वारा ही हमें इन सबका ज्ञान प्राप्त होता है। अतः वाणी की उपासना करना श्रेयस्कर है। (छा.उ. 7.2/1–2)

बृहदारण्यकोपनिषद् में वाक् को धेनु कहा है ''वाचं धेनुमुपासीत्'' (बृ.उ. 5/8.1)।

''यथा धेनुरभीष्टं दुग्धं ददाति, तथा वाग्देव्यापि।
धेनुरूपेणोपायिता साधकाय, सर्वाभीष्टं प्रददाति।''

'सरस्वती–रहस्योपनिषद्' में भी इसी प्रकार सरस्वती को सर्वकायदुधा धेनु कहा है। यथा –

''व्यक्ताव्यक्तगिरः सर्वे वेदाद्या व्याहरानी याम्।
सर्वकामदुधा धेनुः सा मां पातु सरस्वती।'' ।।28।।

'सरस्वती–रहस्योपनिषद्' में वह सुरेश्वरी है। यथा –

''अध्यात्मधिदैवं च देवानां सम्यगीश्वरी।
प्रत्यग्रास्ते वदन्ती या सा मां पातु सरस्वती।।'' (16)

'सरस्वती–रहस्योपनिषद्' में वाक् के रूपों का वर्णन तथा काव्यात्मक एवं प्रभावोत्पादक स्तुति समाविष्ट है। सृ=सरस, अर्थात् जो सरस की अधिष्ठात्री देवता है वही सरस्वती है। 'सृ' का अर्थ गति भी है। उस गति की अधिष्ठात्राी देवी, जिससे सभी गतियाँ प्रवर्तित होती हैं, सब आलोक प्रकाशित होता है, वही सरस्वती है। इसी सरस्वती की मातृ रूप में, नदी रूप में तथा देवता रूप में स्तुति की गयी है।

यही मातृश्रेष्ठा सरस्वती वाग्देवी है, जो शब्दब्रह्मात्मिका, मातृकास्वरूपिणी है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का एक परमोत्तम साधन है। यह परमार्थतः ब्रह्मस्वरूपिणी एवं चिन्मयी है। यही अखिल जगत् की नादस्वरूपिणी है। 'सरस्वती–रहस्योपनिषद्' में ऋग्वेद और यजुर्वेद के कतिपय मन्त्रा समाविष्ट हैं। यथा–

1. अम्बितमे नदीतमे देवीतमे सरस्वति।
2. ये चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुब्राह्मणा ये मनीषिणः।
3. 'श्री' पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
4. चोदायित्राी सूनृतानां चेतन्नी सुमतीनां।

'सरस्वती' के स्वरूप की दुर्बोधता सरस्वती रहस्योपनिषद् में प्रकट होती है। यथा–

''सं'' उत त्वद पश्यन्न ददर्श वाचमृत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।9।।

वेदों के समान ही पुराणों में भी सरस्वती नदी को पवित्रा माना गया है। पुराणों में प्रायः तीस स्थानों पर पुण्यात्माओं के यज्ञ आदि के अवसर पर नदी रूप में प्रकट होकर प्रवाहित होने के अत्यन्त रमणीय उपाख्यान प्राप्त होते हैं। जब ब्रह्माजी पुष्कर में यज्ञ कर रहे थे तो ऋषियों की प्रार्थना पर सरस्वती नदी के रूप में वहाँ प्रकट हुई थी। उसका तब 'सुप्रभा' नाम था। नैमिष्यारण्य में शौनकादि ऋषियों के द्वादशवर्षीय

सत्रा में उनके ध्यान करने पर का×चनाक्षी रूप में प्रकट हुई। गया नगरी में जब महाराज गय यज्ञानुष्ठान कर रहे थे तब वहाँ ध्यान करने पर सरस्वती नदी के रूप में प्रकट हुई। प्रयाग की सरस्वती तो अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसी प्रकार मनोरमा, सुरेणु, ओघवती नामों से कुरुक्षेत्रा, पुण्यमय हिमालय पर्वतादि स्थानों पर प्राणियों को पवित्रा करने के लिये नदी के रूप में प्रवाहित हुई हैं।

पुराणों में भगवती सरस्वती समस्त ज्ञान–विज्ञान, विद्या, कला, बुद्धि, मेधा, धारणा, तर्कशक्ति एवं प्रत्यभिज्ञा की प्रतिनिधिरूपा वाणी की अधिष्ठात्राी शक्ति है। शब्दब्रह्म शब्द से व्यपदिष्ट ज्ञानात्मिका शक्ति भगवती शारदा साक्षात् ब्रह्मस्वरूपिणी ही है। ये महालक्ष्मी तथा महाकाली से भिन्न है। वसन्तप×चमी को इनका आविर्भाव दिवस माना जाता है। आचार्य व्याडि ने अपने प्रसिद्ध कोष में स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट करते हुये कहा है कि 'श्री' शब्द लक्ष्मी, सरस्वती, बुद्धि, ऐश्वर्य, अर्थधर्मादि पुरुषार्थों, अणिमादि सिद्धियों, सौन्दर्य तथा मांगलिक उपकरणों एवं वेशरचना – इन अर्थों में प्रयुक्त है। इसीलिये सरस्वती को श्री और श्रीप×चमी कहा है। अन्य कोषों में इन्हें भारती, ब्राह्मी, वाग्देवी, वाणी, भाषा, शारदा आदि नामों से अभिहित किया गया है। सभी आगम–ग्रन्थों में सरस्वती को विद्या की अधिष्ठात्राी देवी के रूप में माना गया है। इसकी उपासना से सम्बन्धित अनेक मन्त्रा, यन्त्रा तथा स्तोत्रा प्राप्त होते हैं। मार्कण्डेय पुराण में श्री दुर्गासप्तशती में शुभ–निशुम्भ के माने जाने पर महासरस्वती ने जो रूप धारण किया, उसका स्वरूप और ध्यान इस प्रकार है– ''स्वहस्त में घण्टा, त्रिशूल, हल, शंख, मूसल, चक्र, धनुष और बाण को धारण करने वाली, गौरी देह से उत्पन्न, शरद ऋतु के शोभा–सम्पन्न चन्द्रमा के समान कान्तिवाली, तीनों लोकों की आधारभूता, शुम्भादि दैत्यमर्दिनी, महासरस्वती को हम नमस्कार करते हैं।''

'देवीसप्तशती' में इन्हें महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्या, ब्राह्मी, कामधेनु, वेदगर्भा और धीश्वरी नामों से अभिहित किया है।

'देवीपुराण' में सरस्वती के नाम इस प्रकार हैं– 1) त्रायी, 2) विद्या, 3) कामधेनु, 4) भाषा, 5) स्वरा, 6) अक्षरा।

'श्रीमद्भागवतपुराण' में त्रायीविद्या के रूप में भगवती सरस्वती ब्रह्मा के मुख से विवर्तित हुई है। यथा–

''प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वजातस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्।।'' (श्रीमद्भागवत 2/4/22)

महर्षि वाल्मीकि, व्यास, वसिष्ठ, विश्वामित्रा आदि को इनकी साधना से, उपासना से शक्ति प्राप्त हुई थी। देवी ने महर्षि वाल्मीकि पर अनुग्रह कर रामायण–रचना करने की शक्ति प्रदान की। महर्षि व्यास को वेदों के निर्माण तथा पुराण, महाभारत आदि के निर्माण करने की शक्ति प्रदान की। सरस्वती ने व्यास पर प्रसन्न होकर कहा था–

''पढ रामायणं व्यास काव्यबीजं सनातनम्।
यत्रा रामचरितं स्यात् तदहं तत्रा शक्तिमान।।'' (बृह. 1/30/47)।

आगमों में इनके कई मन्त्रा निर्दिष्ट हैं। जिनमें दस अक्षरों का यह मन्त्रा– 'ऐं वाग्वादिनी वद वद स्वाहा' सवार्थसिद्धिप्रद तथा सर्वविद्याप्रदायक कहा गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में प्रदिष्ट उनका एक मन्त्रा इस प्रकार है– ''¬ ऐं ह्रीं क्लीं सरस्वत्यै बुधजनन्यै स्वाहा''।

भगवती शारदा की श्वेत पुष्प, श्वेत चन्दन, श्वेत वस्त्राालङ्कारों से पूजा करनी चाहिये।

'देवीपुराण' में अन्य प्रकार से निर्वचन किया गया है–

''स्वरैः स्मरणशीलत्वात् ज्ञेया सप्रस्वरात्मिका।
अति प्रापणे दाने वा तेन देवी सरस्वती।। (37/53)

(सर्वव्यापि) बृहद् शरीर होने के कारण ब्राह्मी नाम सार्थक है। (37/40)

इसी पुराण में 'वेदमाता' के स्वरूप में उसका वर्णन है। यथा–

''यतः शृङ्गाटकाकारकुण्डलिन्याः समु०ता।
स्वराश्च व्य×जनानीति वेदमाता ततः स्मृता।। (37/42)

'ब्रह्मपुराण' में 101 अध्याय में सरस्वती का 'सरस्वतीसंगमतीर्थ' के रूप में वर्णन है। 102 अध्याय में 'प×चतीर्थ माहात्म्य–वर्णन' में सरस्वती को सावित्राी, गायत्राी, श्रद्धा और मेधा के साथ ब्रह्मा की ज्येष्ठ कन्याओं के रूप में वर्णित किया है।

पुराणों में सरस्वती की मूर्त्तिवत्ता में पर्याप्त परिवर्तन आने के कारण उसके प्रतिमा–निर्माण की अनेक विधियाँ निर्धारित की गयीं। 'अग्निपुराण' के अनुसार ब्रह्मा के बायें भाग में सरस्वती तथा दाहिने में सावित्राी की मूर्ति स्थापित होनी चाहिये। 'मत्स्यपुराण' के अनुसार सरस्वती की प्रतिमा भी ब्रह्म के सदृश ही चार मुखों, चार हाथों, हंसाधिरूढा, अक्षमाला एवं कमण्डलुधारिणी होनी चाहिये। इस पुराण में कहा गया है कि वेदों एवं शास्त्राों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से हुई है, अतः सरस्वती के मुख की कल्पना वेद से करना निश्चित रूप से उसकी उत्पत्ति तथा ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न वेदशास्त्रा विषयक सिद्धान्त का दृढीकरण है। 'रूपमण्डन' में सरस्वती के 'महाविद्या' एवं 'सरस्वती' – दो भेद किये हैं। उनमें से 'महाविद्या' को एकमुखी बताया गया है। इससे भिन्न ब्रह्मा की भाँति सरस्वती को पाँचों मुखों वाली बताया गया है। चारों वेद और पाँचवें नाट्यवेद का निर्माण ब्रह्मा ने ही किया है। पाँचों मुख वेद के प्रतीक हैं। नाट्यवेद में सम्पूण शास्त्रा एवं कलायें अन्तर्भूत हो जाती हैं। वेद का प्रतीक होने से सरस्वती को इसी कारण सभी कलाओं एवं विज्ञानों का प्रतिनिधित्व करती हुई, उनको 'सर्वसङ्गीतसन्धानतालकारणरूपिणी' कहा गया है। परन्तु कतिपय पौराणिक उपाधियों यथा 'वीणापुस्तकधारिणी' से उनके द्विहस्ता होने का निर्देश है। अग्निपुराण में चारों हाथों वाली बताया है। यथा–

''पुस्ताक्षमालिका हस्ता वीणाहस्ता सरस्वती''। (अ.पु. अ. 50.16)

'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में उनको चतुर्हस्ता कहा है। उनके बायें हाथ में कमण्डलु एवं वीणा सुशोभित है, उनके दोनों दाहिने हाथों में क्रमशः पुस्तक एवं अक्षमाला है। कमण्डलु शास्त्राों के सार को बोधित करता है। सरस्वती का सम्बन्ध सर्वप्रथम जल से रहा है, उस प्राचीनतम संसर्ग को यह कमण्डलु व्यक्त करता है। हस्तधारित पुस्तक सर्वविद्याओं की उत्पत्ति बताता है। सरस्वती की वीणा संसिद्धि अथवा प्रवीणता का प्रतिनिधित्व

करती है। वीणा एवं पुस्तक को धारण करने से उनका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट होता है। वह प्रमुख रूप से वागधिष्ठात्राी देवी है, अतएव वाक् का प्रतिनिधित्व नितान्त सहज है। 'वाक्' का विभाजन ध्वनि एवं शब्द में किया जाता है। पुस्तक का सम्बन्ध 'वाक्' से तथा वीणा का ध्वनि से मानते हैं। वीणा वाद्ययन्त्रा उसकी प्राचीनता का द्योतक है। सोम –संगीत की उत्पत्ति में वह महान सहायक सिद्ध हुई। सरस्वती की अक्षमाला समय का प्रतिनिधित्व करती है। उससे समय, गति अथवा काल मापन का बोध होता है। ऋग्वेद मे सरस्वती नदी को देवी माना है। देवी के रूप में वह अपने जल द्वारा वहन की जाती है। पौराणिक काल में वाहनों को प्रतीक रूप में विरूपित किया है। ब्राह्मण और पुराणों में सरस्वती का वाहन हंस है जो उसने अपने पिता ब्रह्मा से पैतृक सम्पदा के रूप में प्राप्त किया था। 'मत्स्यपुराण' में ब्रह्मा के साथ ही सरस्वती को भी हंसाधिरूढ बताया है। हंस के अतिरिक्त मोर को भी सरस्वती का वाहन माना गया है।

पक्षियों में हंस श्रेष्ठ है। कवियों एवं अध्यात्मवादियों ने इसे भिन्न प्रसंगों में भौतिक तथा अध्यात्मतत्त्वों से जोड़ा है। हंस नीर–क्षीर विवेकी है। हंस का ज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। 'हंस' एक मन्त्रा का नाम है। 'मयूर' भी उसका वाहन है। मोर के लिये संस्कृत में 'शिखिन्' शब्द का प्रयोग है। 'शिखिन्' शब्द मोर तथा अग्नि का वाचक है। अग्नि का तादात्म्य सरस्वती से है और सरस्वती का यज्ञ से। अग्नि की तीन लपटें सरस्वती के तीन रूपों का प्रतिनिधित्व करती हैं। सरस्वती अग्नि के साथ अपने अटूट सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने के लिये मोर को वाहन बनाती है।

भगवती शारदा का मूल स्थान शशाङ्कसदन है जहाँ से वे निरन्तर अपने उपासकों के लिये ज्ञानामृत की धारा प्रवाहित करती है। उनका विग्रह शुद्ध ज्ञानमय, आनन्दमय है और इसीलिये उनके उपासकों के हृदय में ज्ञानयुक्त शान्ति अक्षुण्ण बनी रहती है तथा किसी भी बाह्य आकर्षण से वे तटस्थ रहते हैं।

वेद, ब्राह्मण, उपनिषदों और पुराणों में सरस्वती का नदी रूप में तथा वाक् या विद्या की अधिष्ठात्राी देवी–रूप में काव्यमय स्तवन किया गया है। सायण, सातवलेकर, शङ्कराचार्यादि विद्वानों ने सरस्वती को उपर्युक्त रूपों में ही प्राकृतिक, भौतिक तथा देवतापरक प्रतीकात्मक दृष्टिकोण से व्याख्यायित किया। नारी जाति के अनन्य हितैषी महर्षि दयानन्द ने वैदिक सरस्वती की व्यावहारिक व्याख्या करते हुये 'सरस्वती' को विदुषी नारी के रूप में देखा। महर्षि दयानन्द ने नारी को इस उदात्त 'सरस्वती' पद पर आरूढ होने का आवाहन दिया है– जहाँ उसका निष्कलंक चरित्रा ही धवल वेश हो, उसकी अद्भुत कार्यकुशलता ही उसके चार हाथ हों, उसकी कलाप्रियता एवं संगीतप्रवणता ही उसे वीणाधारिणी बनायें, उसके अन्दर वेदविद्यायुक्त प्रशस्त ज्ञान हिलोरें मारता हो, सात्विकता ही हंसरूप में उसका वाहन हो, वह विवेक के स्रोत को प्रवाहित करें। वे विदुषी माँ, हम अप्रशस्त से हो गये हैं। हमें प्रशस्त बनाओ–

''अम्बितमे नदीतमे देवीतमे सरस्वती।
अप्रशस्ता इव स्मयिप्रशस्तिमग्वनस्कृधि।।''

संदर्भ

1. ऋग्वेद संहिता – भाषा–भाष्य।
2. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य – श्री दा. सातवलेकर।
3. यजु. अथ. द. भा.।
4. वैदिक वाङ्मय – एक अनुशीलन (प्र. भा.) व्रजबिहारी चौबे।
5. कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता (तृ.का. प×चमो भागः) सायणभाष्योपेता।
6. ऐतरेय ब्राह्मणम् – श्रीमत्सायणाचार्यविरचितभाष्यसमेतम्।
7. तैत्तिरीयोपनिषद् – गीताप्रेस, गोरखपुर।
8. कठोपनिषद् – गीताप्रेस, गोरखपुर।
9. माण्डूक्योपनिषद् – गीताप्रेस, गोरखपुर।
10. छान्दोग्योपनिषद् – आनन्दगिरिकृत टीका संवलित शाङ्करभाष्यसमेता।
11. ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व – गणेश दत्त शर्मा।
12. शाक्तदर्शनम् – पं. चन्द्रशेखर भट्टाचार्य दलै।
13. वैदिक अनुशीलन – शशिप्रभा कुमार।
14. ब्रह्मपुराण – तारिणीश झा।
15. अग्निपुराण – तारिणीश झा।
16. मत्स्यपुराण – तारिणीश झा।
17. भागवतपुराण – तारिणीश झा।
18. मार्कण्डेयपुराण – तारिणीश झा।
19. कल्याण – देवतांक – वर्ष 64।

निगमागम परम्परा

ब्रजवल्लभ द्विवेदी
एम.एम. 3, विकास प्राधिकरण कालोनी
दौलतपुर, पाण्डेपुर, वाराणसी–221002।

सन्त तुलसीदास अपने रामचरितमानस को नाना–पुराण–निगमागम–संमत बताते हैं। यहाँ निगम शब्द वैदिक वाङ्मय और आगम शब्द तन्त्रागमशास्त्र का बोधक है। इन शब्दों की प्रवृत्ति शास्त्रों में विभिन्न अर्थों में देखी जाती है। मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि ''इतरेष्वागमाद् धर्मः'' (1.82) यहाँ आगम शब्द की व्याख्या करते समय उसको वेद का वाचक मानते हैं। निगम शब्द भी वेद का वाचक है, इसकी जानकारी ''इत्यपि निगमो भवति'' ऐसे अनेक निरुक्त–वाक्यों से मिलती है। महाभाष्य पस्पशाह्निक के ''ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'' इस वाक्य को महामुनि पत×जलि आगम–वाक्य कहकर उद्धृत करते हैं, जो स्पष्टतः श्रुतिवाक्य माना जाता है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि अपने ग्रन्थ में आगम शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर (1. 27,30,41,133–134, 2.490,492–493) करते हैं। टीकाकार आगम पद से ऋषिप्रणीत शास्त्रों का और निगम पद से अपौरुषेय वेदों का ग्रहण करते हैं।

कश्मीर के महान् आगमाचार्य तान्त्रिकप्रवर श्रीमान् अभिनवगुप्त भी निगम पद के इसी अर्थ को मान्यता देते हैं। वे ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (भा.1, पृ.15) में निगम पद की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि धर्म को समझने के लिये हमारे जानने के लायक उपायों की निश्चित सूचना देने वाला शास्त्र निगम, अर्थात् वेद है।

आगम पद की व्याख्या वे भिन्न पद्धति से करते हैं। तन्त्रालोक (35.1–2) में वे कहते हैं कि आगमशास्त्र में समस्त जागतिक ज्ञान, पुरातन व्यवहार और प्रसिद्धि को आगम के नाम से जाना जाता है। प्रसिद्धि की भी परिभाषा उन्होंने वहीं (35.19) बताई है कि प्रामाणिक व्यक्ति के द्वारा उपदिष्ट वचन ही प्रसिद्धि की परिधि में आ सकते हैं। ई.प्र.वि.वि. (भा.3, पृ.89) में ही वे कहते हैं कि आगमीय ज्ञान की संक्रान्ति एक शरीर से दूसरे शरीर में (गुरु से शिष्य तक) शब्द के माध्यम से होती है। इसमें वे भगवान् अनन्त के वाक्य को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं कि दूसरे व्यक्ति तक अपने ज्ञान को पहुँचाने के लिये शब्द से सहायता ली जाती है। योगसूत्र–व्यासभाष्य (1.7) में यह वचन आनुपूर्वी से मिल जाता है।

इस विषय को आगे बढ़ाते हुये वे कहते हैं कि आगम पद उस व्यक्ति के लिये उसी शास्त्र का वाचक मान लिया जायेगा, जिस पर उसका विश्वास जम गया हो (ई. प्र.वि.वि., भाग 3, पृ.96)। वे पुनः कहते हैं कि बुद्ध कोई निश्चित व्यक्ति नहीं है, अपनी भावना के सहारे क्षणिकवाद में जो दृढ आस्था जमा लेता है, वही बुद्ध हो जाता है। वर्तमान बुद्ध में इस ज्ञान का संचार पूर्व बुद्ध ने किया था और उसमें भी उसके पूर्ववर्ती बुद्ध ने, इस तरह पारमेश्वरी विमर्शशक्ति ही वस्तुतः इस ज्ञान की उपद्रेष्ट्री सिद्ध होती है। इसी तरह प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों की भावना का उपदेश देने वाले कपिल के विषय में भी समझना चाहिये (ई.प्र.वि.वि., भाग 3, पृ. 97–98)। कहने का अभिप्राय है कि सभी आगम अनादि काल से गुरुशिष्य–परम्परा के माध्यम से निरन्तर चले आ रहे

हैं। आगम की इस परिभाषा के अनुसार सांख्य, योग, पा×चरात्रा, पाशुपत, जैन, बौद्ध आदि सभी शास्त्राों का आगमशास्त्रा में समावेश किया जा सकता है।

इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने छठी शताब्दी के आचार्य वराहमिहिर के उस प्रसिद्ध श्लोक को भी उद्धृत किया है, जिसमें भागवत और शैव आदि उपास्य देवों की चर्चा करते हुये बताया गया है कि जो व्यक्ति जिस देव की उपासना करता है, उसे यह उपासना उक्त शास्त्रा में प्रदर्शित विधि के अनुसार ही करनी चाहिये (ई.प्र.वि.वि., भा.3, पृ.100)। वराहमिहिर की बृहत्संहिता (59.19) में यह श्लोक उपलब्ध है। वराहमिहिर का यह श्लोक भी बहुत प्रसिद्ध है, जिसमें वे कहते हैं कि म्लेच्छों (यवनों) में ज्योतिषशास्त्रा व्यवस्थित रूप में विद्यमान है, अतः उनका भी ऋषियों के समान आदर किया जाता है– ''म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रामिदं स्थितम्। ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते''।

आजकल आगम और निगम के लक्षणों को बताने वाले दो श्लोक बहुत जगह उद्धृत मिलते हैं। उनका भाव यह है कि शिव के मुँह से निकल कर गिरिजा के कान तक पहुँचे तथा वासुदेव के संमत शास्त्रा आगम कहलाते हैं और गिरिजा के मुँह से निकलकर शिव के कान तक पहुँचे तथा वासुदेव के संमत शास्त्रा निगम कहलाते हैं। इस लक्षण के अनुसार शिवोपदिष्ट शास्त्रा आगम और देवी के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रा निगम कहलाते हैं। इसी परिभाषा के अनुसार कलकत्ता से प्रकाशित कुलचूडामणि ग्रन्थ को निगम के नाम से प्रसिद्ध किया गया है। यह परिभाषा वाराहीतन्त्रा में उपदिष्ट प्रतीत होती है। शाक्त तन्त्राों की एक शाखा क्रमगत के नाम से प्रसिद्ध है। इस शास्त्रा का उपदेश भगवती शिव को देती है। ऊपर की परिभाषा के अनुसार इसका निगम विभाग में परिगणन होना चाहिये, किन्तु क्रमदर्शन के सभी आचार्यों ने इसको आगम पद से ही संबोधित किया है। इस तरह से हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण तान्त्रिाक वाङ्मय आगम पद से और वैदिक वाङ्मय निगम पद से संबोधित हुआ है। प्रायः आजकल ये दोनों शब्द इन्हीं अर्थों में रूढ़ हो गये हैं, ऐसा मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

निगम और आगम में समन्वय स्थापित करने का कार्य रामायण, महाभारत और पुराणों के अतिरिक्त धर्मशास्त्राीय निबन्ध–ग्रन्थों के द्वारा भी बहुत पहले ही किया जा चुका है। भगवЏीता को हम इसके उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में रख सकते हैं। महाभारत में वेद के साथ सांख्य, योग, पाशुपत और पा×चरात्रा मत को समान कोटि में रखा है। महाकवि कालिदास जब कहते हैं–

> ''बहुधा ह्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
> त्वय्येव निपातन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे।।'' (10.36)

पुष्पदन्त जब कहते हैं–

> ''त्रायी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
> प्रभिन्ने प्रस्थाने..
> नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।'' (म.स्तो.7)

और वीरमित्राोदयकार जब पूछते हैं– ''ननु सांख्य–योग–पा×चरात्रा–पाशुपताद्यागमाः किं धर्मे प्रमाणमुत न?'' तब वे इन सब शास्त्राों में समन्वय की बात को ही तो प्रतिष्ठापित

करते हैं। स्पष्ट है कि इन सभी शास्त्राों में परस्पर समन्वय के आधार पर ही इनका प्रामाण्य सिद्ध होता है।

आगम और तन्त्राशास्त्रा

आगम और तन्त्रा शब्दों की व्युत्पत्ति एवं इनकी ऐतिहासिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में इस विषय के प्रायः सभी ग्रन्थों में विस्तार अथवा संक्षेप में लिखा गया है। हमें यहाँ केवल इतना कहना है कि ये दोनों शब्द आजकल भारतीय वाङ्मय की एक शाखा विशेष में रूढ़ हैं, जो पहले आगम और बाद में तन्त्रा शब्द से अभिहित हुई। इनका विस्तार से परिचय हमने अपने मराठी भाषा के निबन्ध ''आगम आणि तन्त्राशास्त्रा'' में दिया है। पूना की वेदशास्त्राोत्तेजक सभा के शताब्दी समारोह के अवसर पर प्रकाशित ''प्राचीन भारतीय विद्येचे पुनर्दर्शन'' शीर्षक ग्रन्थ (पृ. 181–196) में यह प्रकाशित हुआ था। बाद में यह दिल्ली से प्रकाशित ''आगम और तन्त्राशास्त्रा'' (पृ.1–26) में राष्ट्रभाषा में छपा।

हालैण्ड के यशस्वी विद्वान् स्वर्गीय जे. गोण्डा ने लिखा है कि दक्षिणभारत में विकसित शास्त्रा आगम और उत्तरभारत में प्रादुर्भूत शास्त्रा तन्त्रा के नाम से जाना जाता है। इसमें कुछ सचाई हो सकती है। इसी आधार पर आजकल आगम और तन्त्राशास्त्रा पर अलग–अलग ग्रन्थों की रचना की जा रही है और तन्त्राशास्त्रा को प×चमकार की उपासना तक सीमित कर दिया गया है, किन्तु वास्तविकता यह है नहीं। त्रिालोचन शिवाचार्य दक्षिणभारत के लेखक माने जाते हैं। मूलतः ये काशी के निवासी थे। चोल राजा राजेन्द्र की काशीयात्राा के अवसर पर उनसे सादर आहूत होकर ये उनके साथ दक्षिणभारत चले गये। इनके सिद्धान्तसारावलि नामक ग्रन्थ पर अनन्तशम्भु ने अपनी विस्तृत टीका (पृ. 258) में इसकी चर्चा की है। इसमें उद्धृत शैवागमों के वचनों में 28 सिद्धान्तशैवागमों की नामावली के साथ तन्त्रा, आगम और संहिता तीनों पदों का प्रयोग हुआ है। यही स्थिति हयशीर्ष–प×चरात्रा की वैष्णवागमों की नामावली की भी है। तन्त्राशास्त्रा के नाम से प्रसिद्ध उसकी सभी शाखाओं में प×चमकार की उपासना का समावेश है भी नहीं।

''स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रायी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया परया जगौ।।''

महाभारतकार के सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है। वैदिकी और तान्त्रिाकी श्रुतियों की चर्चा अनेक स्थलों पर मिलती है। त्रिावर्णविषयक और सर्ववर्णविषयक श्रुतियों का भी उल्लेख मिलता है। भगवठीता का कथन है– ''स्त्रिायो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् (9.33)। शिवदृष्टिकार सोमानन्द के द्वारा उद्धृत कालपादा संहिता में म्लेच्छों को भी दीक्षा का अधिकारी माना है। अन्यत्रा भी – ''ज्ञानदाने विचारयेत्'' कहकर इसको मान्यता दी गई है।

निगमागम का अन्तःसम्बन्ध

निगम (वेद) और आगम (तन्त्रा) शास्त्रा, विशेषकर वेद एवं बौद्ध–जैन शास्त्रा परस्पर विरोधी हैं, प्रायः ऐसी मान्यता है। वेदों को त्रिावर्णविषयक और आगमों को सर्ववर्णविषयक माना जाता है। वेदों को ब्राह्मणशास्त्रा एवं बौद्ध–जैन परम्परा को श्रमणशास्त्रा भी कहा जाता है और बताया जाता है कि इनमें शाश्वत शत्राुता है। प्रमाण

के रूप में– ''येषां च विरोधः शाश्वतिकः'' इस पाणिनि सूत्रा (2.4.9) को कात्यायन का वार्तिक मानकर उसके उदाहरण के रूप में इसको प्रस्तुत किया जाता है। पात×जल महाभाष्य, काशिकावृत्ति आदि में यह उदाहरण नहीं मिलता। किस वैयाकरण ने सर्वप्रथम इसको प्रस्तुत किया, इसकी खोज होनी चाहिये। इसको प्रस्तुत करने वालों की मंशा इसी से स्पष्ट हो जाती है कि वे पाणिनि के सूत्रा को कात्यायन का वार्त्तिक बताते हैं। आजकल वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म में जिन विपरीत दृष्टिकोणों की व्याख्या की जाती है, वस्तुतः प्राचीन पालि वाङ्मय में उसके बहुत कम दर्शन होते हैं, प्रत्युत अनेक स्थलों पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे परस्पर प्रशंसा के स्रोत फूट पड़े हों। स्वर्गीय पं. लक्ष्मण शास्त्राी जोशी जी का कहना है कि प्रारंभिक बौद्ध दर्शन पर औपनिषद एवं सांख्य–योग दर्शन का स्पष्ट प्रभाव था। इस विषय को हम तज्ज्ञ विद्वानों के लिये छोड़कर मूल विषय पर आते हैं।

वैष्णवतन्त्रा की वैखानस शाखा और शैवतन्त्रा की सिद्धान्त शाखा वैदिक विचारधारा के बहुत नजदीक है। गौतम धर्मसूत्रा (स्मृति) के अष्टम् अध्याय में वर्णित 48 संस्कारों का परिचय अभिनवगुप्त के तन्त्रासार के कश्मीर संस्करण की विस्तृत टिप्पणी (पृ. 148–154) में दिया गया है। इनमें से 21 संस्कार पूरी तरह से वेदों में वर्णित 7 पाक संस्थाओं, 7 हविःसंस्थाओं और 7 सोमसंस्थाओं के अन्तर्गत आते हैं। इन 48 संस्कारों का उल्लेख शैव–शाक्त तन्त्राों में ही नहीं, विभिन्न पुराणों में भी मिलता है। दीक्षा, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन आदि के प्रसंग में होम की अनिवार्यता सर्वत्रा स्वीकृत है। अभी कुछ वर्ष पहले वीरशैव सम्प्रदाय के एक उत्सव में नांदेड़ (महाराष्ट्र) जाना हुआ था। वहाँ धार्मिक उत्सव के साथ एक यज्ञ का भी आयोजन किया गया था। इसका वहाँ विरोध हुआ। उनका कहना था कि वीरशैवमत में इस तरह के आयोजनों का कोई स्थान नहीं है। आधुनिक बौद्ध मतावलम्बियों का भी यही दृष्टिकोण है। यह सारा विधि–विधान त्रौवर्णिकविषय शास्त्राों तक ही सीमित है, ऐसा इन लोगों का मानना है। इस भ्रान्ति के निवारण के लिये हमने ''तन्त्राों पर वैदिक कर्मकाण्ड का प्रभाव'' शीर्षक निबन्ध लिखा है। इसमें शैवागम, बौद्ध तन्त्रा, वैष्णवागम, प्रत्यभिज्ञाशास्त्रा, वीरशैव मत और शाक्तमत के ग्रन्थों को उद्धृत करते हुये कुण्डसंख्या, पंचविध अग्नि, अग्नि के प्राकट्य के चार प्रकार, अग्नि की जिह्वायें और विष्टर–इध्म–समिधा जैसे यागोपकरणों की चर्चा की गई है। इस निबन्ध का संस्कृत रूपान्तर देवनागरी लिपि में ही (इटली) रोम के प्रसिद्ध शोधसंस्थान के निदेशक प्रो. न्योली के सत्कार में समर्पित ग्रन्थ के प्रथम भाग (पृ. 247–260) में ''तन्त्रोषु वैदिककर्मकाण्डस्य प्रभावः'' शीर्षक से हुआ है।

तन्त्रााागमशास्त्रा पर वैदिक कर्मकाण्ड के प्रभाव की ऊपर चर्चा की गयी है। वेदों पर भी तान्त्रिाक रहस्यवाद और कर्मकाण्ड की छाप पड़ी है, इस विषय में भी विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। सिन्धु–सभ्यता के अवशेषों में हमें ऊर्ध्वमेढ्र मुद्रायें मिलती हैं। पूना की ''एनल्स ऑफ भाण्डारकर इंस्टीट्यूट'' नामक पत्रिाका में इनका सचित्रा विवरण मिलता है। नेत्रातन्त्रा के 13वें अधिकार में ऊर्ध्वमेढ्र विश्वरूप की पूजाविधि बताई गई है। पाशुपत मत की नई शाखा के प्रवर्तक लकुटधारी लकुलीश की मूर्तियों में उनको ऊर्ध्वमेढ्र अंकित किया गया है। नेपाल में पशुपतिनाथ मन्दिर के पास की पहाड़ी पर

विश्वरूप आज भी इसी रूप में पूजित हैं। उदयपुर के पास एकलिंग जी के मन्दिर में पंचवक्त्रा पशुपतिनाथ की मूर्ति के सामने इसी रूप में इनको देखा जा सकता है। अभिनवगुप्त के अनुसार लकुलीश मत में मनुष्य के शरीर में सभी देवता निवास करते हैं। लकुलीश का आविर्भावकाल डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ई. दूसरी शताब्दी मानते हैं और बड़ोदरा के पास कायावरोहण तीर्थ इनकी जन्मस्थली माना जाता है। कौल सम्प्रदाय के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ का समय इनके अनुसार पाँचवीं–छठी शताब्दी है। हम मान सकते हैं कि कायपूजा का सिद्धान्त प्रथमतः लकुलीश सम्प्रदाय में प्रवृत्त हुआ।

वैदिक वाङ्मय में भी हमें हिंसाप्रधान यज्ञों के साथ ही सौत्राामणी याग में सुरापान का विधान भी मिलता है। ऋग्वेद (7.21.5; 10.99.3) में शिश्नदेवों का उल्लेख है। ''न का×चन परिहरेत् तद् व्रतम्'' (2.13.2) यह छान्दोग्य उपनिषद का वचन है। ''यदेतत् स्त्रिायां लोहितं भवत्यग्नेस्तद् रूपम्। तस्मात् तस्मान्न बीभत्सेत। अथ यदेतत् पुरुषे रेतो भवत्यादित्यस्य तद् रूपम्। तस्मात् तस्मान्न बीभत्सेत'' (2.3.7) यह ऐतरेयारण्यक का वाक्य है। ''न पद्माङ्का न चक्राङ्का न वज्राङ्का यतः प्रजाः। लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरी प्रजाः।।'' यह महाभारत के अनुशासन पर्व का कथन है, जहाँ पाशुपत मत विवृत है।

डॉ. शान्तिभिक्षु शास्त्राी ने भी ऊपर की छान्दोग्य श्रुति को उद्धृत किया है और लिखा है कि शंकराचार्य यहाँ ''कामयमानाम्'' विशेषण जोड़ते हैं (बोधिचर्यावतारभूमिका, पृ.15)। यहीं (पृ. 14–26) शास्त्राी जी ने बौद्ध धर्म में तान्त्रिाक प्रवृत्तियों के प्रवेश और विकास के काल पर विचार किया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भी ''पुरातत्त्व निबन्धावली'' में संगृहीत ''वज्रयान और चौरासी सिद्ध'' (पृ.109–130) शीर्षक लेख में वज्रयान की उत्पत्ति के प्रसंग में नीलपट–दर्शन की चर्चा की है (पृ.118)। यशस्तिलकचम्पू के कर्ता सोमदेव नीलपट के एक श्लोक को उद्धृत करते हैं (भा.2, पृ. 252)। डॉ. कृष्णकान्त हाण्डीकी ''यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर'' (पृ.441) में सदुक्तिकर्णामृत में संगृहीत नीलपट के दूसरे श्लोक का उदाहरण देते हैं। वहीं वे भर्तृहरि के श्लोक को भी उद्धृत करते हैं। इन सबका अभिप्राय एक–सरीखा है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के दिये गये कथानक का घटनाकाल वहाँ 515–525 ई. बताया गया है। कूर्मपुराण के वचन (2.22.35; 2.33.60) नील और रक्त पट धारण करने वाले ब्राह्मण की निन्दा करते हैं। इन सब वचनों को देखने से वैदिक वाङ्मय में तान्त्रिाक प्रवृत्तियों का प्रभाव स्पष्ट होता है।

सभी तरह के चिन्तन को वेदों से जोड़ने की भारतीय परम्परा रही है, यद्यपि आगम–तन्त्राशास्त्रा के अभिनवगुप्तपर्यन्त अनेक विद्वान् इसमें सहमत नहीं थे। ''सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदात् सिद्धान्तमुत्तमम्'' इस तरह के अनेक वचन प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। द्विविध श्रुति वाला पक्ष भी इसी का समर्थक है। वैरोचन–कृत प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (2.156) में बताया गया है कि लिंग, प्रासाद (मन्दिर), द्वार, मण्डप आदि के बनाने और उनकी प्रतिष्ठा करने की विधि वेद में वर्णित नहीं है। बृहन्नारदीयपुराण (2.24,19–21) में भी उन विषयों की सूची दी गयी है, जिनका वर्णन वैदिक वाङ्मय में नहीं है। भविष्यपुराण (2.1.11.1) में वृक्ष, आराम (उद्यान), वापी, कूप, तडाग आदि की प्रतिष्ठा तान्त्रिाक विधि के अनुसार बताई गई है। इष्ट और पूर्त ये दो

धर्म के अंग माने गये हैं। भोजदेव के तत्त्वप्रकाश के व्याख्याकार कुमारदेव का कहना है कि इष्ट वैदिक धर्म का और पूर्त तान्त्रिाक धर्म का अंग है। पुराणों में इष्ट और पूर्त दोनों ही प्रकार के धर्मों का विशद वर्णन मिलता है। स्पष्ट है कि निगम और आगम का अन्तःसम्बन्ध बहुत पहले ही पुराणों और अनेक आगमाचार्यों के द्वारा स्थापित किया जा चुका था।

निगम और आगम शब्दों की नई व्याख्या कर हम पूरे जागतिक ज्ञान का इनमें समावेश कर सकते हैं। प्रत्येक धर्म की यह मान्यता है कि ईश्वर ने, किसी अलौकिक शक्ति ने इस धर्म की प्रतिष्ठा की है और उसी शक्ति ने मनुष्य को इसका ज्ञान भी दिया है। ऐसे अलौकिक ज्ञान को हम निगम विभाग के अन्तर्गत रख सकते हैं और दिव्यौघ, सिद्धौघ तथा मानवौघ परम्परा से प्राप्त ज्ञान को आगम विभाग के अन्तर्गत, क्योंकि इन सभी धर्मों के प्रवर्तकों ने समाधि–अवस्था में प्रादुर्भूत प्रातिभ ज्ञान के सहारे इनको प्राप्त किया है। अतः इनकी आप्तता में हमें किसी प्रकार का संशय नहीं रहना चाहिये।

रामायण, महाभारत, पुराण आदि में किये गये निगमागम धर्म के समन्वय में निगम दृष्टि की प्रधानता रही है, किन्तु अभी हमने जिस निगमागम विभाग की चर्चा की है, उनमें परस्पर समन्वय के आधार आगम दृष्टि ही हो सकती है, जो पूरी मानव जाति को ज्ञान का, मुक्ति का अधिकारी मानती है। मुकुटसंहिता आदि के वचन इस प्रसंग में हमारी सहायता करते हैं। इसके सहारे हम पूर्वकाल में संपन्न पंचायतन और षडायतन पूजाविधि की पद्धति से अन्य आधुनिक धर्मों में भी समन्वय स्थापित कर सकते हैं। किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले हम भारतीय वाङ्मय का कालिक पर्यवेक्षण करना उचित समझते हैं।

कालिक पर्यवेक्षण

ऋग्वेद भारत का ही नहीं, आज की दुनिया का सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। यही नहीं, प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने–अपने धर्म–ग्रन्थों को अनादि ही मानते हैं। महान् कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त कपिल और बुद्ध का उदाहरण देकर बताते हैं कि सभी आगम अनादिकाल से चले आ रहे हैं। वेदों की यह विशेषता है कि इनको अपौरुषेय माना जाता है और अन्य शास्त्राों का कोई न कोई प्रवक्ता है। यों महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में सांख्य, योग, पा×चरात्रा, पाशुपत और वेद के, जो कृतान्तपंचक के नाम से प्रसिद्ध हैं, क्रमशः कपिल, हिरण्यगर्भ, स्वयं भगवान्, श्रीकण्ठ और अपान्तरतपा प्रवक्ता बताये गये हैं। सभी वेदों की सर्वानुक्रमणियाँ प्राप्त हैं। इनमें प्रत्येक मन्त्रा के ऋषि, देवता और छन्द का वर्णन किया गया है। इनके अनुसार हम वेदों के प्रत्येक मन्त्रा के द्रष्टा ऋषि को ही प्रवक्ता मान सकते हैं। इसी न्याय से प्रत्येक धर्म–ग्रन्थ की भी स्थिति मानी जा सकती है। आगम–ग्रन्थों में बताया गया है कि सभी आगम दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ परम्परा से हम तक पहुँचते हैं। भारतीय वाङ्मय के प्रसार की भारतीय दृष्टि यही है। काल का विचार यहाँ इतिहास–पुराण–ग्रन्थों और मनुस्मृति आदि के आधार पर हुआ है।

विशाल भारतीय वाङ्मय को निगमाधारित और आगमाधारित विभागों में बाँटा जा सकता है। निगमाधारित विभाग में 14 या 18 विद्यास्थानों का प्रमुख रूप में उल्लेख

मिलता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु कौटिल्य के अर्थशास्त्रा से भी इनका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। महान् वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती के ''प्रस्थानभेद'' से इनका विस्तार से सुस्पष्ट स्वरूप जाना जा सकता है। इस छोटे से ग्रन्थ का परिशिष्ट के रूप में पुनः प्रकाशन हमने शैवभारती शोधप्रतिष्ठान जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से प्रकाशित शैवाचार्य सर्वात्मशंभु की रचना सिद्धान्तप्रकाशिका में (पृ.45–53) किया है। इसी ग्रन्थ में (पृ.18–35) आगमशास्त्रा के अनुसार भारतीय वाङ्मय को पाँच विभागों में बाँटा गया है। उनके ये नाम हैं– लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्ग और मान्त्रा। इन पाँच विभागों के पुनः पाँच–पाँच अवान्तर विभाग किये गये हैं। यहाँ संक्षेप में आस्तिक–नास्तिक सभी शास्त्रों का समावेश किया गया है। इसी के आधार पर पंचवक्त्रा शिव पंचविंशतिवक्त्रा माने गये हैं। बौद्ध आचार्यों ने ऊपर निर्दिष्ट 14 विद्यास्थानों के अतिरिक्त लक्षण, हेतुविद्या, आध्यात्मिकी विद्या, चिकित्साशास्त्रा और शिल्पशास्त्रा नाम के पाँच विद्यास्थानों की भी चर्चा की है।

''भारतीय वाङ्मय का कालिक पर्यवेक्षण'' शीर्षक निबन्ध में, जो ''सांस्कृतिक राष्ट्रवाद'' शीर्षक ग्रन्थ में (पृ. 122–142) प्रकाशित हुआ है, हमने भारतीय दृष्टि के अतिरिक्त पाश्चात्य दृष्टि से भी उसके दोषों का परिहार कर दिया है। अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान् आगम–तन्त्राशास्त्रा की, विशेषकर शाक्त तन्त्रों की प्रवृत्ति आठवीं अथवा अधिक से अधिक छठी शताब्दी से पहले नहीं मानते। इस प्रसंग में यह अवधेय है कि मथुरा संग्रहालय में प्रायः 2300 वर्ष पुरानी मौर्य–शुंग काल की मनसा देवी की प्रतिमा संगृहीत है। महाभारत में भगवती दुर्गा के दो स्तोत्रा उपलब्ध हैं। पहला विराट पर्व के छठे अध्याय में और दूसरा भीष्म पर्व के 23वें अध्याय में। आधुनिक इतिहासज्ञ इनको प्रक्षिप्त मानते हैं, किन्तु महाभारत के सर्वमान्य भाण्डारकर संस्करण में श्रीपर्वत, शाकंभरी, धूमावती जैसे शब्दों के साथ इनकी उपलब्धि उस समय शैव और शाक्त मतों की सत्ता को सूचित करती है। हरिवंश के विष्णुपर्व के तृतीय अध्याय में आर्यास्तव मिलता है। यहाँ देवी को शबर, बर्बर, पुलिन्द आदि के द्वारा सुपूजित कहा गया है (3. 7) और वहीं विन्ध्यवासिनी देवी का नाम भी उपलब्ध है (3.8)। उदयपुर के संग्रहालय में सुरक्षित 480 ई. के शिलालेख में भ्रमराम्बा की स्तुति की गई है। इस शिलालेख का परिचय ''एपिग्राफिया इण्डिका'' के 50वें वर्ष के चतुर्थ अंक (पृ. 120–137) में दिया गया है। इसी प्रसंग में मार्कण्डेयपुराण की दुर्गासप्तशती की चर्चा करना भी अनुचित न होगा। 64 तन्त्रों की नामावली में चर्चित कुब्जिका, काली, दुर्गा जैसी देवियों की चर्चा सुबन्धु की वासवदत्ता, महाकवि बाण के हर्षचरित और कादम्बरी तथा बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के ग्रन्थों में भी मिलती है। दधिमती देवी का शिलालेख भी छठी–सातवीं शताब्दी का माना जाता है। ऐसी स्थिति में शाक्त तन्त्रों की प्रवृत्ति आठवीं शताब्दी के बाद हुई, इस कथन का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

जैनों के 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का समय ईसा–पूर्व 8वीं शताब्दी माना गया है। इन पर सांख्य और योग दर्शन का प्रभाव स्पष्ट था। पा×चरात्रा मत का उल्लेख शतपथब्राह्मण (13.3–4, 13.6.1) में पा×चरात्रा सत्रा के रूप में हुआ है और पाशुपत मत की चर्चा कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के शतरुद्रियाध्याय, मैत्रायणीसंहिता और तैत्तिरीय आरण्यक में भी मिलती है। वेदों का रचनाकाल ईसा–पूर्व 12वीं शताब्दी से लेकर 25

हजार ई.पूर्व तक माना गया है। भारत में मोहेंजोदड़ो के जैसे पश्चिम–एशिया के मैसोपोटामिया (आधुनिक इराक) में उर नामक स्थान पर पुरानी बस्ती मिली है। इनका समय लगभग एक–सा ही माना जाता है। यहाँ कुछ इष्टका–लेख मिले हैं। इनमें प्राप्त एक सन्धिपत्रा इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण साक्षी हो सकता है। यहाँ मित्राावरुण और नासत्य को साक्षी मानकर हस्ताक्षर किये गये हैं। ये ऋग्वेदीय देवता हैं। स्पष्ट है कि उस समय तक वहाँ वैदिक वाङ्मय का प्रसार हो चुका था। बिना किसी वैमत्य के इसके आधार पर वेदों के काल की उत्तर सीमा का निर्धारण हो सकता है।

आर्यों के बाहर से आकर भारत पर कब्जा करने की बात का आजकल अनर्गल प्रचार किया जाता है। एक भारतीय विद्वान् ने इसका जवाब दिया है कि वैदिक वाङ्मय में कहीं भी आर्यों के बाहर से आने का उल्लेख नहीं मिलता। मोहेंजोदड़ो की लिपि को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। इसके बिना हम कल्पना के आधार पर जो चाहे लिख सकते हैं। अभी उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि उस समय वहाँ पाशुपत मत की प्रवृत्ति थी। ईरान के प्राचीन पारसीक धर्म के ग्रन्थ 'जेन्दावस्ता' की भाषा ऋग्वेद की भाषा से बहुत–कुछ मिलती–जुलती है। इसके आधार पर भी हम किसी सर्वमान्य तथ्य तक पहुँच सकते हैं।

अब तक भारत का प्राचीन इतिहास वैदिक, जैन और बौद्ध धर्म की पृष्ठभूमि में लिखा गया है। इनकी परस्पर अनुस्यूति, अन्तःसम्बन्ध पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। यदि हम भारतीय इतिहास को तीन कालखण्डों में विभक्त कर इनका अध्ययन करें, तो इनमें हमें अद्भुत समानता देखने को मिलेगी। वैदिक धर्म प्राचीन, आगम विभाग मध्यकालीन और तान्त्रिाक रहस्यवाद को आधुनिक कालखण्ड में विभक्त कर इनके साथ जैन धर्म के दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी तथा बौद्धधर्म के श्रावकयान, महायान और वज्रयान के साहित्य से मिला कर एक नया इतिहास लिखा जा सकता है, जिसमें परस्पर के विग्रह के स्थान पर सामंजस्य के भाव अधिक स्पष्ट होते हैं। यज्ञीय कर्मकाण्ड की चैत्य और स्तूप की पूजा से, आगमिक धर्म की अपने–अपने इष्टदेव की प्रतिमा की पूजा से और तान्त्रिाक उपासना की वज्रयान एवं स्थानकवासी धर्म से ''सर्वदेवमयः कायः'' जैसे वचनों से तुलना करने पर इनके परस्पर अन्तःसाक्ष्य की स्पष्ट प्रतीति होती है। इन तीनों धर्मों के प्राचीन और नवीन रूपों में इतना अन्तर क्यों है? इस प्रश्न का समाधान भी इनके परस्पर के आदान–प्रदान में ही खोजा जा सकता है।

कुछ उदाहरणों से इस विषय को स्पष्ट किया जा रहा है। वैदिक अग्निसमाराधन की इन सभी धर्मों में समान स्वीकृति की बात हम ऊपर कर चुके हैं। इसी तरह पाशुपत मत का सम्बन्ध मोहेंजोदड़ो से जोड़कर पूरे भारतीय वाङ्मय पर उसके प्रभाव की भी समीक्षा कर सकते हैं। अभिनवगुप्त के तन्त्राालोक और उसकी विवेक–टीका के समान बौद्ध कालचक्रतन्त्रा और उसकी पुण्डरीक–कृत विमलप्रभा–टीका का अपना महत्त्व है। क्रव्यादाग्नि का परिचय देते समय इन्होंने ऋग्वेद को उद्धृत किया है। इसी तरह पाँच बुद्धों का परिचय देते हुये ये कहते हैं– ''प×चवक्त्रााणि वा प×चब्रह्मलक्षणानि। अत्रा सद्यो वैरोचनः, वामदेवोऽमिताभः, अघोरो रत्नसंभवः, तत्पुरुषोऽमोघसिद्धिः, ईशानोऽक्षोभ्यः'' (4.70)। इस तरह से पंचब्रह्मस्वरूप पशुपति की यहाँ पंचबुद्धों से तुलना की गयी है। इसी तरह पाशुपतों के पंचब्रह्म मन्त्राों

की, जैनों के पंचणमोकार मन्त्राों की और वैष्णवों के पंचोपनिषद्–मन्त्राों की संख्या की समानता हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। लकुलीश के पाशुपतसूत्राों के पाँच अध्यायों में व्याख्यात ये पाँच मन्त्रा वैदिक वाङ्मय में भी उपलब्ध हैं। ''अकारो वै सर्वा वाक्'' जैसे वैदिक वचन शैव आदि आगमों में ही नहीं, बौद्ध तन्त्राों में भी विशद रूप से चर्चित हैं। चतुर्ब्रह्मविहार (मैत्राी, करुणा आदि) की भावना का उपदेश पात×जल योगसूत्रा, बौद्ध पालि वाङ्मय और जैन तत्त्वार्थसूत्रा में समान रूप से मिलता है।

हमने शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्ध तन्त्राविषयक ग्रन्थों के संपादन के समय लिखे गये संस्कृत–हिन्दी भाषा के उपोद्घातों में और स्वतन्त्रा निबन्धों में इन सब विषयों पर तुलनात्मक दृष्टि से पर्याप्त प्रकाश डाला है। ''तन्त्राागमीय धर्म–दर्शन'' में वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध और स्मार्त–तन्त्राों का ऐतिहासिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। हमारे पूरे लेखन में हिन्दू शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं किया गया है। यह सब भारतीय शास्त्रा है। गुरुग्रन्थसाहिब भी पूरी तरह से इनसे और सन्तों की वाणी से अनुप्राणित है। यहाँ महात्मा गांधी का नरसीमेहता–रचित प्रिय भजन भी संगृहीत है और महाकवि जयदेव की संस्कृत रचना भी। हिन्दू शब्द का प्रयोग दसवीं शताब्दी से पहले के भारतीय साहित्य में कहीं भी नहीं मिलेगा। यह पूरा भारतीय ज्ञान है और इनका परस्पर अन्तःसम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट है। आज हम परनेयदृष्टि होकर अपना स्वाभिमान खो बैठे हैं। हमारी प्रेरणा के स्रोत निम्न तीन वचन रहे हैं–

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।। (बौद्ध वचन)
पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।। (जैन वचन)
आगमादनुमानाच्च प्रत्यक्षादुपपत्तितः।
परीक्ष्य निपुणं भक्त्या श्रद्धातव्यं विपश्चिता।। (वायुपुराण)

ऐसे वचनों की सहायता से हम समस्त जागतिक ज्ञान में अन्तःसम्बन्ध स्थापित कर एक विश्व और एक संस्कृति की स्थापना में भी सहायक हो सकते हैं। यह कार्य तब होगा, जब हम अपनों और परायों के द्वारा पैदा की गई भेदबुद्धि को मिटाकर समस्त भारतीय ज्ञान के परस्पर के अन्तःसम्बन्ध को स्पष्ट रूप से देख सकेंगे। निगम–आगम का अन्तःसम्बन्ध तो बहुत पहले ही स्थापित हो चुका है, इस बात को अपनी मति के अनुसार उजागर करने का यह लघु प्रयत्न है।

अन्तःसम्बन्ध शब्द की उद्भावना के लिये और अस्वस्थतावश गोष्ठी में उपस्थित न हो सकने की स्थिति में भी निबन्ध लिख–भेजने की अनुमति देने के लिये हम गोष्ठी के संयोजकों को धन्यवाद देकर अपने वक्तव्य को पूरा करते हैं।

इति शम्

निगमागम सम्बन्ध और नाथ–सम्प्रदाय

डॉ. राजमति दिवाकर

भारतीय ज्ञान–परम्परा श्रुति और स्मृति की दो धाराओं में निरन्तर प्रवहमान रही है। भारतीय सन्दर्भों में श्रुति और स्मृति दोनों में निगम और आगम का समावेश रहा है। आत्मचिन्तन की लम्बी परम्परा और अध्यात्म के विभिन्न अनुभवों में सत्य के प्रकाश का विमर्श देखा गया है। निगम परम्परा सत्य के प्रकाश और शुद्ध–ज्ञान के स्वरूप को अपने में समाये हुये है; जबकि आगम प्रयोगात्मक, व्यावहारिक विधियाँ हैं जिनके माध्यम से विभिन्न साधक ज्ञान–प्राप्ति के लिये, मोक्ष–प्राप्ति के लिये, साधना करते हैं। ये ही साधनायें योग और तन्त्रा परम्परा का हिस्सा बनती हैं। एक विशेष रूप में भारतीय योग परम्परा दर्शन का अंग है (षड्दर्शन में योग एक दर्शन भी है)। एक अर्थ में योग दर्शन भी है और व्यावहारिक विधि–प्रयोग भी, जबकि दूसरी तान्त्रिाक परम्परायें तात्त्विक विमर्श के बजाय केवल विधियों के प्रयोग के रूप में विकसित हुई। भारतीय आगम–परम्परा के अनेक रूप इसका प्रमाण है।

योग दर्शनाचार्यों की तरह नाथ सम्प्रदाय भी एक विशिष्ट दर्शन लेकर विकसित हुआ। शङ्कराचार्य के भक्ति आन्दोलन के पूर्व नाथ सम्प्रदाय सर्वाधिक प्रभावशील धार्मिक आन्दोलन था। शङ्कराचार्य के बाद आगम के दो रूपों– शैवागम एवं शान्त आगम का मिश्रित प्रयोग इनमें मिलने लगा था। नाथ पंथ शिव–शक्ति योग का सम्प्रदाय भी कहा गया। ईसा की नौवीं शती तक आते–आते शिव–शक्तियोग मत इतना विकसित हो चुका था कि मूर्तिकला का विकास इन मूर्तियों में (उमा–माहेश्वर – कालिंजर, शिवशक्ति मूर्तियों – खजुराहो, अजंता–ऐलोरा) सभी स्थान पर देखा जा सकता है जो ईसा की 9वीं, 10वीं सदी में निर्मित हुईं। शिव–शक्ति का प्राधान्य शैवधर्म में था, और शिव को योगेश्वर मानकर नाथपंथी भी भस्मस्नान, योगाभ्यास, गायन, नर्तन आदि प्रयोग करते थे। इसी मत में शाक्त लोग कौलिक रूप लेकर बड़े साधक बने। तन्त्रा–मन्त्रा की श्रीविधा भी इस मत में प्रचलित हुई। इसमें ही प×चमकार साधना और षट्चक्र का अनुष्ठान भी मिलता है। शाक्तों के भारत में 75 से अधिक शक्तिपीठ स्थापित हैं। माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ सर्व–दर्शन–संग्रह में शिव–शक्ति के उपासकरूप का, साधना का, विस्तृत लेखा–जोखा दिया है; जिसमें लकुलीश, कापालिक, कालमुखी आदि विरोधी पंथों का भी विवरण है जो नाथ–सम्प्रदाय के समान्तर चलते रहे और बाद में निष्क्रिय हो गये।

नाथ–सम्प्रदाय के साधक नाथपन्थ को अनादिकाल से प्रचलित मानते हैं। उनके विचार से नाथ–सृष्टि, ब्रह्मा की सृष्टि से भिन्न है। ब्रह्मा–विष्णु की उत्पत्ति सलिल से होती है, विष्णु से ब्रह्मा और ब्रह्मा से नरनारी सम्बन्ध से 'मैथुन–सृष्टि' की उत्पत्ति होती है। यह सृष्टि अज्ञान–आवरण से आच्छादित है और हिंसा–वृत्ति से जीवन–यापन करती है; राग, द्वेष, लोभ और मोहादि से भयकातर है तथा संशय से सुख–दुःख व धर्म को प्राप्त है। यह सृष्टि विष्णु के पालन से चलती है। किन्तु नाथ सदाशिव की अखण्ड

सृष्टि से उत्पन्न होता है।''[1] नाथसम्प्रदायी साधक शिवत्व में पूर्णत्व मानते हैं। नाथपंथी योगी काया को सिद्ध–देह या सिद्ध–काय से साधना की शुरुआत मानते हैं। जो योगी साधना से सिद्ध–काय को पा लेता है, वही योगेश्वर अथवा अवधूत अथवा 'नाथ' पद का धारी बनता है– ''नाथों के शिव ही विंधेश्वर हैं। त्रिपुरा तत्त्व पर लिखी हुई नित्योस्व टीका में नाथ–परम्परा की वंदना हो –यह बात स्पष्ट हो जाती है– ''नत्वा नाथ परां शिवमुखां विधेश्वरं महाराज्ञो तदीयप्रतनानाथां तरन्त पराम्।।''[2] इससे स्पष्ट है कि नाथसम्प्रदाय के इष्ट आदि–प्रभु आदिशिव ही हैं।

नाथ शब्द का प्रयोग कई रूपों में मिलता है। जैनों के प्रथम तीर्थंकर 'आदिनाथ' को नाथपंथी अपना योगेश्वर मानते हैं। नाथ शब्द नया नहीं। 'नाथान्त' नाम वालों को साधक शिव का रूप मानते हैं। 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में नाथ शब्द की व्याख्या करते हुये लिखा है कि 'ना' का अर्थ है अनादिरूप शिव और 'थ' का अर्थ है स्थापित होना। 'हठयोगप्रदीपिका' में व्याख्या भी मिलती है कि 'ना' अर्थात् संसार से मुक्ति यानि मोक्ष का मार्ग ज्ञात कराने वाला, और 'थ' का अर्थ संसार का अज्ञान स्थगित करने वाला; अर्थात् आदिनाथ के आश्रय से हठयोगी ब्रह्मरूप शिव का साक्षात्कार करता है और अज्ञान और अविद्या से युक्त सांसारिक माया नष्ट होती है। इसी कारण नाथ शब्द अनादिशिव और संसार की माया को स्थगित करने के कारण दोनों पक्षों का एक साथ द्योतक है। इसीलिये 'नाथ' शब्द का व्यवहार किया जाता है, यथा – ''ना' अकारोऽनादिरूपं थकाराः स्थापते सदा। भुवनत्रायमेवैकः श्री गोरक्ष नमोस्तु ते।।'' इस तरह नाथ शब्द समय की गति के साथ सिद्ध–देह–अवधूत नाथपंथी योगेश्वर का पर्याय बन जाता है। ज्ञान के प्रकाशित साक्ष्य का रूप शिव है जो शक्ति के साथ व्याप्त है। यह शिव की शक्ति सृष्टि का आदि वाक् है, स्थिति है, प्रकृति है शिव की स्तुति है। काल–कल्याणरूप, ओंकारस्वरूप, कालरूप शिव आगम का मूलभूत सार है। निगम–आगम एक तत्त्वदर्शन परम्परा के दो अलग–अलग आयाम हैं। नाथ और सिद्ध साधना में योगेश्वर शिव ही हैं। शक्ति की साधना से शाक्त–आगम और परमपद के शिव परमशिव की आराधना शैवागम के मूल में है। शाक्त आचार भी 4 प्रकार का है – वामाचार, दक्षिणाचार, कौलाचार और सिद्धान्ताचार। नाथपंथी कौलाचार को श्रेष्ठ मानते हैं। कुछ वामाचार को भी महत्त्व देते हैं। कौलाचार अवधूत–मार्गियों का श्रेष्ठ नाथपंथ है। शाक्तागम में कौल तन्त्राों का विशेष वर्णन है। शाक्तागम में तन्त्रा तीन प्रकार के गये हैं– (1) आगम, (2) श्यामल, (3) डामर। सात्विक गुणों को आधिकारिक मानकर जिन तन्त्राों को उपदिष्ट किया जाता है उन्हें आगम, राजस गुणों को लेकर जिन तन्त्राों को उपदिष्ट किया जाता है उन्हें यामल और तामसिक गुण वालों को उपदिष्ट तन्त्रा को डामर तन्त्रा कहते हैं। तान्त्रिाक और अवधूतों के क्रियाकलाप में नाथमत अंतर मानता है। तान्त्रिाक पुरुषसाधना की क्रियाओं, षट्चक्रभेदन और कपाल क्रिया, को अधिक महत्त्व देते हैं। इन्हें कापालिक भी कहा गया है। लेकिन अवधूत कौलमार्गी और योगिनी क्रिया को महत्त्व देते हैं, जो योगिनी–कौलमार्गी भी कहलाते हैं। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का सम्बन्ध इसी मार्ग से था।

---

[1] नाथपंथ – डॉ. शांतिप्रसाद चंदोला, पृ.सं. 60, अलका प्रेस, विनायका, वाराणसी।

[2] गायड़वाड सीरीज़ नं. 22 – बड़ौदा।

नाथ–सम्प्रदाय में आदिनाथ के नौ पुत्राों को भी योगेश्वर सिद्ध कहा है। जैन तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ को 'नाथ' योगेश्वर शिव मानते हैं। चौबीस तीर्थंकरों में 'नाथान्त' नाम वाले सभी तीर्थंकरों का सम्बन्ध नाथपंथ से रहा है – ऐसा अनेक जगह उल्लेख है। 24वें तीर्थंकर महावीर भी निगण्ढ नाथ–पुत कहलाते हैं। अर्थात् महावीर बचपन में जिस पंथ में दीक्षित थे, वह पार्श्वपत्य नाथी सम्प्रदाय था; शायद इसीलिये 'नाथ–पुत' संज्ञा दी गयी। श्रीमद्भागवत् के दूसरे अध्याय के पाँचवें स्कंध में कथा है कि भगवान ऋषभदेव योगेश्वर थे। एक बार भीषण अकाल पड़ा तो आदिनाथ ऋषभ ने अवध राज में अपनी योगमाया से सुखद वर्षा कराई। माता–पिता और प्रजाजन बहुत प्रसन्न हुये। अपनी साधना का चमत्कार देख स्वयं आदिनाथ अपने पुत्रा भरत को राज देकर नाथपंथी नाद की तपस्या में लीन हो गये और अपने पीछे नव नाथों की परम्परा धर्म प्रचार के लिये छोड़ गये। श्रीमद्भागवत् के दूसरे अध्याय से प×चम स्कन्ध तक नवनारायणों की कथा परमहंस संहिता के रूप में चर्चित हुई, जिसमें नारद जी द्वारिका में वसुदेव के पास पहुँचते हैं और पूछे जाने पर ऋषभ (आदिनाथ) के नौ पुत्राों के सम्बन्ध में ऋषभ–योगेश्वर और विदेहराज निमि का संवाद सुनाते हैं, जो कथा नवनाथों के रूप में प्रचलित हुई। और आगे भी नवनारायणों को नवनाथ के रूप में मानने की कथा योगी–सम्प्रदाय विष्कृतांथ में मिलती है जो महाराष्ट्र के संत योगी ज्ञानदेव की (13वीं शताब्दी की) रचना है, जिसमें ऋषभ राजा आदिनाथ ऋषभदेव के पुत्रा हैं। नौ नारायण नये नाथ कहलाये। उल्लेख निम्नानुसार मिलता है–

1. कविनारायण – मत्स्येन्द्रनाथ।
2. करभाजन नारायण – गहनीनाथ।
3. अंतरिक्ष नारायण – ज्वालेन्द्रनाथ।
4. प्रबुद्ध नारायण – कारिरापानाथ।
5. आविर्होत्रा नारायण – नागनाथ।
6. पिप्पलायन नारायण – चर्पटनाथ।
7. चमस नारायण – रेवणनाथ।
8. हरिनारायण – भर्तृनाथ (भर्तृहरि)।
9. द्रुमिल नारायण – गोपीचन्द्रनाथ।

उपरोक्त नाथपंथ के नौ नाथों के, जैनधर्म के आदिनाथ और नाथपंथ के आदिनाथ, दोनों ही पंथ प्रवर्तक हैं। हो सकता है, जैनमत की निवृत्तिमूलक योगप्रधान धारा इस पंथ को प्रवर्तन करने में महत्त्वपूर्ण रही हो। तीर्थंकरों के नाथात्त होने – ''नाथत्व पद'' पाने के द्योतक हों, जिसमें योगी साधक जब सिद्ध या पूर्णत्व को प्राप्त होता है तब उसे 'नाथ' शब्द लगाकर सम्पूर्णता मानी गयी है। महावीर को निगण्ठनाथ–पुत कहा, फिर महावीर ने जैन–धर्म अलग से प्रतिपादित कर धर्म की काया पलट कर दी हो; साथ ही नाथपंथ का प्रभाव लोक–जीवन पर व्यापक रहने के कारण आदिनाथ शिव नाथपंथ के प्रवर्तक के रूप में लोकचित्त में प्रसरित होते रहे हों। लोक–व्याप्ति होने के कारण नाथ पंथ में मत्स्येन्द्र नाथ की शिष्य–परम्परा सुदीर्घ रही है।

नाथ सम्प्रदाय में गुरु–शिष्य परम्परा मूल में है। गुरु आदिनाथ हैं, गुरु के नाद से नाथ पंथ का आविर्भाव हुआ है। आदिशिव के नाद और शक्ति–संचार से क्रमशः

उदयनाथ, मत्स्यनाथ, गोरक्षनाथ, कनकायिनाथ, भूषिकायनाथ की गुरु–शिष्य परम्परा क्रमशः विकसित हुई। गुरु के दिव्य–ज्ञान, दिव्य–तेज, दिव्य –रूप से शिष्य शक्ति का पुंज बनता है। गुरु पिता कहलाता है और शिष्य उसका पुत्रा। गुरु–पिता 'नाद' से शिष्य–पुत्रा को जाग्रत करता है। और इस पिता–पुत्रा की सृष्टि से लौकिक सृष्टि के स्थान पर अध्यात्मिक जीवन शुरू होता है। नाद से दीक्षा शुरु होती है और दिव्य आध्यात्मिक शक्ति के उदय से योगी सिद्ध बन जाता है। गुरु नाद से तन्त्रा–मन्त्रा साधना द्वारा शिष्य को (अज्ञानतिमिराछन्न–जीव को) परम चैतन्य, एकरूप, चिद्स्वरूप, प्रकाशमान आत्मचेतस का साम्य रसानुभव कराते है। नाथ परम्परा में जो क्रम विकास मिलता है, गोरक्षटिल्ला से प्रकाशित नवनाथकथा में नाथ–परम्परानुसार निम्नांकित रूप में देखा जा सकता है–

1. ज्योतिस्वरूप ओंकार महेश्वर – आदिनाथ।
2. धरणी स्वरूप पार्वती शक्ति – उदयनाथ।
3. जलस्वरूप ब्रह्मा – सत्यनाथ।
4. तेजस्वरूप विष्णु – संतोषनाथ।
5. वायुस्वरूप शेषनाग – अचलनाथ।
6. आकाशस्वरूप गणेश – गजकंथडिनाथ।
7. वनस्पतिस्वरूप चन्द्रमा – चौरंगीनाथ।
8. मायास्वरूप करुणामय – मत्स्येन्द्रनाथ।
9. अलक्ष्यस्वरूप अयोनिशंकर – त्रिनेत्रा गोरक्षनाथ।

नवनाथों के बाद नाथपंथ में द्वादश सिद्ध, चौरासी सिद्ध, बारह पंथ तथा अनेक योगी–सम्प्रदाय शामिल हो गये। नाथपंथी मानते हैं कि नव नाथ और चौरासी सिद्ध और अनामधारी अनंत सिद्ध – सभी सम्पूर्ण मण्डल में सिद्ध–देह में विचरण करते हैं और नित्य–विद्यमान हैं।

गुरुशिष्य परम्परानुसार नाथपंथ में बारह (गुरुशिष्य) पंथों का उल्लेख मिलता है। बारह आचार्यों के बारह प्रवर्तक निम्न प्रकार से कहे गये हैं–

1. सत्यनाथ – सतनाथी पंथ।
2. रामनाथ – रामनाथी पंथ या रामपंथ।
3. धरमनाथ – धर्मनाथी पंथ।
4. लक्ष्मणनाथ – नटेश्वरी पंथ या लक्ष्मणनाथी पंथ।
5. दरियानाथ – दरियानाथी पंथ।
6. गंगानाथ (भीष्म) – गंगानाथी पंथ (इष्ट भीष्म)
7. वैरागनाथ, भर्तृहरि – वैरागीनाथ या वैरागनाथ पंथ।
8. रावलनाथ, नागनाथ – रावलपंथ।
9. जलन्धरनाथ – जालन्धरनाथ पंथ।
10. आईनाथ (विमला) – आईपंथ।
11. कपिलनाथ (कपिलमुनि) – कपिलानीपंथ।
12. धजनाथ (हनुमान) – धजनाथी पंथ।[3]

---

[3] ब्रिग्जा गोरक्षनाथ एण्ड कनफटा योगीज़, पृ. 63।

नाथ सम्प्रदाय इन बारहपंथ के साथ कापालिक मत के 12 आचार्यों का उल्लेख है, जो शाबर तन्त्रा में मिलता है। नित्या तन्त्रा में शिव ने स्वयं कहा है कि मेरे द्वारा निर्मित तन्त्रा को ही नवनाथों ने जगत में विस्तार दिया। षोडशनित्यातन्त्रा में शिव के साथ शक्ति की व्याख्या करते हुये स्पष्ट किया है कि शाक्ततन्त्रा में चार आचार हैं– वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त। इस सन्दर्भ में हजारीप्रसाद द्विवेदी 'नाथसम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि ''वैदिक आचार से वैष्णव श्रेष्ठ हैं, वैष्णव से शैव श्रेष्ठ हैं और शैव से शाक्त श्रेष्ठ हैं।'' इसलिये शैव और शाक्त दोनों एक मूल दर्शन का ही रूप हैं क्योंकि नाथ सम्प्रदाय में शिव और शक्ति उस परमतत्त्व के ही दो रूप हैं। नाथमत में एक श्लोक प्रचलित है जो इस प्रकार से है–

''शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेराभ्यन्तर शिवः।
अन्तर नैव जानीयाच्चन्दचंद्रिकयोरिकः।''

शिवशक्ति परस्पर एक है। नाथपंथ का एक विशिष्ट दर्शन है जिसपर नाथ–साधना अवलम्बित है। नाथपंथ में सृष्टि की उत्पत्ति और लय, स्वरूप–ज्ञान, समष्टि और व्यष्टि, जीव, आधार–शक्ति का स्वरूप, जीव–जगत और ईश्वर की भूमियाँ, परमपद, देह–सिद्धि – सभी पर विचार किया गया है। नाथ–योगी मानते हैं कि अनन्त शक्तिमान परमेश्वर अपने एकाकार आनन्दस्वरूप में अवस्थित रहते हुये नाना ब्रह्माण्डों के अनेकानेक आकारों और रचनाओं में विलास करते हैं और अभेद रूप शिव समरस होकर सर्वत्रा विद्यमान हैं। व्यवहार दृष्टि से ब्रह्म नाना आकारों एवं रूपों में विद्यमान है परंतु आंतरिक रूप से सदैव अवस्थित है। गोरखवाणी में कहा भी गया है कि

''अवधू न कोई आवै न कोई जाई।
कांसा नाद मधि एक समाई।
यैके सूत्रौ प्रोया हार
सांभलि हो गोरष कहूँ विचार।।''

अर्थात् इस संसार में कोई आता–जाता नहीं, वह अनादि अनन्त है। सभी एक सूत्रा से बंधे हैं। ''अविगत रहंत, आवते न जाते। जैसा है तैसा हो रहते।'' अर्थात् अविगत परमतत्त्व 'अनामा' है। उससे ही ब्रह्माण्ड है। परम ब्रह्म में इच्छाशक्ति विद्यमान है जो जीवों के दुःख–सुख–भोगों के निमित्त सृष्टि और प्रलय में, प्रसार एवं संकोच धर्म वाली है। इस इच्छा शक्ति से ही परमतत्त्व में कर्तृत्वबोध हुआ। फलस्वरूप ब्रह्माण्ड की रचना हुई। इस निजा शक्ति को नाथ–योगी इच्छाशक्ति कहते हैं। नाथों के उपलब्ध संस्कृत साहित्य ग्रन्थों के अनुसार – अनामा तत्त्व की निजाशक्ति से प्रथम उन्मुखतारूप पराशक्ति, पराशक्ति से स्पन्दनमात्रा अपराशक्ति, अपराशक्ति से अहंकाररूपा सूक्ष्म शक्ति और सूक्ष्मशक्ति से वेदनशीला कुण्डलिनीशक्ति उद्भूत हुई है। इस अनामा तत्त्व में अंतर्लीन निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा तथा कुण्डलिनी शक्तियों में पाँच–पाँच के क्रम से पच्चीस गुण विद्यमान हैं। इन गुणों का आश्रय लेकर विश्व–उत्पत्ति का सिद्धान्त नाथपंथ में प्रचलित है।

नाथसिद्ध सम्प्रदाय में दर्शन की विशिष्ट गम्भीरता है। सृष्टि–उत्पत्ति में परपिण्ड से अपरमपद, परमपदशून्य–निरंजन और परमात्मा प×चतत्त्वात्मक सृष्टि है। अनाधिपिण्ड

से परमानन्द, परमानन्द से प्रबोध, प्रबोध से चिदुदय, चिदुदय से प्रकाश, प्रकाश से सोऽहं–भाव आविर्भूत हुआ।

नाथपंथ के दर्शन में विशेष शब्दावली प्रचलित है जैसे – ''निरंजन' का तात्पर्य परपिण्ड से है, 'ओउम्' का तात्पर्य अनादिपिण्ड से है, 'आकाश–वायु–तेज–तोया–भस्मी – प×चमहाभूत' का तात्पर्य आद्यपिण्ड से है।''[4] गोरखवाणी में प×चभूतमय महासाकार पिण्ड का नाम ही 'जोगी' है। इस महासाकार पिण्ड का सम्मिलित महाभाव ही शिव है। इस शिव से भैरव, भैरव से श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु, विष्णु से ब्रह्मा की मूर्ति आविर्भूत हुई। इसे ही यहाँ साकारपिण्ड की अष्टमूर्ति कहते हैं।[5] इस अष्टमूर्ति के ब्रह्मा द्वारा साकारपिण्ड के प×चतत्त्व और पच्चीस गुण से नर–नारीरूप प्रकृति बनी है। इस प्रकृतिपिण्ड में कर्म के पाँच गुण, काम के पाँच गुण, चन्द्र की सोलह कलायें (सत्राहवीं निजकला), सूर्य की बारह कलायें (तेरहवीं निजकला) और अग्नि की दस कलायें (ग्यारहवीं निजकला) विद्यमान हैं। इसी से प्रकृति पिण्ड पुनः पुनः मातृकुक्षि से गर्भ–पिण्ड रूप जीव उत्पन्न होता है। इस गर्भपिण्ड में दस प्रधान नाड़ियाँ, दस प्रधान वायु, दस धातु, दस द्वार, तीन सौ साठ अस्थि, साढ़े तीन कोटि रोम तथा रोमकूप, नवचक्र, षोडश आधार, त्रिालस्य एवं प×चाकाश विद्यमान हैं।

इस तरह नाथ सम्प्रदाय में जो दर्शन की अवधारणा और व्याख्या है वह शिव और नाथ के रूप में भारतीय अध्यात्म का एक रूप ही है। प्रायोगिक शब्दावली अलग है, मूलतत्त्व दर्शन वही है। शिव से अभिन्न शक्ति महाप्रलय में अकुलावस्थायुक्त है, वह काल की त्रौआयामिता से अलग संकोचशील बनकर सम्पूर्ण सृष्टि का संहार करती परमशिव में लीन हो जाती है। अतः सर्वाधिष्ठान पद – नाथपंथ मतानुसार द्वैताद्वैत विवर्जित एकाकार नाथ अथवा शिव ही यथार्थ हैं, सत्य है। दृश्य जगत में मनुष्य उस शिव का चैतन्य लघु रूप है। अतः इस शरीर के भीतर ही पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड के रहस्य को जानना और अभेदतत्त्व को प्राप्त करना समरसीकरण कहलाता है। इस समरसीकरण की रीति नाथ–साधना का प्रधान वर्ण्य–विषय है। यही सम्यक् ज्ञान कि अनामा स्वयंसिद्ध सर्वेषाम् मूलकारणं प्रसर संकोचहीन साम्यावस्था नाथ–योगी के चित्रा स्थिरणीकरता के लिये ज़रूरी है। यही दर्शन है जिसमें पृथ्वी – यह शरीर है; जल – देहजल स्वेद आदि; अग्नि में क्षुधा, तृषा, निद्रा, कांति, प्रभा; वायु में श्वसन, भ्रमण, प्रसारण–संकुचन, निरोध और आकाश में राग–द्वेष, भव, लज्जा और मोह शामिल हैं। प×च तत्त्वों के साथ प×च अंतःकरण जिसमें मन–बुद्धि–अहंकार, चित्रा और चैतन्य हैं; कुलप×चक (गुण) जिसमें सत–रज–तम, काल, जीव; और व्यकाख्यप×चक में इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृति और वाक्; सार्थ प्रत्यक्षप×चक में कर्म, काम, चंड–सूर्य–अग्नि – सभी में समाहित हैं। इस सम्पूर्ण दर्शन के आधार पर नाथपंथी योगी–साधना करता है। शरीर के भीतर शक्ति ही सम्पूर्ण कार्यव्यापार का मूल अधिष्ठान है। यह शक्ति ही है जो चराचर सृष्टि को अनंत ब्रह्माण्ड से जोड़े हुये है। यही शक्ति कुण्डली जागरण से उद्भूत होती है। शक्ति जागरण की साधना मूलाधार से सहस्राधार तक प्रकाशरूपा

---

[4] गोरक्ष वाणी – पृ. 220।

[5] सिद्ध–सिद्धान्त–पद्धति, डॉ. कल्याणी मल्लिक द्वारा सम्पादित, 1954 में प्रकाशित।

पराशक्ति के अनुभव तक चलती है। यह पराकलाशक्ति द्वारा नित्य शुद्ध–बुद्ध–स्वरूप आत्मतत्त्व को स्वयं प्रकाश–बोध उपलब्ध होना – यह प्रकाश साधक की सफलता है।

नाथ–सम्प्रदाय की साधना प्रणाली अनुभूतिपरक है। नाथयोगी की समस्त साधना प्रणालियाँ परमपद, पूर्णत्व अथवा शिवत्व प्राप्ति के लिये हैं। सिद्ध सिद्धान्त संग्रह के 4/34 में लिखा है–

"ऊर्ध्व शक्ति निपातोऽथ मुमुक्षुणां कृतेन्यते।
सर्वतत्त्वोदयध्वेवृत्तित्वन्निर्नाम परम पदम्।।"(सि.सिद्धान्त सं. 4/34)

अर्थात् दर्शन से अनुप्राणित समग्र नाथ–योगी–साधना सर्वथा उदय से परमपद को पाने के लिये है। नाथ साधना प्रणाली बहुविधि और सर्वांगीण है।

नाथमतानुसार यह समग्र सृष्टि अनंत शक्ति का ही आत्मप्रकाश है। इन्द्रिय गोचर स्थूलसृष्टि, सूक्ष्मसृष्टि और सूक्ष्मतम कारणसृष्टि उस अनंत शक्ति का त्रिविध विस्तार है। पुरुषाकार साधना प्रणाली नाथपंथी योगी का प्रथम सोपान है जिसमें प×चतत्त्व का यह शरीर मन की परमशक्ति के माध्यम से परमशिव को निश्चय ही पा सकता है। अन्तर्मन का निश्चय और समर्पण स्थूल देह को सिद्ध देह में बदलती कर्म करता है। यह साधना शबद् से बिन्दु और बिन्दु से प्रकाश प्राप्ति के लिये है। नाथ योगी कहते हैं – देह ही सबद्, वही प्रकाश है। यथा –

"सबदहि ताला सबदहि कूची सबदहि सबद भया उजियाला
कांटा सेती कांटा षूँटे, कूँजी से ही ताला।।" (गोरखवाणी, पृ. 207)

यह सबद रूपी देह, देह से ही साधना द्वारा मुक्ति और परमपद की प्राप्ति, सिद्ध देह के लिये साधना होती है। इस संदर्भ में महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज लिखते हैं कि "आत्मशुद्धि के लिये सिद्ध देह साधना ज़रूरी है। सिद्ध–देह में काल का प्रभाव नहीं पड़ता, परन्तु इस पर योगी की इच्छाशक्ति काम करती है। सिद्धदेह का विघटन कभी नहीं हो सकता क्योंकि ये नित्य है। परंतु संकोच–विस्तार हो सकता है, जहाँ माया से सम्बन्ध टूट जाता है। सिद्ध देह के लिये साधक क्रमशः 1, 4, 2 मात्राा के अनुसार इड़ा द्वारा पूरक, पिंगला द्वारा रेचक, बीच में कुम्भक का अभ्यास करता है। सुष्मणा द्वारा षट्चक्रभेदन से सहस्रार में शक्ति का प्रकाश पाता है। तब सिद्ध देह में सर्वव्याप्ति का अनुभव करता है कि सिद्ध देह –

"उदै न अस्त, राति न दिन, सरबे सचराचर भाव न भिन्न
सोई निरंजन डाल न मूल, सर्वव्यापक सुषभ न अस्थूल।।"
(सबदी गो.वा.प्र.111)

उपनिषदों में प्राप्त षट्चक्र एवं अष्टचक्रों के स्थान पर नवचक्र की साधना नाथपंथी योगी करते है। नवचक्रों में क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, नाभि, हृदयचक्र, कण्ठ, तालु, भूचक्र, निर्वाण और आकाशचक्र। आकाशचक्र त्रिाधावर्त भूमण्डलाकार ब्रह्मचक्र है जिसके समीप ज्योतिशक्ति का ध्यान उपदिष्ट है। यही त्रिाकोणात्मक कामपीठ है जिसका ध्यान सर्वलाभप्रद माना गया है। यही पुरुषाकार तत्त्व साधना का पहला अंग है, फिर सर्वाधिष्ठानरूप स०रु और गुरुतत्त्व की साधना; जिसमें स०रु ही साम्यावस्था में नित्य अधिष्ठित परम शिव रूप हैं, परमतत्त्व के ज्ञाता। उनके अनुग्रह से शिष्य साधना द्वारा देवाधिदेव शिव को पा लेता है। शास्त्राों में ईश्वर–कृपा, गुरुकृपा,

शास्त्राकृपा और आत्मकृपा का उल्लेख है, लेकिन नाथपंथी साधक सिर्फ और सिर्फ गुरुकृपा को ही सर्वोपरि मानता है। देहसिद्धि में गुरु ही अपनी विशेष कृपा से संसार–सागर से पार उतारता है। गोरख वाणी में लिखा है –

"सप्तधात का काया पिंजरा, सतगुरु जुगति विन सूवा।
बाबा सतगुरु मिले तब उबरा नहि तौ परले न हुवा।।"

यथा – "सुणि गुणवंता सुणि बुधिवंता, अनंत सिंधा की वाणी।
सीस नवावत सतगुर मिलया जागत रेयि विहाणी।।" (गोरखवाणी 107)

नाथ साहित्य में ऐसे हज़ार–हज़ार पद सतगुरु महिमा, गुरु की कृपा पर रचे गये हैं। आदिनाथ शिवरूप ही गुरु, वह ही सम्पूर्ण पराकाष्ठा है। सतगुरु से बड़ा कुछ भी नहीं। अद्वयतारकोपनिषद में उल्लेख है कि गुरु ही तत्त्ववेत्ता परब्रह्म है। यथा –

"गुरुदेव परंब्रह्म गुरुरेव परागतिः।
गुरुरेव पराविद्या गुरुरेव परायणम्।।
गुरुरेव पराकाष्ठा गुरुरेव परंधनम्।
यस्मात्तदुपदेष्टा सौ तस्मात् गुरुतरौ गुरुरिति।।

तत्त्व का उपदेष्टा गुरु ही परमगुरु है। विना तत्त्वबोध देहसिद्धि नहीं, परमसिद्धि नहीं हो सकती। सतगुरु दूसरा जन्म देता है।

नाथ–सम्प्रदाय में गुरु ही ज्ञान कराता, ज्ञान की परीक्षा करता है। गुरु ही योग सिखाता है। मत्स्येन्द्रनाथ लिखते हैं –

"तथा गुरु सिख की एकै काया
परचा होई तौ बिहडि न जाया।।" (गोरखबोध, गोरखवाणी 195)

गुरु ने ही परीक्षा करके यम–नियम को शिष्य के साथ जोड़कर "अष्टांग–योग की जगह षष्ठांग योग यानी तीन बहिरंग (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) और तीन अंतरंग (धारणा, ध्यान और समाधि) का विशेष उल्लेख है। बौद्ध तान्त्रिाक योग में भी इस प्रकार षडंग साधना का विवरण मिलता है।"[6] साथ राजयोग को महत्त्व दिया जिसमें देह–शुद्धि को घट शुद्धि कहकर लययोग, हठयोग से अधिक महत्त्वपूर्ण राजयोग कहा गया है। आत्माराम योगी ने लिखा है–

"राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्व लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम्।।
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरंजनम्।
जीवन्मुक्ति सहजा तुर्या चैत्यैकवाचकाः।।"

नाथपंथ राजयोग, हठयोग के साथ सूक्ष्मवेद को महत्त्व देते हैं जिसमें वेदत्रायी ऋक्–यजु–साम को माना है। पश्यतिरूपा सूक्ष्म वेद को ही नाथयोगी एकमात्रा सार–वस्तु मानते हैं।

इस तरह नाथपंथी साधना में कुण्डलनी में ज्योति स्वरूप परावाक् और नादानुसंधान एवं शून्य साधना, काय सिद्धि, वायुयोग, रसानंद, खेचरी विद्या, चिद्शक्ति विमर्श में मूलचिद्शक्ति, वामेश्वरी शक्ति, खेचरी शक्ति (चिदाकाश में संचरणशील), गोचरी शक्ति, दिक्चरी शक्ति, भूचरी शक्ति से सहस्रारस्थ शिव की प्राप्ति, और शुद्ध ज्ञान से

---

[6] डॉ. शान्तिप्रसाद चंदोला – नाथपंथ – भूमिका महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज पृ. 9।

अष्टमुद्रा द्वारा आत्मसिद्धि का मार्ग तय किया जाता है। अष्टमुद्रा में सबसे पहिले मूलनी शक्ति जो काम, तृष्णा, लोभ आदि से मुक्त कराती है; दूसरी मुद्रा जलश्री नाभिमध्य में क्रोध, मृत्यु, काल के भय से मुक्त कराती है; तीसरी मुद्रा वीरनी है (हृदय में ज्ञानदीप वाली); चौथी मुद्रा षेचरी है (मुखमध्ये स्वाद–विस्वाद वाली); पाँचवीं मुद्रा भूचरी (नासिका मध्ये गंध–विगंध वाली); छटवीं मुद्रा चाचरी (दृष्टि–विदृष्टि वाली); सातवीं अगोचरी मुद्रा (करण मध्ये सबद–कुसबद श्रवण वाली); अंतिम अष्टम मुद्रा उन्मनी ब्रह्माण्ड में स्थापित परमजोत वाली; और इन अष्टमुद्राओं को साधक पार करके सहस्रार शिव को पा लेता है। नाथ साधना के केन्द्र में चेतना के उर्ध्वगमन की और स्वानुभूत चेतना की अनुपम विधि है। यह एक विज्ञान की तरह प्रयोगशील रही, इसीलिये आज भी इस देश के अनेक स्थलों पर योगियों के लिये अनुकरणीय योग–साधना है। स०ुरु और योग्य शिष्य की परम्परा यह अनूठा दर्शन है, जो रहस्यमय होने के बावजूद गुरु–शिष्य परम्परा में अनुकरणीय है। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, भर्तृहरि, गोपीचंद आदि की परिपुष्ट परम्परा इस तत्त्वदर्शन को अधिक प्रामाणिक बनाती है। संसार सागर से पार उतरने आत्म–चेतस गुरु से स्वानुभूत अध्यात्म–तत्त्व जानने वाले शिष्य की लम्बी परम्परा ने नाथ वाणी, गोरखवत्ति, गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति, गोरक्षनाथ और कनफटा योगी, कुवलमाला, अपभ्रंशकाव्यत्रायी बोली के साथ साहित्य का अकूत भण्डार दिया है। जिसने अपने प्रभाव से नाथ परम्परा को चर्चित बनाया। दार्शनिक परम्परा को इस साहित्य ने अध्यात्म के विज्ञान का रूप दिया। भारतीय लोकचित्रा और संस्कृति में यदि किसी तत्त्वदर्शन की गहरी जड़ें जमीं हैं तो नाथ सम्प्रदाय, नाथ साहित्य की। इसे सम्पूर्ण देश के लोकसाहित्य ने माना। भक्ति आन्दोलन के साथ एक विशेष धर्म सरिणि के रूप में अध्यात्म का विज्ञान बनकर नाथ–साधना बलवती रही। राजस्थानी साधुओं, गुजराती महंतों, महाराष्ट्र की संत–परम्परा, ज्ञानेश्वर और उनकी शिष्य–मण्डली ने बरसों–बरस इस तत्त्वदर्शन को अपनी साधना का केन्द्र बनाया। लोक–संस्कृति में इनकी उलटबासियों और रहस्यदर्शन ने आम जनता को अध्यात्म–शिक्षण के लिये प्रेरित किया। भारतीय चेतना बुद्धि के अतिक्रमण के बाद स्वानुभव को पा सकेगा। इस तरह भारतीय साधना–परम्परा और तत्त्वदर्शन के साथ मानवशक्ति और चेतना के ऊर्ध्वगमन की व्यावहारिक विधियों के विकास में नाथपंथ का अमूल्य योगदान है। भारत में ऐसे कम ही अध्यात्मिक सम्प्रदाय रहे हैं जो तत्त्वदर्शन और प्रयोग की समग्रता में बेजोड़ उदाहरण माने जा सके हैं। राजयोग और हठयोग की साधना मे जहाँ एक ओर साधकों को शक्ति के उन्मेष की व्यवहारिक विधियाँ मिलीं, वहीं दूसरी ओर स्वानुभूति केन्द्रित तत्त्वदर्शन भी मिला। वस्तुतः योगदर्शन व प्रत्यय की परम्परा न होकर चेतना का उन्मेष भी है। नाथ–परम्परा ने साधकों और सिद्धों के स्वानुभव पर केन्द्रित ज्ञान परम्परा को ही वास्तविक दर्शन की तरह प्रस्तावित किया है। अध्यात्मिक चेतना के विज्ञान की तरह ही योग–साधना के दर्शन को ही इस परम्परा ने जीवंत रखा है। जब भी भारतीय साधना और ज्ञान परम्परा में विज्ञान की भाँति कर्मकारण सिद्धान्त के आधार पर विकसित ज्ञान और प्रयोग की चर्चा होगी, एक विशेष उदाहरण के रूप में नाथ परम्परा की साधना और दर्शन की महिमा को हम प्रस्तावित कर सकेंगे।

इति

वेद और पा×चरात्राागम

डॉ. अशोक कुमार कालिया
उपाचार्य, संस्कृत विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

<u>अनुक्रम</u>

वेद और पा×चरात्राागम

वैष्णव आगम वैखानस और पा×चरात्रा भेद से दो प्रकार के होते हैं। हयशीर्ष पा×चरात्रा में भागवत नाम से एक अन्य भेद भी प्राप्त होता है जिसकी सात संहिताओं के नाम भी परिगणित किये गये हैं।[1] इस उल्लेख के अतिरिक्त इन भागवत संहिताओं का कोई भी संप्रदाय और उसकी परम्परा उपलब्ध नहीं होती। वैखानस और पा×चरात्रा ये दो भेद ऐसे हैं जिनके अनुसार वैष्णव दिव्यदेशों में अर्चना और आराधना का क्रम प्राचीन काल से लेकर आज भी प्रवर्तमान है। वेदान्तदेशिक ने यह तथ्य इन शब्दों में प्रकाशित किया है–

''त्वां पा×चरात्रिाकनयेन पृथग्विधेन
वैखानसेन च पथा नियताधिकाराः।
स×ज्ञाविशेषनियमेन समर्चयन्तः
प्रीत्या नयन्ति पलवन्ति दिनानि धन्याः।।''[2]

वैखानस आगम के अनुसार तिरुपति में भगवान् श्रीनिवास की तथा पा×चरात्रा आगमों के अनुसार श्रीरङ्गम्, मेलकोटे तथा का×चीपुरम् आदि दिव्य देशों में आज भी

विधिपूर्वक आराधना की जाती है। वैखानस–मतावलम्बियों की संख्या पा×चरात्रा मतावलम्बियों की अपेक्षा स्वल्प है। दोनों आगमों में प्रतिपादित दीक्षा–विधि इस संख्या–भेद में एक महत्त्वपूर्ण कारण है। पा×चरात्रा आगमों के अनुसार प×चसंस्कारमयी दीक्षा वैष्णवत्व के लिये परमावश्यक है। इन पाँच संस्कारों का परिगणन ईश्वरसंहिता में इस प्रकार किया गया है–

''अतः शिष्यस्य वै कुर्यात् संस्कारान् प×च च क्रमात्।
तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्राो यागश्च प×चमः।।''[3]

इन प×च संस्कारों मं प्रथम ''ताप'' संस्कार अत्यधिक चर्चित संस्कार है। इस संस्कार के अन्तर्गत आचार्य शिष्य के दक्षिण बाहुमूल में विष्णु के ''सुदर्शन'' चक्र को तथा वाम बाहुमूल में ''पा×चजन्य'' शङ्ख को अच्छी प्रकार से अग्नि में तपा कर अंकित करता है–

''आचार्यः स्वयमादाय नियुक्तो वाऽथ मन्त्रावित्।।
प्राङ्मुखस्योपविष्टस्य न्यसेद्बाहौ च दक्षिणे।
सुदर्शनं तथा वामे प×चजन्यं स्वमन्त्रातः।।''[4]

वैखानस वैष्णवों के तप्तमुद्राङ्कन का सर्वथा निषेध किया गया है। इस सम्प्रदाय के अनुसार विष्णु स्वयं दीक्षा देने वाले गुरु होते हैं और शिशु की दीक्षा माँ के गर्भ में ही हो जाती है। इस कारण वैष्णवत्व को प्राप्त होने वाला शिशु ''गर्भवैष्णव'' कहा जाता है। इस सन्दर्भ में वैखानस आगम की आनन्दसंहिता की यह उक्ति द्रष्टव्य है–

''वैखानसानां सर्वेषां गर्भचक्रमुदाहृतम्।
यो विष्णुवलिसंस्काराद् गर्भचक्रेण लाञ्छितः।
स गर्भवैष्णवो जातमात्रा इत्युच्यते बुधैः।।''[5]

वैखानसों का यह संस्कार ''गर्भचक्रसंस्कार'' नाम से प्रसिद्ध है। गर्भाधान से आठवें मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार से साथ यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है–

''अथ गर्भाधानाद्यष्टमे मासि सीमन्तोन्नयनं कुर्यात्।''[6]

गर्भवती माता तथा गर्भ में स्थित शिशु की रक्षार्थ आयोजित होने वाले इस संस्कार में विष्णुबलि का विधान किया जाता है। यह विष्णुबलि माता और शिशु की रक्षा के साथ ही साथ शिशु की गर्भावस्था में ही उसमें वैष्णवत्व का आधान करती है। इस संस्कार में हवन आदि के पश्चात् गर्भवती महिला को याज्ञिक पायस का पान कराया जाता है। इस पायस में पहले विष्णुचक्र डुबोया जाता है।[7] इस सन्दर्भ में वैखानस आगम के क्रियाधिकार का यह अंश द्रष्टव्य है–

''नारायणः स्वयं गर्भे मुद्रां धारयते निजाम्।
तत्करस्थेन चक्रेण शंखेन प्रथितौजसा।।
करोति शंखचक्राङ्कं शिशोर्वै बाहुमूलयोः।
वैखानसेन सूत्राोण स्यादयं गर्भवैष्णवः।।
निसर्गवैष्णवा शुद्धा जन्मनाचार्यसंज्ञिताः।
विखना इति वै विष्णुस्तज्जा वैखानसाः स्मृताः।।''[8]

इस प्रकार इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत शिशु जन्म से पूर्व ही वैष्णव हो जाता है तथा वैष्णव रूप में ही जन्म लेता है। जिन्होंने वैखानस वैष्णव के रूप में जन्म नहीं लिया है उनके लिये वैखानसत्व अथवा वैखानस वैष्णवत्व को प्राप्त करने का कोई भी अन्य उपाय नहीं है। सम्भवतः वैखानस मतावलम्बियों की अल्पीयसी संख्या का यही एक विशिष्ट कारण है। पांचरात्रा आगमों के अनुसार जन्मना वैष्णवत्व की कठोरता नहीं है। सम्भवतः उनकी भूयसी संख्या का यह एक महत्वपूर्ण कारण है।

वैखानस आगमों की वैदिकता—

वैखानस आगम पूर्णरूपेण वैदिक हैं। इनके पूर्ण वैदिक होने के कारण ही इनकी प्रामाणिकता के विषय में किसी भी सम्प्रदायाचार्य ने आज तक सन्देह भी व्यक्त नहीं किया है। वैखानस आगम की आनन्दसंहिता में आगम के तीन प्रकार बताये गये हैं—

''निगमस्तान्त्रिाके मिश्रस्त्रिाविधः प्रोक्त आगमः।
निगमो विखनाप्रोक्तो मिश्रो भागवतः स्मृतः।।''[9]

अर्थात् आगम के तीन प्रकार होते हैं— निगम, तान्त्रिाक और मिश्र। वैखानस आगम निगम है, पांचरात्रा तान्त्रिाक तथा भागवत आगम मिश्र है। इस प्रकार वैखानस आगम को निगम घोषित करने का अर्थ है उसे पूर्ण वैदिक घोषित करना। किन्तु शब्दों से घोषित करने मात्रा से कोई शास्त्रा वैदिक अथवा तान्त्रिाक नहीं हो सकता। वैदिकता की सिद्धि के लिये आवश्यक है उसका किसी वेद संहिता अथवा किसी वैदिक शाखा से सम्बन्ध प्रदर्शित करना।

यद्यपि वैखानसों की अपनी कोई मन्त्रा संहिता अभी तक प्रकाश में नहीं आयी है तथापि उल्लेख मिलते हैं जिनसे इनकी मन्त्रासंहिता होने के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। वैखानस श्रौतसूत्रा के प्रिपेस में डॉ. कालैण्ड वैखानस आगम की आनन्दसंहिता (1.78) के निम्नलिखित अंश उदाहृत किये हैं—

''वैखानसं तैत्तिरीयं तथा वाजसनेयकम्।
यजुर्वेदस्त्रिाधा प्रोक्तः शुद्धं वैखानसं स्मृतम्।
अशुद्धं तैत्तिरीयं च शुद्धं वाजसनेयकम्।।''[10]

इसके अतिरिक्त ''औखेय'' नाम से कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा का उल्लेख चरणव्यूह में प्राप्त होता है, यथा—

''तत्रा तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति। औखेयाः खण्डिकेयाश्चेति।''[11]

वैखानस श्रौतसूत्रा की व्याख्या के आरम्भ में प्राप्त एक श्लोक से ज्ञात होता है कि वैखानसों का सम्बन्ध इसी औखेय शाखा से था। वह श्लोक इस प्रकार है—

''येन वेदार्थं विज्ञाय लोकानुग्रहकाम्यया।
प्रणीतं सूत्राम् औखेयं तस्मै विखनसे नमः।।''[12]

इसी प्रकार वैखानस श्रौतसूत्रा की पुष्पिका भी द्रष्टव्य है—

''इति श्रीमदौखेयशाखायां विखनसा प्रोक्ते श्रीवैखानससूत्रो मूलगृह्ये द्वात्रिांशः प्रश्नः।''[13]

वैखानस आगम की आनन्दसंहिता में प्राप्त विवरण से औखेय तथा वैखानस एकार्थक प्रतीत होते हैं। इस सन्दर्भ में आनन्दसंहिता के आठवें अध्याय की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

''औखेयानां गर्भचक्रं न्यासचक्रं वनौकसाम्।
वैखानसान् विना न्येषां तप्तचक्रं प्रकीर्तितम्।।13।।
औखेयानां गर्भचक्रदीक्षा प्रोक्ता महात्मनाम्।।28।।''[14]

यहाँ वैखानस तथा औखेय शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। इसके साथ ही वैखानस आगमों के अनुसार जिस गर्भचक्र दीक्षा का उल्लेख पहले किया गया है, वही दीक्षा औखेयों के लिये विहित की गयी है। यह अनुमान किया जा सकता है यही औखेय शाखा वैखानसों की अपनी शाखा थी।

इसके अतिरिक्त वैखानसों के अपने सूत्रा भी हैं। यह सूत्रा साहित्य उपलब्ध भी हैं और प्रकाशित भी। डॉ. डब्ल्यू. कालैण्ड ने 1927 में वैखानसों के गृह्य और धर्म सूत्राों को ''वैखानसस्मार्तसूत्राम्'' नाम से प्रकाशित किया। इसी प्रकार वर्ष 1941 में ''वैखानसश्रौतसूत्राम्'' का सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया। यह दोनों ही ग्रन्थ ''रायल एसियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता'' से प्रकाशित हुए थे। इन सूत्राों के रचयिता ''विखनस्'' निश्चित रूप से वैदिक ऋषि हैं। ''विखनस'' ऋषि के अत्रि, मरीचि, कश्यप और भृगु नामक शिष्यों ने अपने द्वारा रचित संहिताओं में इन्हीं सूत्राों के तात्पर्यार्थ को विस्तार प्रदान किया है। इस प्रकार वैखानस आगम पूर्णतया वैदिक सिद्ध होते हैं। इन आगमों में विहित समग्र प्रतिष्ठा, अर्चना आदि विषयक, अनुष्ठान भी पूर्णतया वैदिक हैं। इसके अतिरिक्त जैसे कुमारिल तथा शंकर आदि आचार्यों ने पांचरात्रा आगमों को लेकर उन्हें अवैदिक सिद्ध करने का प्रयास किया है, वैखानस आगमों के विषय में किसी भी दार्शनिक अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की ओर से उनकी अवैदिकता की लेशमात्रा भी शङ्का नहीं की गयी है।

इस प्रकार वैखानस आगम पूर्णतया वैदिक तथा प्रामाणिक है।

पा×चरात्रा–आगमों की वैदिकता तथा प्रामाण्य

पा×चरात्रा आगमों की स्थिति वैखानस आगमों के समान निर्विवाद नहीं है। सर्वप्रथम कुमारिल भट्ट ने अपने तन्त्रावार्तिक में इन्हें अवैदिक शास्त्राों में परिगणित किया।[15] और सम्भवतः यहीं से पा×चरात्रा आगमों की वैदिकता तथा प्रामाणिकता के विषय में सन्देह की परम्परा का बीजारोपण हुआ। इसके कुछ समय पश्चात् शङ्कराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य में पा×चरात्रा आगमों को वेदविरोधी सिद्ध किया है। उनका कहना है कि पा×चरात्रा आगमों में जीवोत्पत्ति का प्रतिपादन है तथा वेदनिन्दा भी की गयी है।[16] इस प्रकार वेदविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण पा×चरात्रा आगम सर्वथा अप्रामाणिक हैं। शङ्कराचार्य के पश्चात् तो पा×चरात्रा आगमों की अवैदिकता और अप्रामाणिकता का उद्घोष करने वालों की एक लम्बी परम्परा ही दिखाई देती है। प्रायः ब्रह्मसूत्राों के सभी अथवा अधिकांश अवैष्णव भाष्यकारों ने पा×चरात्रा आगम विषयक ''उत्पत्यसम्भवाधिकरण'' की व्याख्या शङ्कराचार्य की दृष्टि अवलम्बन लेकर ही की है। इस प्रकार यह एक ऐसा समय था जब एक ओर तो पूर्ण वैदिक होने के कारण वैखानस आगमों को सबका आदर और विश्वास प्राप्त हो गया

था दूसरी ओर वैष्णव आगमों का ही दूसरा और महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित प्रकार पा×चरात्रा आगम कुमारिल भट्ट और शङ्कराचार्य की आलोचनाओं के फलस्वरूप अविश्वास और सन्देह की परिधि में आ गया था। अब आवश्यकता थी पा×चरात्रा आगमों के एक ऐसे समुद्धारक की जो उपर्युक्त आचार्यों द्वारा प्रस्तुत युक्तियों का प्रबल और प्रभावशाली उत्तर दे सके। विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य तथा रामानुज के परमगुरु यामुनाचार्य ने समय की इस चुनौती को स्वीकार किया। उन्होंने अपने ग्रन्थ ''आगमप्रामाण्य'' में इन आचार्यों के द्वारा उपस्थित आक्षेपों का सबल उत्तर दिया। किन्तु यामुनाचार्य से भी पूर्व पा×चरात्रा आगमों को एक अतार्किक और अप्रत्याशित क्षेत्रा से प्रभावशाली संरक्षक और समर्थक की सुखद उपलब्धि हुई। और वह संरक्षक थे न्यायदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य जयन्तभट्ट। जयन्तभट्ट ने अपनी रचनाओं ''न्यायमंजरी'' तथा ''षण्मतनाटक'' में आगमों को वेद के समान ही प्रामाणिक सिद्ध किया। रामानुजाचार्य तथा वेदान्तदेशिक ने यामुनाचार्य से दिशानिर्देश प्राप्त करके पा×चरात्रा आगमों को वैदिक तथा प्रामाणिक सिद्ध किया। अति संक्षेप में पा×चरात्रा आगमों के प्रामाण्य से सम्बद्ध आक्षेप और समाधान की यही परम्परा है।

यामुनाचार्य कृत ''आगमप्रामाण्य'' इस सम्बन्ध में आकर ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में पा×चरात्रा आगमों की अप्रामाणिकता की साधक प्रायः सभी युक्तियाँ पूर्वपक्ष के रूप में उपनिबद्ध करके सिद्धान्तपक्ष में उनका समीचीन उत्तर दिया गया है। यहाँ उन पक्षों द्वारा प्रस्तुत कुछ प्रमुख युक्तियों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

<u>मीमांसकों द्वारा पा×चरात्रा के अप्रामाण्य का प्रतिपादन</u> –

पा×चरात्रा के अप्रामाण्य–प्रतिपादन की जो परम्परा उपलब्ध होती है उसका आरम्भ मीमांसकों से ही होता है। उसमें भी कुमारिल भट्ट अग्रगण्य हैं। कुमारिलभट्ट ने वेदविरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक साहित्य की परिगणना करते समय पा×चरात्रा आगमों को भी उसमें सम्मिलित किया है। उन्हीं के शब्दों में–

''.....यद्वा यान्येतानि त्रायीविद्भिर्न परिगृहीतानि कि×िचत्तन्मिश्रधर्मक×चुकच्छाया–पतितानि लोकोपसंग्रहलाभपूजाख्यातिप्रयोजनपराणि त्रायीविपरीतासम्बद्धदृष्टशोभादि–प्रत्यक्षानुमानोपमानार्थापत्तिप्राययुक्तिमूलोपनिबद्धानि सांख्ययोगपा×चरात्रापाशुपतशाक्यग्रन्थ– परिगृहीतधर्माधर्मनिबन्धनानि विषचिकित्सावशीकरणोच्चाटनोन्मादनादिसमर्थकतिपय मन्त्राौघधिकादाचित्कसिद्धिनिदर्शनबलेनासिंहासत्यवचनमदानदयादिश्रुतिस्मृतिसंवादिस्तोकाथर्गन्धवासितजीविकाप्रायार्थान्तरोपदेशीनि यानि च बाह्यतराणि म्लेच्छाचारमिश्रकभोजना–चरणनिबन्धनानि तेषामेवेतच्छ्रुतिविरोधहेतुदर्शनाभ्यामनपेक्षणीयत्वं प्रतिपाद्यते।''[17]

उपर्युक्त पंक्तियों में कुमारिलभट्ट ने पा×चरात्रा आगमों को त्रायीविपरीत अर्थ के प्रतिपादक साहित्य में परिगणित करते हुए उन्हें अप्रामाणिक सिद्ध किया है। यदि यह कहा जाय कि वेदविरुद्ध अंश को यदि अप्रमाणिक मान भी लिया जाय तो भी उन शास्त्राों में जो अंश वेद विरुद्ध नहीं है, अपितु वेदानुकूल है उस अंश को तो प्रामाणिक मानना ही होगा। इस प्रश्न के उत्तर में कुमारिल भट्ट का कथन है कि चतुर्दश अथवा अष्टादश विद्या–स्थान धर्म के विषय में प्रमाण के रूप में स्वीकृत किये गये हैं उनमें

बौद्ध आर्हत आदि नहीं आते। इस कारण उन्हें प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। कुमारिल के ही शब्दों में–

''यत्तर्हि वेदविहितं न बाधते शिष्टान् वा वेदविदो न कोपयति। विराहाराममण्डलकरणवैराग्यध्यानाभ्यासाहिंसासत्यवचनदमदानदयादि तद्बुद्धादिभाषितं प्रमाणत्वेनाविद्धमिति चेत् न। शास्त्रापरिमाणत्वात्। परिमितान्येवहि चतुर्दशाष्टादश वा विद्यास्थानानि धर्मप्रमाणत्वेनशिष्टैः परिगृहीतानि वेदोपवेदाङ्गोपाङ्गाष्टादशधर्मसंहिता–पुराणशाखशिक्षा दण्डनीतिस×ज्ञकानि, न च तेषां मध्ये बौद्धाहैतादिग्रन्थाः स्मृता गृहीता वा।''[18]

इस विवेचन कर निष्कर्ष कुमारिल इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं–

''तस्माद्यावत्परिगणितवेदादिशास्त्राव्यतिरिक्तानिबन्धनं तद्धर्मप्रमाणत्वेन नापेक्षितव्य–मिति।''[19]

यामुनाचार्य ने मीमांसा–ग्रन्थों में पा×चरात्रा आगमों के अप्रामाण्य प्रतिपादक तर्कों को पूर्वपक्ष के रूप में संग्रहीत किया है। उनमें से कतिपय प्रमुख युक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं। यथा–

1. पा×चरात्रा आगमों में प्रतिपादित विलक्षण दीक्षा में दीक्षित व्यक्ति ही समस्त पा×चरात्रा अनुष्ठानों को सम्पादित करने का अधिकारी होता है।[20] मण्डलाराधन–पूर्वक सम्पन्न होने वाली दीक्षा अनेक पा×चरात्रा आगम ग्रन्थों में प्रतिपादित है जो बहुसमयसाध्य होने के साथ ही साथ बहुश्रमसाध्य भी है। प×चसंस्कारमयी दीक्षा उसी का संक्षिप्त रूप है। यह पा×चरात्रा ग्रन्थों में प्रतिपादित होने के साथ ही साथ पा×चरात्रा सम्प्रदायावलम्बियों में प्रचलित भी है। आचार्य रामानुज की दीक्षा भी इसी विधि से हुई थी। इस दीक्षासंस्कार के पाँच अंग हैं– ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्रा और याग। भारद्वाजसंहिता के शब्दों में इन संस्कारों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है–

''तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्राो यागश्च प×चमः।
अमी हि प×चसंस्काराः पारमैकान्त्यहेतवः।।''[21]

वेदाध्ययन की योग्यता के लिये आवश्यक उपनयन संस्कार से संस्कृत व्यक्ति के लिये भी भगवदर्चना आदि अनुष्ठानों में योग्यताप्राप्ति हेतु पा×चरात्रा सम्मत यह विशेष दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। यामुनाचार्य आगमप्रामाण्य में पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसकों का पक्ष प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि पा×चरात्रा आगमों में प्रतिपादित विलक्षण दीक्षा–पूर्वक भगवत् आराधना और अभिलषित स्वर्ग–अपवर्ग रूपी फल में साध्य–साधन सम्बन्ध की सिद्धि प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से नहीं होती। आगमप्रामाण्य के ही शब्द इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं–

''न च प×चरात्रातन्त्राप्रतिपाद्यमानानविलक्षणदीक्षापूर्वकभगवदाराधनाभिलषितस्वर्गा–पवर्गादिसाध्यसाधनसम्बन्धं प्रत्यक्षादीन्यावेदयितुं क्षमन्ते। न हि प्रत्यक्षेण दीक्षाराधनादीनि निरीक्षमाणाः तेषां निःश्रेयससाधनतां प्रतिपद्यामहे।''[22]

इस सन्दर्भ में आगम–प्रामाण्य में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम (वैदिक शब्द), उपमान तथा अर्थापत्ति नामक प्रमाणों का एकैकशः विचार किया गया है और प्रत्यक्ष आदि का अविषय होने के कारण पा×चरात्रा के प्रामाण्याभाव का प्रतिपादन किया गया है।

2. मीमांसकों का यह भी कहना है कि पा×चरात्रा आगमों के मानने वाले अपनी जाति और कर्मों से त्रायीमार्ग से अपभ्रष्ट हैं। वेदमार्ग से भ्रष्ट लोगों द्वारा परिगृहीत होने के कारण पा×चरात्रा आगम सर्वथा अप्रमाणिक हैं। मीमांसक पा×चरात्रा–आगमों के मानने वाले भागवतों को ब्राह्मण मानना तो दूर त्रौवर्णिक भी नहीं मानते। यद्यपि ये ब्रह्मणादि के समान ही शिखा, यज्ञोपवीत आदि धारण करते हैं, किन्तु इतने मात्रा से तो वह ब्राह्मणादि नहीं हो सकते। दुष्ट शूद्रादि यज्ञोपवीत आदि धारण कर लेने से ब्राह्मण आदि नहीं हो जाते। यामुनाचार्य के शब्दों में मीमांसकों का यह पक्ष द्रष्टव्य है–

''ननु ते कथमशिष्टा ये त्रौवर्णिकाग्रण्यो ब्राह्मणाः? तन्न, तेषां त्रौवर्णिकत्वमेव नास्ति। दूरे ब्राह्मणभावः। नहि इन्द्रियसम्प्रयोगसमनन्तरं केषुचिदेव देहविशेषेषु अनुवर्तमानम्, अन्यतोव्यावर्तमानं नरत्वातिरेकिणं ब्राह्मण्यं नाम जातिविशेषमपरोक्षयामः। शिखायज्ञोपवीतादयस्तु ब्राह्मणदीनां विधीयमाना न तद्भावमापदयितु क्षमन्ते, नाप्यवगमयन्ति, दुष्टशूद्रादिषु व्यभिचारदर्शनात्।''[23]

इसी प्रकार भागवतों की एक और संज्ञा प्रसिद्ध है– सात्वत।[24] मनु ने वैश्य व्रात्य से उत्पन्न अवरजन्मा पुत्रा को सात्वत कहा है–

''वैश्यात्तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च।
कारूषश्च विजन्मा च मैत्राः **सात्वत** एव च।।''[25]

जो राजाज्ञा से वृत्त्यर्थ देवपूजन करते हैं उन्हें सात्वत कहते हैं–

''प×चमसात्त्वतो नाम विष्णोरायतनानि सः।
पूजयेदाज्ञया राज्ञां स तु भागवतस्स्मृतः।।''[26]

इन भागवत सात्वतों के आचार से भी उनके अब्राह्मण्य का निश्चय हो जाता है। वृत्त्यर्थ देवतापूजा, विलक्षण दीक्षा, नैवेद्य का भक्षण, गर्भाधानादि दाहान्त संस्कार करना, श्रौतक्रियाओं का अनुष्ठान न करना, द्विजों के साथ विवाहादि सम्बन्ध का वर्जन, यह सब अनाचार है और इनसे उनके अब्राह्मण्य का निश्चय होता है।[27] ऐसे लोगों का ब्राह्मणों के लिये विहित कर्मों में अधिकार नहीं होता–

''येषां वंशक्रमादेव देवार्चा वृत्तितो भवेत्।
तेषामध्ययने, यज्ञे, याजने नास्ति योग्यता।।''[28]

इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति (द्विज) तीन वर्षों तक वृत्त्यर्थ देवतापूजन करे उसे देवलक कहते हैं और यह देवलक सभी शुभ कर्मों में गर्हित होता है–

''वृत्त्यर्थं पूजयेद्देवं त्रीणि वर्षाणि यो द्विजः।
से वै देवलको नाम सर्वकर्मसु गर्हितः।।''[29]

उपर्युक्त विवेचन का उपसंहार करते हुये यामुनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार त्रायीमार्ग से अपभ्रष्ट भागवत जनों के द्वारा परिगृहीत होने के कारण पा×चरात्रा सर्वथा अप्रमाणिक है। यथा–

"एवं जात्या कर्मणा च त्रायीमार्गादपभ्रष्टभागवतजनपरिग्रह एव प×चरात्राशास्त्रा–प्रामाण्यप्रतिक्षेपाय पर्याप्तो हेतुः।"[30]

3. पा×चरात्रा आगमों में विहित विलक्षण दीक्षा–विधि स्पष्ट रूप से उसकी अवैदिकता को प्रमाणित करती है। उपनयन आदि वैदिक संस्कारों से संस्कृत तथा समस्त अग्निहोत्रा आदि वैदिक कर्मों में अधिकृत लोगों के लिये भी भगवदाराधना के अधिकार की प्राप्ति के लिये प×चसंस्कारमयी दीक्षा नामक संस्कार का वर्णन करना उसकी अवैदिकता को ही सिद्ध करता है। वस्तुतः उपनयन आदि वैदिक संस्कारों से संस्कृत होने पर भगवदाराधन रूपी कर्मों में भी अधिकृत हो जाना चाहिये।[31]
4. चतुर्दश विद्यास्थानों में वेदार्थ का उपबृंहण किया जाता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में चतुर्दश विद्यास्थान इन शब्दों में गिनाये गये हैं–

"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रााङ्गविस्तरः।
वेदाः स्थानाग्नि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दशः।।"[32]

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्रा, छह वेदाङ्ग और चार वेद, यह चौदह विद्यास्थान हैं। कहीं कहीं चार उपवेदों को सम्मिलित करके विद्यास्थानों की संख्या अट्ठारह मानी गयी है। धर्म के विषय में यही शास्त्रा प्रामाणिक हैं। इन विद्यास्थानों में कहीं भी पा×चरात्रा शास्त्रा का परिगणन नहीं किया गया है। इस अपरिगणन से भी पा×चरात्रा आगमों की अवैदिकता सिद्ध हो जाती है।[33]

5. नाारायण या वासुदेव को पा×चरात्रा आगमों का आद्योपदेशक कहा गया है।[34] यही वासुदेव संज्ञक नारायण वेद–मन्त्राों के प्रवक्ता भी हैं। इस सन्दर्भ में वेदान्तदेशिक की यह उक्ति द्रष्टव्य है–

"कमप्याद्यं गुरूं वन्दे कमलागृहमेधिनम्।
प्रवक्ता छन्दसां वक्ता प×चरात्रास्य यः स्वयम्।।"[35]

मीमांसा का कहना है कि किसी सर्वज्ञ और नित्य ईश्वर (वासुदेव अथवा नारायण) की कल्पना की ही नहीं जा सकती। अतः वासुदेव नामक किसी वंचक पुरुष ने जगत् को मोहित करने के उद्देश्य से पा×चरात्रा आगमों की रचना की है–

"यतो न साक्षात्कृतपुण्यपापः
पुमान् प्रमाणप्रतिपन्नसत्त्वः।
अतो जगन्मोहयितुं प्रणीतं
नरेण केनापि हि तन्त्रामेतत्।।"[36]

इस सन्दर्भ में ये पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं–

"वासुदेवाभिधानेन केनचिद्विप्रलिप्सुना।
प्रणीतं प्रस्तुतं तन्त्रामिति निश्चिनुमो वयम्।।"[37]

इस प्रकार इन सभी युक्तियों के आधार पर मीमांसक का यही निष्कर्ष है कि न केवल पा×चरात्रा आगम अवैदिक हैं और इसी कारण सर्वथा अप्रमाणिक हैं, अपितु इन्हें किसी वंचक पुरुष की कृति मानने के अतिरिक्त कोई और विकल्प नहीं है। यहाँ प्रयास यही किया गया है कि पा×चरात्रा के अवैदिकत्व तथा अप्रमाणिकत्व की सिद्धि के लिये

मीमांसकों द्वारा उपस्थापित तथा यामुनाचार्य द्वारा पूर्वपक्ष में प्रस्तुत सभी प्रमुख युक्तियों का परिचय दे दिया जाय।

<u>पा×चरात्रा–प्रामाण्य के सम्बन्ध में नैयायिकों का पक्ष</u> –

मीमांसकों के साथ जिस दूसरे दार्शनिक सम्प्रदाय का पा×चरात्रा आगमों के प्रामाण्य के सम्बन्ध में यामुनाचार्य ने विवेचन किया है वह है न्यायदर्शन। न्यायदर्शन में भी जयन्त भट्ट ही यहाँ विशेष रूप से विमर्श के विषय बनाये गये हैं। जयन्तभट्ट पा×चरात्रा आगमों की प्रामाणिकता के पक्ष में प्रबल युक्तियाँ प्रस्तुत करने वाले प्रथम आचार्य हैं। इनके द्वारा रचित न्यायमंजरी, न्यायकलिका तथा आगमडम्बर नामक रूपक अतिशय प्रसिद्ध हैं। इनमें पा×चरात्रा आगमों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विशद और व्यापक विचार किया गया है। पा×चरात्रा आगमों का यह सिद्धान्त है कि नारायण या वासुदेव ही इनका रचयिता है–

''पा×चरात्रास्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्''[38]

नैयायिक भी इन आगमों के ईश्वरकर्तृकत्व की पूर्णरूपेण पुष्टि करता है। ईश्वरकर्तृक होने के कारण उनकी प्रामाणिकता का वह सर्वथा समर्थन भी करता है। उनके ईश्वरकर्तृकत्व तथा प्रामाणिकत्व के विषय में नैयायिक और यामुनाचार्य के मतों में अन्तर नहीं है। प्रामाण्य विमर्श की इस प्रक्रिया में यामुनाचार्य का नैयायिकों से केवल एक विषय में स्पष्ट तथा गम्भीर मतभेद है। यामुनाचार्य मीमांसकों के समान ही वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। दोनों की यह मान्यता है कि ईश्वर वेदों का कर्ता नहीं है। इसके विपरीत नैयायिक वेदों को पौरुषेय मानते हैं। और ईश्वर ही वह औपनिषद पुरुष है जो वेदों का रचयिता है। इस प्रकार वेद और आगम दोनों की रचना ईश्वर ने अपने अनुभव से की है। दोनों ईश्वरकर्तृक होने के कारण समान रूप से प्रामाणिक हैं। वेदों को पौरुषेय अर्थात् ईश्वरकृत सिद्ध करते हुये जयन्तभट्ट का कथन है–

''अतो नित्यानुमेयोऽपि कर्तावेदस्य विद्यते।
न हि तेन विना कोऽपि व्यवहारोऽवकल्पते।।''[39]

इसी प्रकार आगम भी ईश्वर प्रणीत होने के कारण प्रामाणिक है–

''तस्मादीश्वरप्रणीतत्वादेव सर्वागमानां प्रामाण्यम्।''[40]

क्योंकि वेद और आगम दोनों की रचना ईश्वर ने अपने अनुभव से की है अतः दोनों समान रूप से प्रामाणिक हैं। इस सम्बन्ध में जयन्तभट्ट की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

''वेदाननामेक एवातुलकुशलपथादेशकानेकशाखा–
विक्षिप्तानां विधाता कविरमलमतिः कोऽपि देवः पुराणः।
तद्वत् सर्वागमानां भवतु स भगवानेक एव प्रणेता
नानात्वं कर्तुरित्थं न सुवचमिति प्रागुपन्यस्तमेतत्।।''[41]

''आगम–प्रामाण्य'' में वेदों के पौरुषेयत्वाऽपौरुषेयत्व के विषय में मतभेद होने के कारण यामुनाचार्य ने नैयायिकों के पक्ष को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। जहाँ तक पा×चरात्रा आगमों के वैदिकत्व और प्रामाणिकत्व का प्रश्न है दोनों के मत समान हैं। यामुनाचार्य वेद को अपौरुषेय तथा पा×चरात्रा आगमों को ईश्वरकृत मानकर दोनों को भिन्न–भिन्न स्तर पर प्रामाणिक मानते हैं किन्तु जयन्त भट्ट उनसे कुछ आगे बढ़कर

पा×चरात्रा का प्रामाण्य निश्चित करते हैं। उनके अनुसार वेद और पा×चरात्रा दोनों पौरुषेय हैं, दोनों ईश्वरकृत हैं तथा दोनों समान रूप से प्रामाणिक हैं। यामुनाचार्य का बल पा×चरात्रा आगमों को वैदिक या वेदानुकूल सिद्ध करने में है जबकि नैयायिक की दृष्टि में इस प्रकार का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वेद तथा आगम दोनों ईश्वर की रचना होने के कारण समान रूप से प्रमाण हैं। आगम का वेद के अनुकूल होना या वेद का आगम के अनुकूल होना दोनों के प्रामाण्य के सन्दर्भ में अनावश्यक है।[42]

शङ्कराचार्य और पा×चरात्राप्रामाण्य –

कुमारिल भट्ट के पश्चात् अवैदिकता के आधार पर पा×चरात्रा आगमों की अप्रमाणिकता की घोषणा करने वाले दूसरे प्रसिद्ध आचार्य हैं शङ्कराचार्य। बादरायण विरचित ब्रह्मसूत्रा के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद का अन्तिम अधिकरण ''उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण'' नाम से प्रसिद्ध है। इस अधिकरण में पा×चरात्रा आगमों की प्रामाणिकता का विचार किया गया है, इस कारण यह अधिकरण ''पा×चरात्राधिकरण'' नाम से भी प्रसिद्ध है। शङ्कराचार्य के अनुसार इस अधिकरण में वेदविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण पा×चरात्रा आगमों के अप्रामाण्य का निरूपण किया गया है। इस वेदविरोधितत्व को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से शङ्कराचार्य दो प्रमुख युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। इनमें प्रथम है वेदविरुद्ध जीवोत्पत्ति का प्रतिपादन तथा द्वितीय है पा×चरात्रा आगमों में वेदनिन्दा। यहाँ इन दोनों ही युक्तियों का स्वल्प विवेचन आवश्यक है।

1. चातुर्व्यूह की कल्पना पा×चरात्रा आगमों की प्रमुख अवधारणा है। पर वासुदेव ही सृष्टि आदि व्यापारों के उद्देश्य से चार प्रकार के रूपों को धारण करता है। यह चार रूप हैं– 1) वासुदेव, 2) सङ्कर्षण, 3) प्रद्युम्न तथा 4) अनिरुद्ध। इन्हें व्यूह कहते हैं। शङ्कराचार्य द्वारा प्रस्तुत प्रथम आक्षेप का सम्बन्ध इस चातुर्व्यूह की अवधारणा से ही है। शङ्कराचार्य कहते हैं कि भागवतों का यह सिद्धान्त है कि पर वासुदेव चार रूपों में (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध) स्वयं को विभक्त करके अवस्थित होता है। वासुदेव परमात्मा है, सङ्कर्षण जीव, प्रद्युम्न मन और अनिरुद्ध अहंकार। इनमें वासुदेव परम प्रकृति है तथा सङ्कर्षण आदि व्यूह कार्य हैं। अभिगमन इत्यादि पूर्वक की गयी आराधना से भगवत्प्राप्ति होती है।[43]

इस सिद्धान्त में ईश्वर का अनेक रूपों में विभक्त होकर अवस्थित होना असंगत नहीं, क्योंकि स्वयं श्रुति इस प्रकार की कल्पना को मान्यता प्रदान करती है, यथा– ''स एकधा भवति त्रिधा भवति।''[44] इसी प्रकार अनन्य भाव से जो ईश्वर की आराधना का विधान है वह भी श्रुति स्मृति के अनुकूल है। चातुर्व्यूह कल्पना का इतना अंश तो प्रामाणिक है, किन्तु इस कल्पना का यह अंश कि वासुदेव संज्ञक परमात्मा से सङ्कर्षण संज्ञक जीव की उत्पत्ति होती है, सर्वथा अप्रमाणिक है, क्योंकि जीव की उत्पत्ति स्वीकार करने पर उसमें अनित्यत्व आदि दोषों की प्राप्ति हो जायेगी, न उसे भगवत्प्राप्ति होगी और न मोक्ष। इसके अतिरिक्त जीवोत्पत्ति की कल्पना श्रुतिविरुद्ध भी है। शङ्कराचार्य ने पा×चरात्रा आगमों का आंशिक प्रामाण्य और आंशिक अप्रामाण्य इन शब्दों में व्यक्त किया है–

''तत्रा यत्तावदुच्यते योऽसौ नारायणः परोऽव्यक्तात्प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनात्मानमनेकधा व्यूह्यावस्थित इति, तन्न निराक्रियते, ''स एकधा भवति त्रिाधा भवति'' (छा. 7.26.2) इत्यादिश्रुतिभ्यः परमात्मनोऽनेकधाभावस्याधिगतत्वात्। यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाऽभिप्रेयते तदपि न प्रतिषिध्यते। श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्। यत् पुनरिदमुच्यते वासुदेवात्सङ्कर्षण उत्पद्यते सङ्कर्षणाच्च प्रद्युम्नः प्रद्युम्नाच्चानिरुद्ध इति। अत्रा ब्रूमः न वासुदेवस×ज्ञकात्परमात्मनः सङ्कर्षणसंज्ञकस्य जीवस्योत्पत्तिः सम्भवति। अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात्। उत्पत्तिमत्त्वे हि जीवस्याऽनित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्। ततश्च नैवास्य भगवत्प्रतिर्मोक्षः स्यात्। नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः'' (ब्र.सू. 2.3.17) इति। तस्मादसङ्गतैषा कल्पना।''[45]

यदि इस दोष से बचने के उद्देश्य से यह कहा जाय कि यहाँ सङ्कर्षण आदि जीव के अर्थ में अभिप्रेत नहीं है अपितु यह सभी षड्गुणसम्पन्न वासुदेव ही हैं तो अनेकेश्वरकल्पना जैसा दोष उपस्थित हो जायेगा। इस सन्दर्भ में शङ्कराचार्य की यह पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

> ''अत्रोच्यते– एवमपि तदप्रतिषेधः प्राप्नोत्येवायमुत्पत्त्यसम्भवोदोषः प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः। कथम्? यदि तावदयमभिप्रायः परस्परभिन्ना एवैते वासुदेवाश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामेकात्मत्वमस्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पना–ऽऽनर्थक्यम्, एकेनैवेश्वरेणेश्वरकार्यसिद्धेः। सिद्धान्तहानिश्च। भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतत्त्वमित्यभ्युपगमाच्च।''[46]

इस प्रकार शङ्कराचार्य के अनुसार पा×चरात्रा आगमों में वर्णित चातुर्व्यूह का सिद्धान्त वेदविरुद्ध जीव की उत्पत्ति को स्वीकार करके ही प्रवृत्त हुआ है अतः पा×चरात्रा आगम वेदविरुद्धार्थ प्रतिपादन के कारण अप्रमाणिक हैं।

2. शङ्कराचार्य के अनुसार पा×चरात्रा आगम न केवल वेदविरुद्धार्थ का प्रतिपादन करते हैं, वेदों के प्रति उनमें श्रद्धाबुद्धि भी नहीं है। इनमें प्राप्त होने वाले वेदों की निन्दा करने वाले वचन इनकी वेदविरोधी प्रकृति को प्रकाशित करते हैं।[47] इस सन्दर्भ में शङ्कराचार्य पा×चरात्रा आगमों से निम्नलिखित वचन उदाहृत करते हैं–

''चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रामधिगतवान्''

अर्थात् चारों वेदों में परमकल्याण अथवा परमपुरुषार्थ की प्राप्ति सम्भव न देखकर शाण्डिल्य ने इस शास्त्रा का अध्ययन किया। इस प्रकार स्पष्ट रूप से इस शास्त्रा में वेद की निन्दा की गयी है। इससे इनका वेदविरोधित्व सुदृढ़ हो जाता है और अप्रामाणिकत्व भी।

<u>पा×चरात्रा आगमों के विषय में भट्टोजिदीक्षित का अभिमत</u> –

सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा सत्राहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भट्टोजिदीक्षित की गतिविधियों का काल था।[48] यद्यपि भट्टोजिदीक्षित मूर्धन्य वैयाकरण के रूप में प्रसिद्ध हैं तथापि उन्होंने धर्मशास्त्रा, मीमांसा तथा अद्वैतवेदान्त जैसे गम्भीर विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन्हीं में एक ग्रन्थ है ''तन्त्राधिकारिनिर्णयः''। इस ग्रन्थ में इन्होंने प्रधानतया पा×चरात्रा आगमों के प्रामाण्य के सम्बन्ध में विचार किया है। भट्टोजिदीक्षित ने अपने ग्रन्थ में कुमारिल और शङ्कराचार्य के मतों को बहुलता के साथ

उदाहृत किया है। कुमारिल ने पा×चरात्रा आगमों को सर्वात्मना अप्रामाणिक घोषित किया था और शङ्कराचार्य ने उन्हें आंशिक रूप से अप्रामाणिक घोषित किया। भट्टोजिदीक्षित का कहना है कि पा×चरात्रा आगम कुछ अधिकारियों के लिये प्रामाणिक हैं और कुछ अधिकारियों के लिये अप्रामाणिक। कौन से अधिकारियों के लिये ये प्रामाणिक हैं और कौन से अधिकारियों के लिये अप्रामाणिक, यही निर्णय करना इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। भट्टोजिदीक्षित ने यह निर्णय दिया है कि पा×चरात्रा आगम श्रुतिभ्रष्ट, पतित, सङ्करज, कुण्डगोलक, स्त्राी और शूद्र आदि के लिये प्रमाण है और वैदिकों के लिये अप्रमाण। भट्टोजिदीक्षित के ही शब्दों में–

''उभयथापि वैदिकान् प्रति पा×चरात्राादयो नाऽनुष्ठापका इति निर्विवादमेव। तस्मात् पतितादय एव शङ्खचक्राङ्कनादावधिकारिण इति सिद्धम्।''[49]

भट्टोजिदीक्षित ने जैसे अधिकारियों के लिये पा×चरात्रा आगमों को प्रामाणिक कहा है, उससे तो यही स्पष्ट होता है कि यह इन आगमों को सर्वथा अप्रामाणिक कहने का एक नया ढंग है। जैसा कि यामुनाचार्य मीमांसकों का मत प्रस्तुत करते हुए आगम प्रामाण्य में कहते हैं–

''एवं जात्या कर्मणा च त्रायीमार्गादपभ्रष्टभागवतजनपरिग्रह एव पा×चरात्राप्रतिक्षेपाय पर्याप्तो हेतुः।''[50]

पा×चरात्राागमों की ओर से आक्षेपों का उत्तर और वैदिकता की स्थापना –

मीमांसक मत का निराकरण – मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत किये गये आक्षेपों का यामुनाचार्य ने अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से उत्तर दिया है। मीमांसकों ने जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का अविषय होने के कारण पा×चरात्रा आगमों के प्रामाण्याभाव का प्रतिपादन किया है, यामुनाचार्य उसका उत्तर प्रौढ तार्किक शैली में देते हैं। उनका कथन है–

''विवादाध्यासितं तन्त्रां प्रमाणमिति गृह्यताम्।
निर्दोषज्ञानजन्मत्वात् ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत्।।''[51]

उपर्युक्त पंक्तियों में अनुमान प्रयोग को श्लोकबद्ध किया गया है। यह प्रयोग इस प्रकार है–

विवादाध्यासितं तन्त्रां प्रमाणम्
निर्दोषज्ञानजन्मत्वात्
ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत्

इस अनुमान में ''तन्त्राम्'' पक्ष है, ''प्रमाणम्'' साध्य है, ''निर्दोषज्ञानजन्मत्वात्'' हेतु है तथा ''ज्योतिष्टादिवाक्यवत्'' उदाहरण है। यामुनाचार्य का कहना है कि यह अनुमान सभी प्रकार के दोषों से रहित है–

''न तावदनुमानेऽस्मिन् न्यायशास्त्रापरीक्षिताः।
दोषा मृगयितुं शक्याः ....।।''[52]

इसके पश्चात् उन्होंने विस्तार–पूर्वक विवेचन करते हुये प्रदर्शित किया है कि उक्त अनुमान ''पक्ष'' अथवा ''हेतु'' से सम्बद्ध हो सकने वाले सभी प्रकार के दोषों से रहित है। इस प्रकार पा×चरात्रा तन्त्राों के प्रमाणत्व का साधक यह अनुमान सर्वथा निर्दोष है।

3. यामुनाचार्य का कहना है कि ''पा×चरात्रा आगमों को मानने वाले भागवतों को ब्राह्मण मानना तो दूर वह तो त्रौवर्णिक भी नहीं है,'' सत्य से दूर है। सत्य तो यह है कि भगवच्छात्रा को मानने वाले भागवत उत्कृष्ट ब्राह्मण हैं। मीमांसकों के इस कथन कि ''शिखा, यज्ञोपवीत धारण करने मात्रा से किसी के ब्राह्मण होने का निश्चय नहीं किया जा सकता क्योंकि दुष्ट शूद्र आदि इन चिह्नों को धारण कर लेने से ब्राह्मण नहीं हो जाते'' के उत्तर में यामुनाचार्य का कहना है कि इस प्रकार ब्राह्मणत्व का सन्देह केवल भागवतों के प्रति नहीं भागवतेतर विप्रों के प्रति भी हो सकता है।[53] विशद विवेचनपूर्वक यह निर्णय प्राप्त होता है कि भागवतों तथा दूसरों के ब्राह्मण्य में कोई अन्तर नहीं है। यदि कोई अन्तर है तो केवल इतना कि वे भागवत परमपुरुष का ही आश्रय ग्रहण करने वाले एकान्ती हैं और अन्य क्षुद्रदैवतक हैं। यामुनाचार्य के शब्दों में–

''इति न भागवतानामन्येषां च ब्राह्मण्ये कश्चिद्विशेषः। यदि परं, ते परमपुरुषमेवाश्रिता एकान्तिनः, अन्ये क्षुद्रदैवतकाः साधारणा इति।''[54]

भागवतों के लिये प्रचलित सात्त्वत संज्ञा को आधार बनाकर कहा गया था कि मनु ने सात्त्वत को वैश्य व्रात्य कहा है[55] अतः भागवत वैश्य व्रात्य होते हैं। इस सम्बन्ध में यामुनाचार्य कहते हैं कि सर्वत्रा भागवत और सात्त्वत शब्दों का अर्थ वैश्य व्रात्य ही नहीं होता क्योंकि इसी संज्ञा से त्रौवर्णिकों का अभिधान भी हो सकता है।[56] यदि मनु के वचनों को दृढतापूर्वक प्रमाण मानकर सात्त्वत शब्द का अर्थ नीच जाति वैश्यव्रात्य ही मीमांसकों को स्वीकार्य है और भगवच्छास्त्रा पा×चरात्रा के अनुगामी ब्राह्मणों वैश्वव्रात्य घोषित करना ही उन्हें अभिप्रेत है तो साङ्ग सरहस्य वेद का उपदेश करने वाले आचार्य (ब्राह्मण) को भी व्रात्य मानना पड़ेगा क्योंकि मनु के अनुसार आचार्य का अर्थ भी व्रात्य होता है। यामुनाचार्य के शब्द द्रष्टव्य हैं–

''यदि पुनरनयोः जात्यन्तरेऽपि प्रयोगो दृष्ट इत्येतावता तच्छब्दाभिधेयता भगवच्छास्त्राानुगामिनामपि विप्राणां तज्जातीयत्वनिश्चयः, ततः तत्रौव सहपठिताऽऽचार्यशब्दस्यापि निकृष्टव्रात्यापत्ये प्रयोगदर्शनात् साङ्गरहस्यवेददातुः द्विजवरस्यापि व्रात्यत्वं स्यात्।''[57]

इस प्रकार यामुनाचार्य ने अनेक प्रकार की युक्तियों के द्वारा भागवत् सात्त्वत शब्दों के निकृष्ट जाति रूपी अर्थ का निराकरण करते हुए श्रेष्ठ द्विज रूपी अर्थ को स्वीकार किया है। उन्हीं के शब्दों में–

''ततश्च सत्त्वान् भगवान् भज्यते यैः परः पुमान्।
ते 'सात्त्वता' 'भागवता' इत्युच्यन्ते द्विजोत्तमाः।।''[58]

इसी प्रकार वृत्त्यर्थ पूजन और नैवेद्य प्राशन आदि के कारण भागवतों को अब्राह्मण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी भागवत वृत्ति के लिये देव पूजन नहीं करते। यद्यपि कुछ भागवत विषम आर्थिक कारणों से वृत्त्यर्थ पूजन का कार्य कर सकते हैं किन्तु इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वह ब्राह्मण नहीं है। द्रव्य के लोभ से इस प्रकार के कर्म का निषेध किया गया है।[59]

यह जो वृत्त्यर्थ देवपूजन के कारण अथवा देवकोशोपजीवी होने के कारण भागवतों के लिये देवलक होने की शङ्का की गयी है, इस विषय में यामुनाचार्य कहते

हैं कि स्मृतियों का पर्यालोचन करने से ज्ञात होता है कि पा×चरात्राागमों में प्रतिपादित दीक्षा से रहित ब्राह्मण ही देवलक हो सकतो हैं। उन्हीं के शब्दों में–

''.....इत्यादिस्मृतिशतपर्यालोचनया प×चरात्रासिद्धदीक्षासंस्कारविरहितानां ब्राह्मणानां देवकोशोपजीवनवृत्त्यर्थपूजनादिकमुपब्राह्मणत्वदेवलकत्वावहमिति निश्चीयते।''[60]

4. पा×चरात्रा आगमों में विहित संस्कारों के आधार पर इन आगमों को अवैदिक कहा गया है क्योंकि ये संस्कार सर्वथा असामान्य हैं। यामुनाचार्य का इस आक्षेप के उत्तर में कहना है कि भागवत लोग शुक्ल यजुर्वेद की एकायनशाखा के मानने वाले होते हैं तथा कात्यायन आदि के गृह्यसूत्रा के अनुसार संस्कारों का अनुष्ठान करते हैं। किसी अन्य वेदशाखा के अनुसार संस्कार न करने से वे अब्राह्मण नहीं हो जाते। यामुनाचार्य के अनुसार–

   'यदप्युक्तम्– गर्भाधानादिदाहान्तसंस्कारान्तरसेवनात् भागवतानामब्राह्मण्यमिति, तत्राापयज्ञानमेवापराध्यति, न पुनरायुष्मतो दोषः, यदेते वंशपरम्परया वाजसनेय–शाखामधीयानाः कात्यायनादिगृह्योक्तमार्गेण गर्भाधानादिसंस्कारान् कुर्वते।''[61]

पा×चरात्रा आगमों में विहित विलक्षण दीक्षा के आधार पर भी इन आगमों को अवैदिक कहा गया है क्योंकि उपनयन आदि वैदिक संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति के लिये भगवदाराधना में अधिकार हेतु इस दीक्षा संस्कार को आवश्यक माना गया है। यामुनाचार्य के अनुसार विशेष प्रकार के कर्मों के लिये विशेष प्रकार के संस्कारों की आवश्यकता वैदिकों के लिये कोई नयी बात नहीं है। ज्योतिष्टोम याग के लिये उपनयन आदि से संस्कृत व्यक्ति के लिये ''आग्नावैष्णवम्'' वाक्य से विशेष दीक्षा का विधान किया गया है। किन्तु यह वाक्य अवैदिक तो नहीं है।[62]

5. पा×चरात्रा आगमों को अवैदिक सिद्ध करते हुए एक हेतु यह भी दिया गया कि इन आगमों का चतुर्दश विद्यास्थानों में परिगणन नहीं किया गया है। यामुनाचार्य इस तर्क के उत्तर में कहते हैं कि यदि चतुर्दश विद्यास्थानों में परिगणित होना ही वैदिकता का निकष है तब तो कृष्ण द्वैपायन व्यास और वाल्मीकि द्वारा प्रणीत महाभारत और रामायण आदि ग्रन्थ भी अवैदिक हो जायेंगे। इन ग्रन्थों में अवैदिकता का आक्षेप किसी ने भी नहीं लगाया है। यामुनाचार्य के शब्दों में–

   ''यदपि धर्मप्रमाणताभिमतचतुर्दशविद्यास्थानेषु अपरिगणतत्वात् पाशुपतादितन्त्रावत् त्राायीब्राह्मत्वमिति, तदपि द्वैपायनवाल्मीकिप्रणीतभारतरामायणादिग्रन्थैः अनेका–न्तिकम्।''[63]

6. मीमांसकों के इस कथन कि ''पा×चरात्रा किसी वासुदेव नामक वंचक पुरुष की कृति है,'' के उत्तर में यामुनाचार्य कहते हैं कि यदि यह तर्क है कि अन्य पौरुषेय रचनाओं के समान पा×चरात्रा आगम भी पौरुषेय है अतः अन्य पौरुषेय रचनाओं के समान पा×चरात्रा आगमों में भी दोषों की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, तो प्रतिप्रश्न यह उपस्थित होता है कि अन्य लौकिक वाक्यों के समान ही वैदिक वाक्य भी हैं। दोनों ही वाक्य हैं। अतः लौकिक वाक्यों के समान ही वैदिक वाक्यों में भी दोष की सम्भावना होगी। वैदिक वाक्यों में दोष की सम्भावना का निराकरण कैसे होगा? वाक्यों की अपौरुषेयता ही दोष सम्भावनाओं का निराकरण

करती है। यामुनाचार्य कहते हैं कि इसी प्रकार पा×चरात्रा आगम सर्वज्ञ, अवाप्तसकलकाम परम पुरुष की रचना होने के कारण दोषसम्भावना से रहित हैं, जबकि अन्य रचनायें पा×चरात्रा के समान ही पौरुषेय होने पर भी अल्पज्ञ पुरुषों की रचनायें हैं।[64]

न्यायमत और यामुनाचार्य –

पा×चरात्रा आगमों के सन्दर्भ में नैयायिक विशेष रूप से जयन्त भट्ट किसी भी दृष्टि से यामुनाचार्य के प्रतिपक्षी नहीं हैं; क्योंकि दोनों ही इन आगमों को सर्वज्ञ ईश्वर की रचना मानते हैं और सर्वथा प्रामाणिक मानते हैं। पूर्वपक्ष के रूप में न्यायमत का उल्लेख केवल इसलिये किया गया है कि कहीं ऐसा न करने से वेदों के विषय में भी नैयायिकों के प्रति यामुनाचार्य की सहमति का भ्रम न हो जाये। न्यायमत के विवेचन के अवसर पर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उनके अनुसार वेद और आगम दोनों पौरुषेय हैं, ईश्वरकृत हैं। मीमांसकों के अनुसार वेद अपौरुषेय तथा आगम पौरुषेय हैं। पा×चरात्रा परम्परा के अनुसार भी वेद अपौरुषेय और पा×चरात्रा आगम पौरुषेय। यह बात निम्नचित्रा से अधिक स्पष्ट होगी–

	वेद	पा×चरात्रा
न्यायमत	पौरुषेय	पौरुषेय (सर्वज्ञ ईश्वरकृत)
मीमांसामत	अपौरुषेय	पौरुषेय (वंचक पुरुषकृत)
पा×चरात्रामत	अपौरुषेय	पौरुषेय (सर्वज्ञ ईश्वरकृत)

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों के सम्बन्ध में पा×चरात्रा का मीमांसा के साथ ऐकमत्य है,[65] और न्याय मत उनका प्रतिपक्षी है। जहाँ तक पा×चरात्रा का प्रश्न है तीनों में ऐकमत्य है। तीनों पा×चरात्रा आगमों को पौरुषेय मानते हुए भी भिन्न मतों को मानते हैं। न्याय और पा×चरात्रा परम्परा में पूर्ण ऐकमत्य है। दोनों पा×चरात्रा आगमों को ईश्वरकृत मानते हैं और प्रामाणिक मानते हैं जबकि मीमांसक उन्हें वंचकपुरुष की कृति मानते हुए अप्रामाणिक मानते हैं। इन तीनों परम्पराओं में किसी का किसी के साथ ऐकमत्य नहीं है। इसी कारण न्यायमत को यहाँ पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पा×चरात्रा प्रामाण्य के सम्बन्ध में न्याय और पा×चरात्रा परम्परा में पूर्णतः ऐकमत्य है।

शङ्कराचार्य द्वारा प्रस्तुत आक्षेपों का निराकरण –

शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रा के उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण की व्याख्या करते हुए वेदविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण पा×चरात्रा आगमों को वेदविरोधी सिद्ध किया है। उनके द्वारा उपस्थापित युक्तियों का समीचीन उत्तर यामुनाचार्य ने आगमप्रामाण्य में और उन्हीं को आधार बनाकर रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य में दिया है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि शङ्कराचार्य के अनुसार उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण के चारों सूत्राों में पा×चरात्रा सिद्धान्त का खण्डन किया गया है जबकि यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य के मत में इस अधिकरण के प्रथम दो सूत्रा पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हैं

तथा अन्य दो सूत्रा सिद्धान्त पक्ष को। इन आचार्यों के अनुसार शङ्कराचार्य द्वारा प्रस्तुत युक्तियों के उत्तर इस प्रकार हैं–

1. शङ्कराचार्य पा×चरात्रा आगमों में प्रतिपादित चातुर्व्यूह सिद्धान्त को आंशिक रूप से प्रमाण मानते हुए उस अंश को अप्रमाण मानते हैं जिसमें वासुदेव संज्ञक परमात्मा से सङ्कर्षण संज्ञक जीव की उत्पत्ति का प्रतिपादन है।[66] इस आक्षेप का उत्तर देते हुए रामानुजाचार्य कहते हैं कि भागवत प्रक्रिया को समीचीनतया न जानने वाले ही यह कहते हैं कि पा×चरात्रा आगमों में वेद विरोधी जीव की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया है। भागवत–प्रक्रिया यह है कि वासुदेव नामक परं ब्रह्म ही स्वाश्रित लोगों के समाश्रयण हेतु चार रूपों में अवस्थित होता है। इन चारों ही रूपों में की जाने वाली उपासना वासुदेव नामक परं ब्रह्म की ही उपासना है। वही सूक्ष्म व्यूह और विभव रूपों में विभक्त होने वाला वासुदेव संज्ञक परं ब्रह्म अधिकार के अनुसार भक्तों के द्वारा ज्ञानपूर्वक कर्म से अभ्यर्चित होता हुआ प्राप्त किया जाता है। विभव रूपों की अर्चना से व्यूह रूप की प्राप्ति होती है और व्यूह रूप की अर्चना से वासुदेव नामक सूक्ष्म रूप परं ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस प्रकार सङ्कर्षण आदि भी परं ब्रह्म के स्वेच्छाविग्रह रूप हैं। ''अजायमानो बहुधा विजायते'' इस प्रकार के श्रुति–वाक्यों से सिद्ध सङ्कर्षण आदि के परं ब्रह्म के स्वेच्छा–विग्रह रूप के जन्म का अभिधान करने वाले पा×चरात्रा–शास्त्रा में अप्रमाण्य रूपी दोष प्राप्त नहीं हो सकता। परमात्मा के विविध रूप में जन्म लेने की बात तो ''अजायमानो बहुधा विजायते'' इत्यादि श्रुतिवचनों से ही सिद्ध हो जाती है।[67]

अब प्रश्न उठता है कि यदि सङ्कर्षण आदि पर ब्रह्म वासुदेव के ही रूप हैं तो उन्हें जीव आदि शब्दों से क्यों अभिहित किया गया है। इसका उत्तर देते हुए रामानुज कहते हैं कि सङ्कर्षण जीव के अधिष्ठाता या अन्तर्यामी हैं, प्रद्युम्न मन के अधिष्ठाता होते हैं और अहंकार तत्त्व के अधिष्ठाता अनिरुद्ध होते हैं। इसी कारण सङ्कर्षण आदि को जीव आदि कहा गया है। यह उसी प्रकार है जैसे उपनिषदों में आकाश और प्राण आदि शब्दों के द्वारा ब्रह्म का अभिधान किया गया है।[68]

इसके अतिरिक्त स्वयं पा×चरात्रा आगमों में जीवोत्पत्ति का प्रतिषेध किया गया है। इस बात को प्रमाणित करने के उद्देश्य से रामानुज पा×चरात्रा आगमों की परमसंहिता की निम्नलिखित पंक्तियाँ उदाहृत करते हैं–

''अचेतना परार्धा च नित्या सततविक्रिया।
त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रां प्रकृते रूपमुच्यते।।
व्याप्तिरूपेण सम्बन्धः तस्याश्च पुरुषस्य च।
स ह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन तिष्ठिति।।''[69]

यहाँ स्पष्ट रूप से जीव को अनादि और अनन्त कहा गया है। इस प्रकार पा×चरात्रा तन्त्राों में जीव की उत्पत्ति का प्रतिषेध ही किया गया है। वेद और पा×चरात्रा तन्त्राों में इस विषय को लेकर किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।[70]

2. शङ्कराचार्य ने पा×चरात्रा आगमों को वेदविरुद्ध सिद्ध करने के उद्देश्य से पा×चरात्रा आगमों से वेदनिन्दा सूचक एक वचन उदाहृत किया जिसका अर्थ है कि

चारों वेदों में पुरुषार्थ को न प्राप्त कर सकने के कारण महर्षि शाण्डिल्य ने इस शास्त्रा का अध्ययन किया। क्योंकि यह वाक्य वेदनिन्दापरक है अतः पा×चरात्रा आगम वेद विरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक हैं। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए रामानुजाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार के आक्षेप वही प्रस्तुत कर सकते हैं जिन्होंने वेदवचनों का और उपबृंहण के न्याय कलाप का मर्म नहीं समझा है। उन्हीं के शब्दों में–

''यश्चैष केषािञ्चदुद्घोषः– 'साङ्गेषु वेदेषु निष्ठाभलभमानः शाण्डिल्यः पा×चरात्रा– शास्त्रामधीतवान्' इति साङ्गेषु वेदेषु पुरुषार्थनिष्ठा न लब्धेति वचनात् वेदाविरुद्धमेवेदं तन्त्राम् इति सोऽप्यनाघ्रातवेदवचसाम् अनाकलितदुपबृंहणन्याय– कालापानां श्रद्धामात्राविजृम्भितः।''[71]

वस्तुतः यह वचन वेदनिन्दापरक नहीं है। इसका यथार्थ उद्देश्य तो पा×चरात्रा की प्रशस्ति है। जैसा कि यामुनाचार्य ने कहा है–

''अनवगतवचनव्यक्तेरयं पर्यनुयोगः। ''न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु निन्दितादितरत् प्रशंसितुम्, 'यथैतरेयकब्राह्मणे' प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति'' इत्यनुदितहोमनिन्दा उदितहोमप्रशंसार्थेति गम्यते।''[72]

रामानुजाचार्य कहते हैं कि जैसे छान्दाग्योपनिषद् के भूमविद्याप्रकरण में नारद ने सनत्कुमार से कहा–''ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि'' – मैंने सभी वेदों और वेदाङ्गों का अध्ययन किया, फिर भी हे भगवन् मैं मन्त्राज्ञ ही हो सका हूँ आत्मज्ञ नहीं। यह वाक्य वेद, वेदाङ्गों की निन्दापरक नहीं है। इस वाक्य का उद्देश्य भूमविद्या की प्रशंसा मात्रा है। इसी प्रकार उपर्युक्त विचारणीय वाक्य पा×चरात्रा प्रशंसार्थक है, वेदनिन्दार्थ नहीं। इस कारण वेदविरोधी होने के कारण पा×चरात्रा के अप्रामाण्य का दोष प्राप्त नहीं होता।[73]

भट्टोजिदीक्षित के अभिमत के विषय में –

भट्टोजिदीक्षित के मत का विवरण पहले दिया जा चुका है। उनके अनुसार पा×चरात्रा आगम वैदिकों के लिये अप्रामाणिक और पतित आदि के लिये प्रामाणिक हैं। यह एक नया ढंग है यह कहने का कि पा×चरात्रा आगम सर्वथा अप्रामाणिक हैं। इस निष्कर्ष तक पहुँचने के लिये भट्टोजिदीक्षित ने जिन युक्तियों का सहारा लिया है, प्रायः इन सभी युक्तियों का यामुनाचार्य उनसे बहुत पूर्व ही विचार करके निराकरण कर चुके थे। यदि भट्टोजिदीक्षित ने यामुनाचार्य विरचित 'आगमप्रामाण्यम्' का सम्यक् अनुशीलन किया होता तो सम्भवतः वह 'तन्त्राधिकारिनिर्णय' जैसे ग्रन्थ की रचना ही न करते, और यदि करते तो सम्भवतः निष्कर्ष कुछ और ही होता।

अतः पा×चरात्रा–आगम वैदिक हैं और वेदानुकूल अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण सर्वथा प्रामाणिक हैं।

इति

---

[1] हयशीर्षपा×चरात्रा 2.7–9।

[2] शरणागतिदीपिका, 32।

[3] ईश्वरसंहिता, 21.283–284। द्रष्टव्य– ''तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्राो यागश्च पंचमः।

अमीहि पंचसंस्कारा युक्तस्यैकान्त्यहेतवः।। (भारद्वाजसंहिता, 2.2; परिशिष्ट)

[4] तत्रौव, 2.10,11।

[5] आनन्दसंहिता, 8.10,11; वैखानस आगम, डॉ. राघवप्रसाद चौधरी, भारतीय तंत्राशास्त्रा, उदाहृत, पृ. 407।

[6] वैखानसस्मार्तसूत्राम्।

[7] वैखानस आगमः भारतीय तन्त्राशास्त्रा, पृ. 407; विशेष विवरण हेतु डॉ. राघवप्रसाद चौधरी का यह लेख द्रष्टव्य है।

[8] तत्रौव, पृ. 408 (उदाहृत)।

[9] आनन्दसंहिता, 8.23 (उदाहृत– तत्रौव, पृ. 406)।

[10] वैखानस श्रौतसूत्राम्, प्रिफेज़ ग्टप् (उदाहृत)।

[11] तत्रौव, प्रिफेस् ग्गटप् (उदाहृत)।

[12] तत्रौव, प्रिफेस् ग्प् (उदाहृत)।

[13] तत्रौव, पृ. 334।

[14] तत्रौव, प्रिफेस् ग्गटप् (उदाहृत)।

[15] तन्त्रावार्तिकम् (मीमांसादर्शनम्) 1.3.4, पृ.112।

[16] ब्र.सू.शा.भा., 2.2.42–45।

[17] तन्त्रावार्तिकम् (मीमांसादर्शनम्) द्वितीय भाग, 1.3.4, पृ.112।

[18] तत्रौव, 1.3.7, पृ.121–122।

[19] तत्रौव, पृ. 124।

[20] ''दीक्षया जायते योग्यस्त्रौविद्यो देवपूजने।

.. ..

दीक्षितो देवदेवस्य कर्षणादिक्रिया चरेत्।

नाधिकारी भवेद्यस्तु दीक्षाविरहितो द्विजः।।

तस्माद्धर्यर्चनाकांक्षी दीक्षेत हरिसन्निधौ।'' भार्गवतन्त्रा, 24.27,29,30।

[21] भारद्वाजसंहिता, 2.2 (परिशिष्ट), द्रष्टव्य–ईश्वरसंहिता, 21.283,284, तथा विष्णुतिलकसंहिता पअ .189.90 (आगमप्रामाण्य पृ.3 की पादटिप्पणी में उदाहृत)

[22] आगमप्रामाण्यम्, पृ.3।

[23] आगमप्रामाण्यम्, पृ.11।

[24] ''भागवतशब्दश्च सात्त्वतेषु वर्तत इति नात्रा कश्चिद् विवादः'' तत्रौव, पृ.13।

[25] मनु., 10.23।

[26] आगमप्रामाण्यम्, पृ.13 (उदाहृत)।

[27] तत्रौव, 14।

[28] आगमप्रामाण्यम्, पृ.15 (उदाहृत)।

[29] तत्रौव, 16 (उदाहृत)।

[30] तत्रौव, पृ.17।

[31] ''यदपरमुपनयनादिसंस्कृतानामधिकृतानां च अग्निहोत्राादिसमस्तवैदिककर्मसु, पुनरपि भगवदाराधनाधिकारसिद्धये दीक्षालक्षणसंस्कारवर्णनम्, तदवैदिकतामेवानुकारयति। वैदिकत्वे हि तैरेव संस्कारैः भगवदाराधनादावप्यधिक्रियेरन्।'' तत्रौव, पृ.18।

[32] याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.3।

[33] ''यदपि धर्मप्रमाणतया समस्तास्तिकजनपरिगृहीतेषु चतुर्दशविद्यास्थानेष्वपरिगणनम्, तदप्यवैदिकत्वे लिङ्गम्। अन्यथा हीदमपि तदन्यतमत्वेन स्मर्येत। तदवसीयते अवैदिकमेवेदं प×चरात्रास्मरणमिति।'' आगमप्रामाण्यम्, पृ.19।

[34] ''पा×चरात्रास्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्।'' महाभारत, शान्ति., 349.67।

[35] यतिराजसप्ततिः।

[36] आगमप्रामाण्यम्, पृ.38।

[37] तत्रौव, पृ.52।

[38] महाभारत, शान्ति. 349.67।

[39] षण्मतनाटक, 4.36।

[40] न्यायमंजरी, प्रथम भाग, पृ.219।

[41] षण्मतनाटक, 4.45।

[42] ''परस्परमपेक्षेते तुल्यकक्ष्ये न हि स्मृती।

पा×चरात्राश्रुती तद्वत् नापेक्षेते परस्परम्।।'' आगमप्रामाण्यम्, पृ.22 (उदाहृत)

[43] ''तत्रा भागवता मन्यन्ते – भगवानेवैको वासुदेवो निरंजनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वम्, स चतुर्धाऽऽत्मानं प्रविभज्य प्रतिष्ठितो वासुदेवव्यूहरूपेण , संकर्षणव्यूहरूपेण, प्रद्युम्नव्यूहरूपेणानिरुद्धव्यूहरूपेण च। वासुदेवो नाम परमात्मेत्युच्यते। संकर्षणो नाम जीवः। प्रद्युम्नो नामाहङ्कारः। तेषां वासुदेवः पराप्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम्। तमित्थम्भूतं परमेश्वरं भगवन्तमभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैर्वषयतमिष्ट्वाक्षीणक्लेशोभगवन्तमेव प्रतिपद्यत इति।'' ब्रह्मसूत्रा, शां.भा., 2.2.42।

[44] छान्दोग्योपनिषद्, 7.26.2।

[45] ब्र.सू.शां.भा., 2.2.43।

[46] तत्रौव, 2.2.44।

[47] तत्रौव, 2.2.45।

[48] '' जीमतमवितमए ठींजजवरपशे ंबजपअपजल उंल इम चसंबमक`वउमीमतम इमजूममद 1580 ंदक 1630 ।ण्क्ण ५ दृ भ्पेजवतल वि ॅदोतपज च्वमजपबेए चण्324ण

[49] तन्त्रााधिकारिनिर्णयः, पृ.10, 52।

[50] आगमप्रामाण्यम्, पृ. 17।

[51] तत्रौव, पृ. 59।

[52] तत्रौव।

[53] ''तद्भागवतेतरविप्राणामपि समानम्'', तत्रौव, 141।

[54] तत्रौव, 142।

[55] ''वैश्यात्तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाऽऽचार्य एव च।
भारुषश्च निजंघश्च मैत्रास्सात्त्वत एव च।।'' मनुस्मृति, 10.23।

[56] आगमप्रामाण्यम्, पृ. 148।

[57] आगमप्रामाण्यम्।

[58] तत्रौव, 153।

[59] तत्रौव, 155।

[60] तत्रौव, पृ. 157–158।

[61] ''यत्पुनरुक्तम् – उपनयनादिसंस्कृतानां भगवदाराधनार्थतया दीक्षालक्षणसंस्कारविधानादवैदिकत्वमिति, तदयुक्तम्। नहि उपनयनादिसंस्कृतानां ज्योतिष्टोमादिकर्माङ्गतया दीक्षासंस्कारविधायकं ''आग्नावैष्णवम्'' इत्यादिवाक्यमवैदिकं भवति।'' तत्रौव, पृ. 105।

[62] तत्रौव, पृ. 106।

[63] तत्रौव. पृ. 106।

[64] ''ननु कथं पौरुषेयत्वसामान्यदापतन्ती दोषसम्भावना अपनीयते पंचरात्रातन्त्राणाम् कथं वाक्यत्वसामान्यादापतन्ती वेदेषु सा वार्यते। अपौरुषेयत्वादिति चेत् तदिहापि सर्वज्ञावाप्तकामपरमपुरुषप्रणीततयेत्यवगम्य शाम्यतु भवान्।........

वदन्ति खलु वेदान्ताः सर्वज्ञं जगतः पतिम्।
महाकारुणिकं तस्मिन् विप्रलम्भादयः कथम्।।'' तत्रौव, पृ. 65, 66।

[65] द्रष्टव्य है रामानुज तथा वेदान्तदेशिक के अनुसार पांचरात्रा मत– ''एतदेव वेदानामपौरुषेयत्वं नित्यत्व×च यत्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव क्रमविशेषं स्मृत्वा तेनैव क्रमेणोच्चार्यमाणत्वम्।'' वेदार्थसंग्रह।

''तथापि सर्गप्रलयसम्भवात् सम्प्रदायविच्छेदे सर्ववेदोच्छेदात् पश्चादीश्वरस्तत्स्रष्टा स्यात्। न स्यात्, तथापि प्राचीनवेदसाक्षात्कारिणस्तस्य तत्प्रवर्तनमात्रौचित्यात् शक्तस्यापि तज्जातीयवेदान्तरकल्पने गौरवात्।'' तत्रौव, 159।
तथा मीमांसा–मत हेतु द्रष्टव्य है–

''वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्। वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा।।
इत्यादिना वेदापौरुषेयस्य साधितत्वात्। यः कल्पः स कल्पपूर्वः इति न्यायेन संसररस्याऽनादित्वादीश्वरस्य च सर्वज्ञत्वादीश्वरो गतकल्पीयं वेदमस्मिन् कल्पे स्मृत्वा उपदिशति।'' मीमांसान्यायप्रकाश, पृ. 7, 8।

[66] ''न वासुदेवस×ज्ञकात्परमात्मनः सङ्कर्षणस×ज्ञकस्य जीवस्योत्पत्तिः सम्भवति।'' ब्र.सू.शां.भा., 2.2.43।

[67] श्रीभाष्यम् , 2.2.41।

[68] ''तत्रा जीवमनोऽहङ्कारतत्त्वानामधिष्ठातारः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धा इति तेषामेव जीवादिशब्दैरभिधानमविरुद्धम्, यथा आकाशप्राणादिशब्दैर्ब्रह्मणोऽभिधानम्।'' तत्रौव।

[69] परमसंहिता, 2.18–19।

[70] श्रीभाष्यम्, 2.2.42।

[71] तत्रौव।

[72] आगमप्रामाण्यम्, पृ. 103।

[73] श्रीभाष्यम्, 2.2.42।

पौराणिक वेदवाद की प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि

श्यामकुमार पाण्डेय

प्रागैतिहासिक मानव की धार्मिक मान्यताओं की सूचना हमें उच्च–पुरापाषाण काल से प्राप्त होने लगती है। मेधावी मानव के प्रादुर्भाव ने प्रागैतिहासिक मानव के वैचारिक परिदृश्य को बदल दिया। पर्यावरण के प्रभाव ने उसे तदनुरूप विचार करने की क्षमता प्रदान की। इस बुद्धिमान मानव ने अपने पूर्वगामी मानव की अपेक्षा अधिक उन्नत प्रौद्योगिकी को जन्म दिया। बौद्धिक विकास ने कार्य–कारण पर विचारणा का सूत्रापात किया तथा अधिभौतिक शक्तियों के प्रति उसकी आस्था को तार्किकता की परणति तक पहुँचाया। अपनी अभिचारपरक शक्तियों के माध्यम से इस चर और अचर शक्तियों पर अधिकार स्थापित करने की प्रेरणा मिली और इन्हीं यातुकर्मों के माध्यम से उसमें धार्मिक भावों का सृजन हुआ। जादू–टोने को धर्म से अलग करना सम्भव नहीं है। नृतत्त्व शास्त्राीय अध्ययन भी इसी ओर इंगित करते हैं।

पारिस्थिकी की विषमता ने पशु जगत को सीमित कर दिया। पशुओं की कमी के कारण उसे आखेट सहजता से प्राप्त नहीं होता था, अतः अपने आखेट को सुनिश्चित करने के लिये उसने आखेट पशुओं के चित्रा बनाये तथा उनपर तीर, भाले अथवा हाथ के पंजों के निशान बनाकर जादू द्वारा उनकी आत्मा को वशीभूत करने या बाँधने का उपक्रम किया। इस भाँति बाधित पशु का शिकार सहजतापूर्वक हो जाता है– यह उनकी मान्यता थी। प्रागैतिहासिक मानव जिन शक्तियों से भयभीत होता था उसे प्रसन्न करने का प्रयास किया करता था। अपने अभिचारपरक कर्म द्वारा वह आत्माओं को बाँधने का प्रयास किया करता था। आज भी सम्पूर्ण ग्राम मन्त्रा–विद्ध करने की प्रथा प्रचलित है तथा उनका विश्वास है कि इस बंधन को न तो पशु तोड़ सकता है और न ही बीमारियाँ।

ऐसा आभासित होता है कि भयाक्रांत प्रागैतिहासिक मानव ने पशुओं में देवत्व आरोपित कर उनका पूजन प्रारम्भ कर दिया। शैलाश्रय उनके उपासन गृह बन गये। शैलाश्रय के स्थान विशेष पर निर्मित ये चित्रा इनके उपासित देवता की प्रस्तावना करते हैं। जो परवर्त्ती काल के चित्राों से और अधिक स्पष्ट हो जाता है। इन्हीं पशुओं के चित्रा जन जातियों में टोटेम (गणचिह्न) के रूप में मान्यता प्राप्त किये हुये हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय, आदमगढ़ का बन–भैंसा, पचमढ़ी का अरना भैंसा, जावरा तथा गुफा मासेर के वृषभ, अहमदपुर का शुतुरमुर्ग तथा भीम बैठका के हरिण आदि गिनाये जा सकते हैं।

वैदिक आर्य प्रकृति पूजक थे, वैदिक मन्त्रा इन्हीं प्राकृतिक शक्तियों की उपासना से भरे पड़े हैं। आर्यों का धीरे–धीरे स्थानीय जनजातियों से सम्पर्क स्थापित हुआ, परिणामस्वरूप हिन्दू–संस्कृति प्रकाश में आई। इस समन्वित हिंदू–संस्कृति में आर्य तथा आर्येतर तत्त्वों का समावेश होता चला गया। जनजातियों के आर्यीकरण की प्रक्रिया में उनके धार्मिक विश्वासों को भी स्वीकारा गया। इस भांति प्रागैतिहासिक काल से चले आ रहे गणचिह्नों (टोटम) को पुराणकारों ने एक नई व्याख्या प्रदान कर उन्हें हिन्दू विचारणा पद्धति का अभिन्न अंग बना दिया। अवतारवाद की परिकल्पना में इन

गणचिह्नों को समाहित कर देना एक महत्वपूर्ण घटना थी। न केवल गणचिह्न वरन् अन्य धार्मिक विश्वास यथा मातृदेवी, पौराणिक देवता, यक्ष, किन्नर, शेषनाग, वृक्ष–पूजन, पितृ–पूजन तथा जादू–टोना आदि ऐसी अनेक अवधारणायें हैं जो प्रागैतिहासिक संस्कृति की देन हैं। शैलचित्राों की एक अटूट श्रृंखला भारत में उपलब्ध है लेकिन इनके निहितार्थ, आंतरिक महत्व तथा गूढ़ार्थ को समझना इतना सरल नहीं है, वह तो तुलनात्मक नृजाति वर्णन (comparative ethmography) के आधार पर हम कुछ निष्कर्ष निकालने की स्थिति में आ पाते हैं। विषय–वस्तु की व्यापकता को ध्यान में रखकर मैं प्रस्तुत आलेख में मात्रा कुछ बिन्दुओं पर प्रकाश डालने का प्रयास करूँगा।

ऊपर निर्देशित किया गया है कि अभिचारपरक कर्म प्रागैतिहासिक मानव के जीवन का अभिन्न अंग बन गये थे। चाहे आखेट में सफलता हो, या बीमारियों से छुटकारा पाना हो, अथवा प्रेत–बाधा से छुटकारा पाना हो, सभी प्रकार की त्रासदी से बचने के लिये जादू–टोने का सहारा लिया जाता था। इन सभी कार्यों को सम्पादित करने वाले व्यक्ति को शमन या ओझा कहा जाता था। अपने यातुमूलक कर्मों के माध्यम से वह शक्तिशाली होता चला गया तथा धीरे–धीरे जनजातियों का मुखिया बन गया। इसका कार्य न केवल झाड़–फूँक करना था वरन् शिकार तथा युद्ध के समय समाज का नेतृत्त्व करना भी था। झाड़–फूँक करते, दवा देते तथा दलपति के रूप में इनका अंकन भारतीय शैलचित्राों में बहुतायत से प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में ओझा का पद शासक तथा पुरोहित के रूप में विकसित होता चला गया। हड़प्पा तथा सुमेर आदि संस्कृतियों से प्राप्त प्रतिमाओं को पुरातत्त्ववेत्ताओं ने ऐसे ही पुरोहित वर्ग से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है।

मातृदेवी – मातृदेवी की परिकल्पना भी प्रागैतिहासिक ही है। उर्वरा–शक्ति की प्रतीक होने के कारण उसे समाज में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। प्रागैतिहासिक समाज मातृ–सत्तात्मक होने के कारण मातृ–शक्ति को वरीयता प्राप्त होती रही और कालांतर में इसी सत्ता को देवी का रूप प्रदान कर दिया गया। पृथ्वी प्रकृति की जननी है, अतः उसे पृथ्वी माता, धारणी आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाने लगा। वैदिक साहित्य में देवमाता अदिति को आदि शक्ति के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। पौराणिक काल में भी दुर्गा को आदि शक्ति का प्रतीक मानकर उसकी अर्चना प्रारम्भ हुई।

फ्रांस, स्पेन, आस्ट्रिया आदि से पाषाणकालीन स्त्राी प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई है। इनका समय लगभग ईसा पूर्व 30,000 वर्ष निर्धारित किया गया है। प्रतिमाओं के मातृत्व–रूप को प्रदर्शित करती हुई इन प्रतिमाओं के नितम्ब, पेट तथा स्तन अपेक्षाकृत बड़े प्रदर्शित किये गये हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं का निश्चित मत है कि इन प्रतिमाओं को उर्वरा शक्ति के प्रतीक, 'मातृदेवी' के रूप में पूजा जाता रहा होगा। मातृ–देवी का पूजन विश्व की अनेक जनजातियों में विद्यमान था। इलाहाबाद के पास बेलन घाटी के उत्खनन में भी हड्डी की बनी मातृदेवी की प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसका काल उत्तर पुरापाषाणकाल निर्धारित हुआ है।

भारतीय शैलचित्राों में ऐसे अनेक चित्रा प्राप्त हुये हैं जिनमें मातृत्व–रूप को दर्शाने का प्रयास किया गया है। इन चित्राों को आदि–शक्ति के रूप मे पूज्य मातृ–देवी के चित्रा मानने में किसी भी प्रकार का संशय नहीं होगा। ये चित्रा निश्चित रूप से

स्त्राी की उर्वरा शक्ति का प्रदर्शन करते हुये प्रतीत होते हैं। कुछेक चित्रा ऐसे भी प्राप्त हुये हैं जिनमें प्रजनन को प्रदर्शित किया गया है। प्रतीक रूप में यह उर्वरा शक्ति का ही दिग्दर्शन प्रतीत होता है।

अवतारवाद – गणचिह्नों के रूप में मत्स्य, कूर्म, वराह, वृषभ, सर्प या संश्लिष्ट देवताओं का धार्मिक महत्त्व प्रागैतिहासिक काल में ही प्रारम्भ हो चुका था। शैलचित्राों के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ या तो इनकी उपासना होते हुये प्रदर्शित है अथवा किसी गूढ़ार्थ के रूप में इनकी संरचना की गयी है। उदाहरणस्वरूप मत्स्य को ही लें। शैलचित्राों में अनेक स्थानों से मत्स्य का शिकार करते या उन्हें भोजन सामग्री के रूप में प्रयोग करते हुये प्रदर्शित किया गया है लेकिन जावरा के शैलाश्रय में एक अत्यन्त अलंकृत मत्स्य का अंकन प्राप्त है जिसके समक्ष दो व्यक्तियों को हाथ जोड़कर झुकते हुये प्रदर्शित किया गया है। अनुपात की दृष्टि से यह मत्स्य उपासकों से कई गुना बड़ा प्रदर्शित किया गया है जो उसकी अधिभौतिक शक्ति का प्रदर्शन करता है। मत्स्य का स्वतंत्रा अंकन मंदसौर, सतकुण्डा, गुफा मासेर तथा रायगढ़ क्षेत्रा से भी प्राप्त है जो उसकी महत्ता को प्रतिपादित करता है। इसी भांति जावरा, भीम–बैठका तथा रायगढ़ से कच्छप का अंकन प्राप्त है। इनमें विशेष उल्लेखनीय भीम–बैठका से प्राप्त चित्रा हैं। यहां के सी–ग्रुप में एक शिला–खण्ड पर दो कच्छपों का अंकन किया गया है जिनमें से एक आकृति में बड़ा है तथा उसके सिर से प्रकाश–किरणें निकलती प्रदर्शित की गई हैं। यह प्रभा–मण्डल उसके देवत्व का सूचक है। उसके बाजू से अपेक्षाकृत छोटी आकृति में एक अन्य कच्छप का अंकन प्राप्त है। इनके नीचे चार की संख्या में उपासक हाथों को ऊपर उठाये आराधना में लीन प्रदर्शित किये गये हैं। भीम–बैठका से ही एक अन्य शैलाश्रय से कच्छप के दो चित्रा प्राप्त हैं जिनमें एक बड़ा तथा दूसरा छोटा है। गोलाकार पीठ को अलंकरणों द्वारा सजाया गया है। बड़े कच्छप के बायें हाथ में लघु–पाषाणयुक्त तीर तथा दाहिने हाथ में धनुष दर्शाया गया है। पाषाण उपकरणों से सुसज्जित होने के कारण निश्चित ही ये चित्रा पाषाणयुगीन हैं, तथा निःसंदेह प्रागैतिहासिक हैं।

संश्लिष्ट पौराणिक देवता, यथा नरसिंह, गणेश, हनुमान् का बीजारोपण प्रागैतिहासिक काल में हो चुका था। भीम–बैठका से एक ऐसे पशु का विशालकाय चित्रा प्राप्त है जिसका थूथन सुअर का, मुंह हाथी का तथा शरीर बैल का है। पशुओं के इस भांति के संश्लिष्टीकरण के पीछे कोई गूढ़ अर्थ अवश्य रहा होगा और यही अवधारणा कालान्तर में संश्लिष्ट देवताओं के रूप में प्रतिफलित हुई प्रतीत होती है। इसी भांति के वृषभ का एक विशालकाय चित्रा जावरा से प्राप्त है। इस चित्रा में प्रारम्भ में गेंडा बनाया गया, बाद में इस चित्रा को विशालकाय वृषभ के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। बैल के सींग बाद की अवस्था में जोड़े गये। इस बैल के शरीर को अत्यधिक अलंकृत किया गया है तथा इसके साथ अनेक प्रतीकों का संयोजन भी प्राप्त है। वस्तुतः बैल के माध्यम से ब्रह्माण्ड की कल्पना की गई प्रतीत होती है। जिसमें छोटे– छोटे बिंदुओं के माध्यम से ग्रह, नक्षत्रा तथा तारों का प्रदर्शन किया गया प्रतीत होता है। पशु के पृष्ठभाग में सात तथा चार गोलों का प्रदर्शन किया गया है जो सात दिन तथा चार हफ्तों के प्रतीक रूप हैं। इस चित्रा के सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात हुआ

कि इसपर बार–बार रंग चढ़ा कर ताज़ा रखने का प्रयास किया गया। अन्य चित्राों में ऐसी प्रक्रिया देखने को नहीं मिलती। इस चित्रा की सम्पूर्ण व्याख्या अभी भी अपेक्षित है।

शेषनाग – भोपाल के पास चीलदांत नामक शैलाश्रयों से लगभग 30 फुट लम्बे सर्प का अंकन प्राप्त हुआ है जिसकी मुटाई लगभग 1 फुट होगी। शैलचित्राों में सर्प का अंकन बहुत थोड़ी संख्या में हुआ है अतः इस भीमकाय सर्प का अंकन अपना विशेष महत्व रखता है। इस सर्प के शरीर को विभिन्न रंगों तथा अलंकरणों से सजाया गया है। इसके अग्रभाग में सफेद रंग से सात फणों का अंकन किया गया है तथा सबसे ऊपर के फण पर एक गोलाकार वस्तु रखी हुई है। सात फणों वाले सर्प का सम्बन्ध बलराम तथा पार्श्वनाथ से जुड़ा हुआ है लेकिन इस उदाहरण में सर्प के सिर पर प्रदर्शित गोल वस्तु या तो मणि हो सकती है या फिर जैसा कि हमारे पुराणों में वर्णित है यह शेषनाग का प्रागैतिहासिक रूप हो सकता है। गोलाकार वस्तु पृथ्वी हो सकती है। शेष के सात फण कालान्तर में सहस्र फणों में परिवर्तित हो गये। निश्चित रूप से यह दृश्य शेषनाग की अवधारणा की ओर ही इंगित करता है। काल–क्रम की दृष्टि से यह चित्रा लगभग 8 हज़ार वर्ष प्राचीन माना गया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि प्रागैतिहासिक काल में शेषनाग की पृथ्वी धारण करने की अवधारणा का बीजारोपण हो चुका था जिसे परवर्ती पुराणकारों ने व्याख्यायित कर रूपक के रूप में प्रस्तुत कर दिया। हिन्दू त्रिादेवों में शिव तथा विष्णु के साथ सर्प का संयोजन इसी कारण हुआ।

विश्व की अन्य प्रागैतिहासिक सभ्यताओं में भी सर्प को किसी न किसी रूप में पूज्य माना गया है। आस्ट्रेलिया के आदिवासी सर्प को वर्षा देवता के रूप में मान्यता प्रदान किये हुये है। यहाँ यह इंगित करना आवश्यक है कि आस्ट्रेलिया की मान्यता के अनुसार वहाँ के आदिवासी भारत से ही आस्ट्रेलिया गये तथा नीलगिरि पर निवास करने वाली टोडा जनजाति के ही अंग हैं।

पचमढ़ी के मांटेरोजा शैलाश्रय से दो चित्राों की प्राप्ति हुई है जिनमें से एक चित्रा में बिना वाहन के एक रथ का अंकन किया गया है। रथ पर सवार व्यक्ति के हाथ में अन्न की बालियाँ प्रदर्शित हैं। रथ के सामने बादलों के समूह से पानी गिरता प्रदर्शित किया गया है। उर्वरा शक्ति के प्रतीक के रूप में अन्न की बालियाँ तथा सामने बरसते जल के आधार पर इस चित्रा की इंद्र से पहचान की जा सकती है।

मांटेरोजा से ही एक अन्य चित्रा की प्राप्ति हुई है। इस चित्रा में दो लड़ते पशुओं को बीच में खड़ा व्यक्ति अलग कर रहा है। इन पशुओं में एक बैल है तथा दूसरा शेर। इससे मिलता–जुलता कथानक मेसोपोटामिया के पौराणिक आख्यानों में प्राप्त होता है। मेसोपोटामिया का यह हीरो दो लड़ते हुये शेरों को अलग कर सकता था। इस देव पुरुष को 'गिल्गमेश' के नाम से जाना जाता है। भारत में भी इसी से मिलती–जुलती अवधारणा का प्राप्त होना महज एक संयोग नहीं हो सकता। यह परिकल्पना विचारों के आदान–प्रदान से ही सम्भव थी जो आज से लगभग पाँच हज़ार वर्ष पूर्व भारत तथा मेसोपोटामिया के बीच हुआ होगा। भारत तथा मेसोपोटामिया के पौराणिक आख्यानों में प्राप्त मनु अथवा नूह द्वारा जल–प्रलय के समय नाव पर मानव

जाति को बचाने के दृश्य का अंकन भी भारतीय शैलचित्राों में प्राप्त है। ये चित्रा भीम–बैठका तथा खरवई के शैलाश्रयों से प्राप्त हैं।

विष्णु के अवतारवाद के साथ ही साथ शैव परिवार का अंकन भी शैलचित्राों में प्राप्त हुआ है। इनमें से सर्वप्राचीन चित्रा एक नर्तक का है जो जटा–जूट धारण किये तथा हाथ में त्रिाशूल लिये नर्तन कर रह है। चित्रा मध्यपाषाणकालीन शैली में बना है। इस चित्रा की नटराज के रूप में पहचान की गयी है। यह चित्रा भी भीम–बैठका से ही उपलब्ध हुआ है। खरवई से तन्त्राों से सम्बन्धित एक त्रिाभुजाकार आकृति के भीतर बने शिवलिंग की प्राप्ति हुई है। भीम–बैठका से ही शिवलिंग का पूजन करती गौरा–पार्वती का अंकन प्राप्त है। खरवई से मयूर पर सवार कार्तिकेय के चित्रा पाये गये हैं तथा भीम–बैठका में गणेश का अंकन तथा असुर का वध करती दुर्गा का चित्राण प्राप्त होता है। शिव–परिवार की उपासना के ये दृश्य निश्चित रूप से आदिम जन–जातियों के बीच शैव–धर्म की महत्ता स्थापित होने के प्रमाण हैं।

अंतरिक्ष का अंकन, प्रतीक पूजन, बलिप्रथा, वृक्ष–पूजन आदि ऐसी अनेक विद्यायें हैं जिनका प्रारम्भ प्रागैतिहासिक काल से हुआ। समयाभाव में उन सभी का वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है।

इति

पुराणों का उपबृंहण कार्य

अ. ग. लाले
पुणे।

<u>पुराण साहित्य – उ०म आणि विकास!</u>

पुराण शब्द का प्रयोग वैसे तो वेदों से चला आ रहा है। ऋग्वेद में वह शब्द मुख्यतः विशेषण रूप में आया है। पर अथर्ववेद में उसका कुछ–कुछ वाङ्मर्यान रूप झलकता है। अथर्ववेद में इतिहास, पुराण, नाराशंसी, गाथा – ये शब्द कई बार आये हैं। एक उक्तिविशेष या कथन–विशेष, जो दैवतेतर वीरों की स्तुति के संदर्भ में आते हैं। जैसे–

''स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्। तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्।।'' (अथर्व. 15.60–11)।

शतपथ ब्रा. में कहा गया है कि पारिप्लव के नौवें दिन होता इस तरह कहता है–

''तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति कि×चत्पुराणमाचक्षति।''

ब्रात्य स्तोत्रा के प्रसंग में दिशाओं के अनुसार वेदों की आरचना की गयी है। उदाहरणार्थ–

1. प्राची – सर्पवेद; 2. पश्चिम – असुरवेद;
3. उत्तर – इतिहासवेद; 4. ऊर्ध्वा – पुराण।

सूत्रा–साहित्य में भी पुराणों का उल्लेख किया है। उदा.–

आश्व. श्रौ. X .6.10 – X .7.1 ; आप. सू. I . 6.19.13 ;

''यो हिंसार्थमभिक्रान्तं हन्ति मन्युरेव मन्युं स्पृशति न तस्मिन् दोष इति पुराणे।।'' (I . 10.29.7)।।

महाभारत और कौटिलीय अर्थशास्त्रा में पुराणों के बहुत से उल्लेख पाये जाते हैं।

मनु ने कहा है कि श्राद्ध के दिन पितरों को पुराण वगैरह सुनाने चाहिये–

''स्वाध्याय श्रावयेत् पित्रये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानितिहासाँश्च पुराणानि खिलानि च।।'' (मनु. III . 232)

''पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाच्च धभिताम्।
कथ्यन्ते ये पुराऽस्माभिः श्रुतपूर्वा पितुस्तव।।'' (आदि. 5.2)

कई पुराणों मे यह बताया गया है कि मूलतः पुराण एक था, जिसको ब्रह्मा ने स्मरण किया था। हो सकता है कि प्रचलित पुराणों से पहले भी कुछ पुराण होंगे।

<u>पुराण संख्या तथा श्लोक संख्या</u> – सामान्यतः पुराणों की संख्या अठारह बताई जाती है। (विष्णुपु. III. 6.23; वराह. 112.69–72; मार्कण्डेय. 134.7–11)। यद्यपि इनके नामों या तालिकाओं के बारे में भिन्नता है, फिर भी सामान्यतः नीचे श्लोक में जिनकी सूचना दी गयी है, उनको महापुराण संज्ञा प्राप्त हुई है–

''यद्वयं भद्वयं च्चैव ब्रात्रायं वचतुष्ट्यम्।
अनापालिंग कूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्।। (देवीभाग- I- 3.2)

काणोंजी के अनुसार यह तालिका प्रामाणिक मानी जा सकती है–

क्र.	पुराण	मत्स्य, वायु आदि पुराणों के अनुसार श्लोक संख्या
1.	ब्रह्म	10,000
2.	पद्म	55,000
3.	विष्णु	23,000
4.	वायु	24,000
5.	भागवत	18,000
6.	नारदीय	25,000
7.	मार्कण्डेय	9,000
8.	अग्नि	16,000
9.	भविष्य	14,500
10.	ब्रह्मवैवर्त	18,000
11.	लिङ्ग	11,000
12.	वराह	24,000
13.	स्कन्द	81,100
14.	वामन	10,000
15.	कूर्म	18,000
16.	मत्स्य	14,000
17.	गरुड	18,000
18.	ब्रह्माण्ड	12,200।

पुराण–लक्षण – अमरकोश में लिखा हुआ पुराण–लक्षण विख्यात है–

''इतिहास पुरावृतं, पुराणं प×चलक्षणम्।।''

ये प×च लक्षण हैं–

''सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वंतराणि च।

वंशानुचरितं चैव पुराणं प×चलक्षणम्।।'' (वायु. 4.10–11; कूर्म. I- 1.12)

हो सकता है कि इतिहास में राजाओं तथा प्राचीन वीरों की कथायें थीं। पुराण में उन सबके साथ सर्ग, प्रलय और मन्वंतरों के संबंध में भी जानकारी थी।

लेकिन उपलब्ध पुराणों में और भी कई विषयों का विवेचन किया गया है।

कई पुराणों में भारतीय युद्ध और आन्ध्र राजाओं के पतन तथा गुप्तों के अभ्युदय काल के राजाओं का वर्णन आया है।

वायु. 99.250.435; विष्णु. IV 20.12, IV 24.44; ब्रह्माण्ड. III- 74.141–248; भागवत. IX- 12.9–16; गरुड 140, 141.1–12 आदि अंश इन विषयों के साथ–साथ व्रतमहिमा, तीर्थप्रशस्तियाँ, पूजाविधान, देवताओं के पराक्रम और अनेक आचारों की प्रशस्तियाँ– इन विषयों से पुराण भरपूर हैं।

इन सबको देखते हुये एक बात स्पष्ट होती है कि पुराणसाहित्य लगातार प्रजोन्मुख होता जा रहा था।

जनसामान्य के विकास के लिये जो–जो आवश्यक था उसका ब्यौरा पुराणों में दिया गया है। उपलब्ध विज्ञान–संपत्ति को जनसामान्य तक सरल शैली में पहुँचाने का काम पुराणों ने किया।

इसलिये पुराण प्राचीन होने पर भी नित्य नये लगते थे। यही भाव पुराणों के लक्षणों से स्पष्टतः प्रतीत होते हैं। पुराण के ये लक्षण सर्वज्ञात हैं–

''यस्मात् पुरा ह्मनतीदं पुराणं तेन तत्स्मृतम्।।'' वायु.

''पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन वै स्मृतम्।।'' (पद्म. V 2.5)

''यस्मात् पुरा ह्मभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्।।'' (ब्रह्माण्ड. 1.133)

पुराणों के रचयिता – यह सामान्यतः माना जाता है कि पुराणों के प्रमुख रचयिता व्यास थे। उन्होंने ही वेदों का व्यवस्थित विभाजन किया, अपने चार शिष्यों को चार वेदों को पढ़ाया। अपने पाँचवें शिष्य सूतरोमहर्षण को इतिहास पुराण पढ़ाये। यह भी कहा गया है कि जब भी गुणों का Ђास होता है, व्यास पैदा होते हैं और पुराणों की पुनर्रचना करके लोगों का उद्धार करने का प्रयत्न करते हैं।

व्यास के रचे हुये पुराणों को सूत ने प्रचारित किया। सूत का व्यक्तित्व भी अद्भुत है–

''लोभनि हर्षयाभ्चक्रे श्रोतॄणां यत्सुभाषितैः।
कर्मणा प्रथितस्तेन लोकेऽस्मिँल्लोम हर्षणः।।'' (वायु. I-16)

सूत का अर्थ रथचालक भी है। ब्राह्मण स्त्राी और क्षत्रिाय पुरुष से पैदा हुई संकर जाति का सूत था।

कुछ पुराणों में कहा गया है कि ब्रह्मा को यज्ञ में जिस दिन सोम का सवन हुआ था, उस दिन यज्ञ की उत्पत्ति हुई थी। उसका अर्थ राजाओं की धारना करना था।

''स्वधर्म एव सूतस्य सद्भिर्दृष्टः पुरातनैः।
देवतानामृषीणां च राज्ञां चामिततेजसाम्।।
वंशानां धारणं कार्यं श्रुतानां च महात्मनाम्।
इतिहासपुराणेषु दिष्टा ये ब्रह्मादिभिः।।'' (वायु. ऽ.31–32; पद्म. ट 1,27)

इस तरह व्यास द्वारा परंपरागत पुराण, जो एक निश्चित रूप प्राप्त कर चुका था, उसका निश्चित विषयों से साहित्य के रूप में प्रवर्तन किया गया। इन नवीन विषयों में तीर्थवर्णन, व्रतमाहात्म्य, युगधर्म, कर्म–काल–महिमा, भुवनकोश, नानाविध पूजायें और विधायें अंतर्भूत थीं।

विभिन्न देशों और कालों में चार मूल पुराणसंहिताओं का प्रवचन होने के कारण और शैव–वैष्णव–शाक्त संप्रदायों के आचार्यों द्वारा स्वीकृत किये जाने के कारण अनेक पुराण ग्रन्थों की क्रमशः रचना हुई। प्रवक्ता के नाम तथा विषय के अनुसार पुराणों के नाम पड़े। प्रवक्तृनामवाले पुराण सांप्रदायिक नहीं थे, पर प्रतिपाद्य विषयनामवाले तो सांप्रदायिक परिवेश में ही रचे गये। हाँ, उपबृंहण के बाद यह भेद कम हो गया। पुराणों का विकास या उपबृंहण के कुछ गमक ये हैं–

1) कई विषय परस्पर असंलग्न होते हैं, जो भिन्न–भिन्न कालों में जोड़े हुये हों। ब्रह्मपुराण में बृहदाकार पुरुषोत्तममाहात्म्य, गौतमीमाहात्म्य और कृष्णमाहात्म्य वर्णित हैं।

2) विभिन्न संप्रदायों ने विभिन्न कालों में संबद्ध अंशों का संयोजन किया है। विष्णुपरक नारदपुराण में शैवशास्त्रीय सामग्री है। (नारद I- 63–91)
3) एक ही विषयों को पुराणों में अलग–अलग संवादों में प्रस्तुत किया गया है।
4) पुराणों को अधिक संग्रहात्मक और लोकोपयोगी बनाने के लिये अनेक विषयों का सामान्य दृष्टि से उपन्यास किया है। फिर भी तीर्थमाहात्म्य, व्रत, दान आदि विषय पुराणों में ही अधिकतर पल्लवित हुये हैं। इनमें सांप्रदायिकता पर्याप्त मात्राा में है, प्रारंभिक पुराणों का विकास या उपबृंहण मुख्यतः सांप्रदायिक दृष्टि से ही किया गया है। असांप्रदायिक वंशमन्वन्तरादि विषयों का उल्लेख योग्य उपबृंहण पुराणों में नहीं मिलता। कुमारिल का वचन है (तंत्रावार्तिक I- 3.9) कि विभिन्न वैदिक शाखाओं और कल्पग्रन्थों की तरह पुराण संप्रदाय नियत नहीं हैं।

सर्गादि पाँच और आख्यानादि चार विषयों के लिये सांप्रदायिक अभिनिवेश की आवश्यकता नहीं है। पुराण के भुवनकोश और वर्णाश्रम धर्म भी सामान्यतः असांप्रदायिक ही थे। ये सांप्रदायिक विषय प्रायः सभी उपबृंहित पुराणों में मिलते हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि असांप्रदायिक–प्रकरण–बहुल–पुराण सांप्रदायिक–तत्त्व बहुल–पुराणों से प्राचीन हैं। जैसे कि – मार्कण्डेय, वायु, ब्रह्माण्ड।

<u>पुराणों का विकास</u> – कई प्राचीन आचार्यों ने पुराण वाक्यों को वेदोपबृंहक अर्थात् वेदव्याख्याकारक माना है।
महाभारत का यह श्लोक बहुचर्चित है–

> ''इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
> बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।'' (आदि. I- 267)

वेदमन्त्राों द्वारा प्रतिपादक अर्थ सिद्धान्त तथा तथ्यों का विस्तार और परिपोष पुराणों ने किया है। यह परिपोष कई उपायों से किया गया है–
1) पुराणों में जो भिन्न–भिन्न देवताओं की स्तुतियाँ हैं, उनमें कई जगहों पर वैदिक मन्त्राों का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ–

वायु. के 55वें अध्याय की शिवस्तुति में रुद्राध्याय के बहुत से पद गुंफित हुये हैं।

भागवत. II-6.15–70 में पुरुष सूक्त की पंक्तियाँ पायी जाती हैं। देवी भागवत में कई उपनिषदों तथा अथर्वशिरस की पंक्तियाँ हैं।

2) पुराण ग्रन्थ उपबृंहणात्मक हैं, क्योंकि कई वैदिक मन्त्राों को कुछ परिवर्तनों के साथ प्रयोग में लाया गया है। इतना ही नहीं, वैदिक मन्त्राों की कई प्रकारों से व्याख्यायें की गई हैं। वैदिक देवताओं के मन्त्राों को पौराणिक देवताओं से संलग्न करके पुराणों ने अपने कथ्य को प्राचीन परंपरा के दृढ़ अधिष्ठान पर प्रामाणिक बना दिया है। इस तरह पुराणों को भी प्रामाण्य मिला और उसके आचारों तथा दैवत विचारों की इन व्याख्याओं का एक वर्गीकरण प्रस्तुत कर सकते हैं।
क) कुछ व्याख्याओं में पदों में साधारण सा बदल हुआ, यद्यपि अर्थ और भाव यथापूर्व हैं। उदाहरणार्थ–

पुरुषसूक्त की ''स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।'' पंक्ति को ''सर्वव्यापी भुवः स्पर्शादत्यतिष्ठदृशाङ्गुलम्।'' जैसे बदला है। (विष्णु. I- 12.58)

पद्म VI 272.209–211 में गायत्राी मन्त्रा के 'प्रचोदयात्' के स्थान पर 'प्रभाति' है, जो कृष्ण का वर्णन करता है।

यजुर्वेद (31.18) के 'वेदाहमेतम्.....अयनाय' मन्त्रा को स्कन्द प्रभास क्षेत्रा VI-39 में सोमेश्वर शिव को लक्ष्यकर कहा गया है।

ख) कुछ व्याख्याओं में वैदिक पदों के अर्थ सांप्रदायिक दृष्टिकोण से बताये हैं।

ऋग्वेद के 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्।' (I-164,29) में; पद्म. VI-255.66 में 'यदक्षरं वेदगुह्यम्' है।

भागवत VII- 15.42 में 'प्रणवो धनुः' को 'धनुर्हि हि तस्य प्रणवं पठन्ति शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम्' कहा गया है। शर को जीव कहकर उपनिषद् के अर्थ को संदेहरहित किया गया है।

बृहदारण्यक के ''आत्मानं चे द्विजानीयात्.....शरीरमनुसंज्वरेम्।'' वाली पंक्ति में जो 'अनुसंज्वरेत्' पद है उसके बदले 'देहं पुष्णाति लम्पटः' कहकर मूलपद को स्पष्टार्थक किया है।

ऋग्वेद के 'द्वा सुपर्णा' मन्त्राों को भागवत में विशद किया गया है–

''सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।

एकस्तयोः खादति पिप्पलान्यमन्यो निरभोऽपि बलेन भूयान्।'' (भाग. XI- 11.16)।

भुणक उपनिषद के 'काली कराली' आदि अग्निजिह्वापरक मन्त्रा की मार्कण्डेयपुराण (99. 52–58) में विशद व्याख्या है, जिनके बारे में अन्य टीकाकार मौन हैं। शायद ऐसी व्याख्या किसी शाखा में प्रचलित होगी, जिसे पुराण ने सजाया है, उन सभी के अर्थ ऐसे हैं–

1. काली – कालनिष्ठाकारी।
2. कराली – महाप्रलयकारण।
3. मनोजवा – लघिमागुणलक्षणा।
4. सुलोहिता – भूतों के लिये काम करने वाली।
5. सुधूम्रवर्णा – प्राणिरोगदायिका।
6. स्फुलिङ्गिनी – सब पु०लों की उत्पत्तिकारिणी।
7. विश्व (विश्वरूपी) – प्राणियों को सुख देने वाली।

गायत्राी की व्याख्या करते समय अग्निपुराण ने सविता को भगवान् विष्णु कहा है; और भर्ग को आदित्यान्तर्गत तेज माना है।

''त्रयंबकं यजामहे'' (यजु.मा. III-60) इस मन्त्रा की लिंगपुराण में शैवशास्त्राीय पद्धति के अनुसार विशद व्याख्या दो स्थानों पर की है–

	लिंग (I- 35.16–35)	लिंग (II-54.17–31)
1. त्रयम्बक :	त्रिालोक, त्रिामण्डल, त्रिागुण।	त्रिालोक, त्रिावेद, अ.5–4।
2. सुगन्धि :	पुष्प में गंध के समान सूक्ष्म होने के कारण सुगन्धि।	पुष्पित वृक्ष की गंध के समान शिव की गन्ध भी दूर फैलती है।
3. पुष्टिवर्धन :	प्रकृति आदि के वर्धन में हेतु होने के कारण।	जिस वीर्य से अंड बना उस वीर्य की महत्ता के कारण।

4. उर्वारुकमिव : X यहाँ पक्व विशेषण दिया गया है, जिससे उपमा की ध्वनि स्पष्टतर हो जाती है।

5. मृत्योः : मृत्युपाश। ———

ग) इस प्रकार में, मन्त्रार्थ की अपेक्षाकृत परिवर्तन न होने पर भी मन्त्राविशेष का सांप्रदायिक दृष्टि के अनुसार परिवर्तन किया जाता है। उदाहरणार्थ—

हिरण्यगर्भसूक्त (X-121) की कृष्णपरक व्याख्या पद्म. पु. ट.292.190.203 में मिलती है। जगत्स्रष्टा हिरण्यगर्भ विष्णु का ही रूप विशेष है।

तद्विष्णो—परम—पदम् (Rv. I. 22.20) की ध्रुवनक्षत्रापरक व्याख्या विष्णु. प.8.98 में है। 'सदा पश्यन्ति सूरयः' के स्थान पर 'योगिनां तन्मयात्मानां विवेक ज्ञान दृष्टम्' कहा गया है।

घ) कई व्याख्याओं में सांप्रदायिकों ने अपनी रुचि से बदल किये हैं। 'ता वां वास्तून्युश्मस्सि गमध्यै' (I.154.6) की व्याख्या पद्म. VI- 255.70—73 में की गई है। वहाँ शाङ्‍र्गी विष्णु के लोक का वर्णन पुराणकार ने किया है।

च) अनुक्रमणी में जिन देवताओं का निर्देश मिलता है, पुराणों में उनसे विलक्षण देवताओं का निर्देश मिलता है, जो पुराणकालीन देवताओं की महत्ता को सिद्ध करता है।

प्रसिद्ध मन्त्रा — ''चत्वारि शृङ्‍गा त्रायोऽस्य पादा,
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति।।'' (चार वेद, तीन सवन)

की यज्ञपरक व्याख्या भागवत पु. VIII- 16.31 में की गयी है। काशीखंड 73.93.96 में शिववर्णन प्रसंग में यह मन्त्रा दिया है।

'सप्तहस्तासः'— गायत्री आदि सात छन्द।

प्रापयनीय, उदयनीय दो सिर।

धर्ममय वृषभरूप यज्ञ वेदों के द्वारा प्रतिपादित है, इसकी आत्मा है स्वयम् आप।

छ) कई स्थानों पर वैदिक ऋचाओं का मात्रा आधार लेकर अपनी ही दृष्टि से व्याख्या दी है। वैदिक शब्दों के प्रयोग करने पर स्व—संप्रदाय की वैदिकता सिद्ध करना सरल हो जाता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (III- 12.9.1) में 'ऋगभिः पूर्वाह्णे...' मन्त्रा है।

प्रभास क्षेत्रा (VI-39) इस मन्त्रा की सूर्यपरक व्याख्या है।

{व्यासशिष्य लोमहर्षण विद्वान ब्राह्मण थे, ऐसा भी कई विद्वान समझते हैं (सनातन धर्मालोक, III- 301—309)। हो सकता है कि व्यास प्राचीन पुराण पहले सूतों द्वारा प्रोक्त हुआ था। बाद में विद्वान मुनि पुराणों के प्रवचन करने लगे। अतः लक्षणा से वे भी सूतपदवाच्य हो गये।}

''सोमो द द द् गन्धर्वाय'' (मनु. X-85.41) की गरुड़पुराण (I-95.15) वाली व्याख्या में सोमादि प्रदत्त शौच वाणी मेध्यता का उल्लेख है।

माध्यंदिन 31.18 में 'वेदाहमेतन्' की व्याख्या जब गरुड़ पुराण (I-226.6) में की गई, तब च्चिद्रूपविशेषण अधिक जोड़ा है। ''वेदन सौहस्मीति'' का कहकर गरुड़ पुराण ने अपनी दृष्टि के अनुसार इस वेदन को स्पष्ट किया है।

कठोपनिषद् के ''आत्मानं रधिनं विद्धि''– की व्याख्या भागवत (VII-15.41–42) में पायी जाती है, जो दशप्राणों के उल्लेख के साथ पूरे रूपविधान को विशद करती है।

''आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानमिषून् मन इन्द्रियेशम्।
वत्मानि मात्राा धिषणांच सूतं सत्वं बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम्।।
अक्षं दश प्राणमधर्मधर्मौ चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम्।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति शर तु जीवं परमेव लक्ष्यम्।।''

इसी प्रकार कर्दम (छायावाची), पुल (तप), अविमुक्त (पाप से मुक्त), कश्यप (मघवाची काश्यन शब्द), असुर (असु से जात, वायु.), ब्रह्म (विष्णु–बृहत्वाद्–बृंहणात्वाच्च), शरीर (अयन्ति यक्ष्मात्तन्मात्राः), आचार्य (स्वयमाचरते यस्मात्) ओम् (कूर्म. I-463, अनवाटोम्, आप भी), आदित्य (आदित्यश्चादिभूतत्त्वात्, मत्स्य.2.31) आदि अनेक पदों के विशद निर्वचन पुराणों में दिये गये हैं।

वेदों को मूलस्रोत मानकर पुराणों का विकास हुआ है। इसके साथ–साथ पुराणों की कथाओं का भी विकास हुआ है। मन्वन्तर और वंश्यानुचरित के लक्षणों के निर्दिष्ट अनेक राजवंशों का वर्णन पुराणों में आया है। इन कथाओं के विकास के संबंध में एक श्लोक विख्यात है–

''आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थ विशारदः।।''

(विष्णु. III-6.16, वायु. 60.21, ब्रह्माण्ड. ६.34)।

इन सब तृतीयान्त पदों से यह ध्वनित होता है कि, पहले से जो प×चलक्षण पुराण प्रसिद्ध था, उसके साथ आख्यानादि को जोड़कर पुराणसंहिता को व्यास ने प्रणीत किया।

ये चारों लोकवृतप्रधान हैं। लौकिक विषयों की सुरक्षा और प्रचार हो, इस उद्देश्य से प्रेरित होकर लोककल्याण की इच्छा रखने वाले व्यास ने पुराणों के साथ आख्यानादि विषयों का संयोजन किया।

वेद और सूत्रा ग्रन्थों में शुनःशेप, सौपर्ण आदि की कथायें, आख्यान कहे गये हैं। बृहद्रथ आदि के चरित उपाख्यान कहलाये गये। किसी तत्त्व की प्रतिपादक कथायें या अर्थवादगत कथायें उपाख्यान कहलाती थीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत सी गाथायें आती हैं। कल्प का विषय है धार्मिक अनुष्ठान संबंधी विवरण। टीकाकार श्रीधर, कल्पशुद्धि का अर्थ 'श्राद्धकल्प' लेता है। विद्वान ओझा और चतुर्वेदी उसमें धर्मशास्त्राीय विषयों का अंतर्भाव करते हैं। शुद्धि छः प्रकार की मानी गयी है– 1)मल, 2)स्पर्श, 3)अघ, 4)एनः, 5)मनः। कुछ भी हो, इन चारों में वैदिक विषयों (कला, कर्मकाण्ड, नक्षत्रा, वैतान, संहिता विधान, आंगिर सकल्प, शान्ति) की अधिकता थी।

इनका समावेश होने के बाद व्यास परंपरा में पुराणों का प्रवचन होने लगा और वे वेदप्रामाण्यवादी समाज में प्रतिष्ठा पा चुके।

व्यास काल से ही ऐतिहासिक सामग्री पुराणों में समाविष्ट होने लगी। इतिहास आख्यान–पुराण–धर्मशास्त्रा आदि पूर्वकालीन पृथक विषयों को कालानुसार प्रयोजनारूप समाविष्ट करके बृहदाकार पुराणों की रचना हुई।

उपबृंहण का अच्छा निदर्शन है सरस्वती देवी की वैदिक और पौराणिक संकल्पना। सरस्वती की व्युत्पत्ति इस तरह बताई जाती है– ''सृ गतौ, उणादि असुन् + वतुप् + ङीष्।''

वैदिक सरस्वती की कुछ कल्पना कुछ सूक्तों में आती है–

''चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती।।'' (Rv.I.3.11)।
''अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वतीति।
अप्रशस्ता इव स्मासि प्रशास्तिमम्ब नस्कृधि।।'' (Rv.41.16)।
''इन्द्रो नेदिष्ठमवसागामिष्ठः सरस्वती सिन्धुभिः पिन्वमाना।
पर्जन्यो न ओषधीभिर्मयोभुरग्निः सुशंसः सुहृः पितेव।।'' (ऋ. VI.52.6)।

सरस्वती के विशेषणों की एक तालिका यहाँ दी जा रही है, जिससे यह पता चलेगा कि सरस्वती की किन विशेषताओं को वेदों तथा पुराणों ने निर्दिष्ट किया है–

वैदिक – ऋतावरी, पावका, घृताची, हिरण्यावर्तनी, वृत्राघ्नी, असुर्या, ...रावतघ्नी, धरुणमायसी पूः, नदीतमा, देवितमा, तन्यतुः, आप्रुषी, बृहती, द्वयाना, शुचिः, रायायुजा, वाजिनीवती, सप्तस्वसा सुप्तधातुः, सप्तधी, त्रिषधस्था, मरुत्सखा, सुभगा, वीरपत्नी, वृष्णःपत्नी, प्रियतमा, मरुत्वती, भद्रा, पानीखी, भयोभूः, अम्बितमा, सिन्धुमाता।

पौराणिक – ब्रह्मयोनि (मार्क. 23/30), जगद्धात्री (वही), ब्रह्मवासिनी (मत्स्य. 66.11), शब्दवासिनी (पद्म. 5,22,186), श्रुतिलक्षणा (स्कन्द 7.37.22), ब्रह्मसदृशी (मत्स्य. 261.24), सर्वजिह्वा (मार्क. 23.57), विष्णोर्जिह्वा (मार्क. 23.48), रसना (स्कन्द 6.46.29), परमेश्वरी (स्कन्द 6.46.39), ब्रह्मवादिनी (मत्स्य. 4.24), भाषा, अक्षरा, स्वरा, गिरा, भारती (स्कन्द. 6. 46.266), वाग्देवता (ब्र.वै. 2.4.79), वाग्वादिनी (ब्र.वै. 2.4.75), विद्याधिष्ठात्री (ब्र.वै. 2.4. 75), विद्यास्वरूपा (ब्र.वै.2.4.78), सर्ववर्णात्मिका (ब्र.वै.2.4.79), सर्वकण्ठवासिनी (ब्र.वै. 2.4. 80), जिह्वाग्रवासिनी, बुधजननी (2.4.81), कविजिह्वाग्रवासिनी (2.4.83), सदम्बिका (2.4. 13), गद्यपद्यवासिनी, सर्वशास्त्रावासिनी (2.4.84), पुस्तकवासिनी (2.4.84), ग्रन्थबीजरूपा, ब्रह्मस्वरूपा (2.5.10), ज्ञानाधिदेवी (2.5.11)।

''नमस्ते शारदे देवी काश्मीर पुरवासिनी।
सर्वसङ्गतिसन्धानतालकारणरूपिणी।। (स्कन्द.)

विशेषणों के विश्लेषण से पता चलता है कि सरस्वती के विशेषणों के पाँच वर्ग हो सकते हैं–

1) वाक्सम्बद्ध, 2) मनोधर्म सम्बद्ध,
3) ज्ञानसम्बद्ध, 4) वैश्विक अंग–सम्बद्ध,
5) ब्रह्मसम्बद्ध।

डॉ. आनन्दचन्द्र गुप्ता ने छः वर्ग बताये हैं (PUR|| I.1962) – Attributes related to speech; to Mental Faculties and Functions; to Knoledge and Learning; to Cosmic aspects; to Divine aspects; Miscallaneous like कीर्ति, निद्रा, क्षुधा।

सर्वप्रथम कविता की देवी सूर्या मानी जाती थी। परंतु बाद में उसका कविता से तादात्म्य हो गया तथा सरस्वती कविता की देवी बन गई।

रॉथ ने सरस्वती के नाम से सिन्धु को लिया है। पंजाब में बहने वाली नदियों में वह सातवीं हो सकती है।

(ऋ.7,36.6), ऐ.ब्रा. (3.77) में कहा है– ''वाग्वै सरस्वती पावी रवी।।'' 'पावीरवी' का अर्थ 'विद्युत्ध्वनि' हो सकता है। कुछ समीक्षकों का कहना है कि यह 'पावी रवी' शब्द, माध्यमिका वाक् को विद्युत्सुता मानकर उसका एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक एवं प्राकृतिक विवेचन करता है।

पुराणों में सरस्वती की उत्पत्ति की कथा आती है। (उदा. ब्रह्मवैवर्त. 2.7.1–3) –

''भारती भारतं गत्वा ब्राह्मी च ब्रह्मणः प्रिया।
वागाधिष्ठात्राी सा तेन वाणी च कीर्तिता।।
सर्व विश्वं परिव्याप्य स्रोतस्येव हि दृश्यते।
हरिः सरःसु तस्येयं तेन नाम्ना सरस्वती।।''

इस सरस्वती नदी और वाग्देवता के रूप में विस्तार पाकर सरस्वती सर्वत्रा पूज्य देवी हो गयी।

कुछ प्रसिद्ध मन्त्राों की पुराणों ने व्याख्या की है और उनके अर्थ युगचिन्तन के अनुसार परिवर्तित कर दिये हैं। उदाहरणार्थ–

1. 'विष्णोर्वीर्याणि प्रवोचम्।' (भागवत. 27.40) ,
2. 'ईशावास्यमिदं सर्वम्।' (भागवत. 2.1.10) ,
3. 'द्वा सुपर्णा सयुजा।' (भागवत. X- 11.6, वायु. IX- 1.19) ,
4. गायत्री मन्त्रा (अग्नि. 203, 1–18) ,
5. मुण्डकोपनिषद् का अग्नि की सात जिह्वाओं का वर्णन (मार्कण्डेय.99.52–58)
6. चत्वारि श्रृंगाः (मीमांसा I-2.44, गोपथ ब्रा. I-2.16, स्कन्दपु. काशी. 93.93–96 : शिवपरक, भागवत 8.16.31 यज्ञपरक)।
7. त्रायम्बकं यजामहे (लिङ्गपु. I- 35.16.35, II- 34.17–31)।

पुराणों के पाँच लक्षण इस प्रकार हैं –

1. ''अव्याकृतगुणक्षोभात् महतास्त्रिावृतोऽहमः।
   भूतमात्रोन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते।।'' (भागवत)
2. ''नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः।
   संस्थेती कविभिः प्रोक्ता चतुर्थाऽस्य स्वभावतः।।''
3. ''राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रौकालिकोऽन्वयः।।''
4. ''मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
   ऋषयोऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते।।''
5. ''वंश्यानुचरितं तेषां वृतं वंशाधराश्च ये।।''

<u>कौटिल्य</u> – ''सृष्टिप्रवृतिसंहार धर्म मोक्षप्रयोजनम्।
ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं प×चलक्षणम्।।''

''ऋषीत्येव गतौ धातुः धुतौ सत्ये तपस्यथ।
एतत् संनियतस्तास्मिन् ब्राह्मणा स ऋषिः स्मृतः।।'' (वायु. 59–79)

इस तरह के और भी उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अब यह बात स्पष्ट हुई होगी कि वैदिक ऋचाओं का विशेष अर्थ प्रकट करने तथा वैदिक देवताओं का

पौराणिक देवताओं से अनुसन्धान दिखाकर पुराणों ने कितना अभूतपूर्व कार्य किया है। यूँ कहा जा सकता है कि वेदों के पहले भाष्यग्रन्थ पुराण ही थे। वेदों में निहित गूढार्थ को पुराण रचयिताओं ने जनसामान्य के लिये स्पष्ट किया और इस तरह उन्होंने अपने मानवीय दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया।

इति

समदृष्टि, शैवमत और 'कौलोपनिषद्'

बजरंग बिहारी तिवारी

पारंपरिक भारतीय जीवन–दर्शन या धर्म–दर्शन को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है– निगम, आगम और तंत्रा। श्रेणीबद्ध करने का आशय यह न समझा जाए कि इनमें परस्पर कोई पदानुक्रम है।[1] किसी श्रेणी को श्रेष्ठ या किसी को उससे कमतर नहीं माना जा सकता। निगम के अंतर्गत वेद और वैदिक परंपरायें आती हैं, हो सकता है कि शुरू में वेद की कोई एक परंपरा रही हो, परंतु कालांतर में हम उसकी बहुत सी धाराएँ बनती देखते हैं। इनमें आपस में कुछ बिंदुओं पर अगर सहमति है, तो कुछ पर तीखा विरोध भी। एक दूसरे से लड़ते–झगड़ते ही ये आगे बढ़ती हैं, रूपांतरित होती हैं। आगम के अंतर्गत बौद्ध, जैन और लोकायत को गिना जा सकता है। तीसरी श्रेणी तंत्रा की है, जिसका दायरा उक्त दोनों से कहीं अधिक विस्तृत और जटिल है। छठी–सातवीं शताब्दी तक आते–आते निगम और आगम दोनों का अधिकांश तंत्रा के प्रभाव में आ जाता है और उनके अपने तांत्रिक संप्रदाय बन जाते हैं। इतिहासकार रामशरण शर्मा ने 'तंत्रा' के उद्भव पर विचार किया है। उनका अध्ययन तंत्रा–दृष्टि को समझने में हमारी थोड़ी दूर तक सहायता तो करता है, मगर आर्थिक पहलू को मानदंड बना लेने की वजह से वह इस दृष्टि में निहित जटिलता का संकेत नहीं कर पाता[2]। तंत्रा की जो विविध धारायें विकसित हुईं, उनमें एक तरफ़ तो पांचरात (वैष्णव तंत्रा), शैव तंत्रा और शाक्य तंत्रा हैं, तो दूसरी तरफ़ सिद्धयान (सहज यान), तंत्रायान (मंत्रायान) ये दोनों ही बौद्ध तंत्रा हैं; और जैनतंत्रा हैं। कई बार विद्वान सिद्धयान और तंत्रायान को एक मान लेते हैं। अधिकांश इतिहास–ग्रन्थों में ऐसा ही लिखा मिलता है। यह सही है कि सिद्धयान पहले का है और तंत्रा या मंत्रायान बाद का। सिद्धाचार्य सहजयानी थे, जबकि मंत्रायानी विद्रोही चिंतन से दूर, शरीर साधना को ही सर्वस्व समझने वाले।[3] तांत्रिक जैनमत विक्रम की छठी शताब्दी से ज़्यादा प्रबल होता है।[4] जैन मांत्रिकों और मंत्रा सिद्धाचार्यों ने अपने तंत्रावाद का जो वितान खड़ा किया, वह विक्रम की बारहवीं शताब्दी तक आते–आते तंत्रा की विशाल धारा का हिस्सा बन जाता है और अपनी स्वतंत्रा पहचान की परवाह नहीं करता।

भारतीय दर्शन और कश्मीर शैवमत के मूर्धन्य विद्वान डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी ऊपर विवेचित तीन श्रेणियों की बजाय दो ही श्रेणियाँ मानते हैं– निगम और आगम। तंत्रा,

---

[1] तंत्रागम के अधिकारी विद्वान प्रो. ब्रजवल्लभ द्विवेदी से बातचीत के आधार पर। यह बातचीत उनके आवास (वाराणसी) पर दिनांक 20.04.06 को हुई। लेखक उनके प्रति आभार व्यक्त करता है।

[2] रामशरण शर्मा, पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, प्र.सं.1996, अध्याय नौ 'तंत्रा–संप्रदाय की समाजार्थिक पृष्ठभूमि' द्रष्टव्य।

[3] इस विषय से संबंधित अधिकांश ग्रंथों में ऐसा विवेक नहीं मिलता। अपने प्रसिद्ध शोध–प्रबंध 'सिद्ध–साहित्य' में धर्मवीर भारती ने दोनों का घालमेल किया है। देखें, सं.चंद्रकांत बांदिवडेकर, धर्मवीर भारती ग्रंथावली, खंड नौ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.1998। प्रस्तुत प्रश्न पर मैंने अन्यत्रा किंचित विस्तार से विचार किया है, देखें, 'व्यक्तिसत्ता, समुदाय और दलित–विमर्श', तद्भव–12, लखनऊ।

[4] डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय, मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि, साहित्य भवन, प्रा.लि., इलाहाबाद, प्र.सं. 1963 ई.। देखें परिशिष्ट– तांत्रिक जैनमत।

यामल, संहिता को वे आगम का पर्याय बताते हैं।[5] उनकी मान्यता निराधार नहीं है, लेकिन उसे स्वीकार करने का अर्थ होगा कि हम उस महत्त्वपूर्ण फर्क पर पर्दा डाल देंगे, जो वैदिक मत और वैष्णव तंत्रा के बीच है या प्रारंभिक बौद्ध–चिंतन और सिद्धयान या मंत्रायान के मध्य है। आगम शब्द की अर्थ–व्याप्ति को देखते हुए, उसमें जो कुछ वैदिकेतर है, सबको अंतर्भुक्त किया जा सकता है। लेकिन, तब उस तंत्रा–दृष्टि के साथ थोड़ी नाइंसाफ़ी ज़रूर होगी, जिसने निगम और आगम से अलग एक तीसरी साधना अथवा जीवन–पद्धति प्रस्तावित की थी।

'संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः' का ख़याल कर हम सीधे अपने विषय शैवमत पर आयें। इस शैवमत की भी अनेक धारायें दिखायी देती हैं। भौगोलिकता के हिसाब से इसके तीन महत्वपूर्ण क्षेत्रा हैं– काश्मीर, पश्चिम और मध्य भारत तथा दक्षिण भारत। काश्मीर शैवमत को अद्वैतवादी कहा गया। तंत्राालोककार अभिनवगुप्त इसमें अंतर्भूत चार संप्रदायों की चर्चा करते हैं– त्रिाक, क्रम, प्रत्यभिज्ञा और स्पंद।[6] 'कुल–प्रक्रिया' इससे भिन्न है, जिसके अंतर्गत पाँचवे संप्रदाय 'कुल' की गणना होती है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद से शैव अद्वैतवाद की भिन्नता का रेखांकन आवश्यक है। शंकर का मत या भाष्य श्रुति–प्रामाण्य पर आधारित है, वह अपनी वैधता वेदों से हासिल करता है, लेकिन शैवागम के लिये श्रुति–प्रामाण्य का कोई मतलब नहीं। शंकर का अद्वैतवाद, इसीलिये कर्म–विद्या और ब्रह्म–विद्या में शूद्र का अधिकार नहीं मानता, जबकि आगम सार्ववर्णिक है। शैव और शांकर, दोनों के अद्वैत भाव को स्पष्ट करते हुए डॉ. रामचंद्र द्विवेदी ने लिखा है– ''वेदांत में आत्मरूप अहं की प्रतीति इदं के विरोधी प्रत्यय के रूप में है, त्रिाक दर्शन में यह प्रतीति इदं को आत्मरूपतया देखने–अनुभव करने में है। एक का आधार 'नेति–नेति' है, तो दूसरे का 'जित देखो तित लाल'।[7] पश्चिम और मध्य भारत में शैवमत गोरखपंथ या नाथ संप्रदाय के रूप में फैला। गोरखपंथ आचार–प्रधान ज़्यादा है, चिंतन–प्रधान कम। उसकी पहचान बहुत–कुछ उसके धज, भेस से की जाती है, दर्शन से नहीं। यह शायद मध्य–देश की 'उर्वरता–विशेष' के कारण हो। दक्षिण शैवमत के अंतर्गत महत्वपूर्ण धारायें हैं– कापालिक, कालमुख, पाशुपत और वीर शैव या लिंगायत। इनकी पहचान बहुधा इनके चिंतन या भेस के कारण नहीं, स्वभावगत उग्रता या आक्रामकता के कारण होती है। इनको मिले अभिधान इसी का संकेत करते हैं। इनका उग्र विरोध जगजाहिर था इसलिये अपनी विजय–यात्राा के दौरान शंकराचार्य ने कापलिकों से कोई तर्क–वितर्क नहीं किया। उन्होंने उनको कोड़े लगवाये और दंडित करवाया।[8] 'शंकर दिग्विजय' के लेखक माधवाचार्य (विद्यारण्य) ने पंद्रहवें सर्ग में लिखा है कि जब आचार्य शंकर कर्नाटक जाने की तैयारी कर रहे थे, तो विदर्भ के राजा ने उन्हें रोका और कहा कि वहाँ कापटिकों ने कपट का जाल बिछा रखा है। वह आपके जाने लायक देश नहीं है – 'भगवन् बहुभिः कापालिजालैः स हि देशो भवतामगम्यरूपः'।

---

[5] रामचंद्र द्विवेदी, काश्मीर की शैव परम्परा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्र.सं. 1990, पृ.1।

[6] नवजीवन रस्तोगी, काश्मीर शैवदर्शन : आधारभूत अवधारणा और प्रतिमानक के रूप में प्रत्यभिज्ञा की भूमिका (लेख), सं.–यशदेव शल्य, मुकुन्द लाठ, 'उन्मीलन' पत्रिाका, जनवरी, 2005, पृ.13।

[7] काश्मीर की शैव परंपरा, पृ.37।

[8] सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग : 4–5, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, द्वि.सं. 1989, पृ.399।

ये लोग वेद से बड़ी ईर्ष्या करते हैं, इसलिये आपके यश को सह नहीं सकते – 'न हि ते भगवद्यशः सहन्ते न हि तेर्ष्याः श्रुतिषु'।[9] कर्नाटक प्रांत में अद्वैतवादियों और कापलिकों के मध्य संघर्ष हुआ। शंकर के अनुयायी राजा सुन्धवा ने ''अपने बाणों से प्रतिपक्षियों के सहस्रों सिरों को काटकर उस रणभूमि को मानो कमलों से सुशोभित कर दिया।[10] दक्षिणी शैवमत की सभी धाराओं में परवर्ती वीर शैव धारा का प्रवर्त्तक बसव ग़ैर–शैवों से अपनी लड़ाइयों के कारण जाना जाता है। वीर शैव मत का प्रतिपादन करने वाली किताब 'सिद्धान्त–शिखामणि' (अनुमानतः तेरहवीं शताब्दी) बसव का मत प्रस्तुत करती है। बसव का मानना है कि शिवनिंदा असह्य है। निंदा करने वाले को मार डाला जाय, शाप दे दिया जाय अथवा अक्षम होने की दिशा में वह स्थान ही छोड़ दिया जाय – 'शिवनिन्दा–करंदृष्ट्वा द्यातयेनथवा शपेत्, स्थानं वा तत् परित्यज्य गच्छेद्यदि अक्षमो भवेत्।।''[11]

इससे बिलकुल भिन्न काश्मीर शैवागम है। अभिनवगुप्त (तंत्रालोक35,36) बजरिये स्वच्छंद तंत्रा, किसी भी शास्त्रा की निंदा न करने की सलाह देते हैं। न अन्य तांत्रिाक संप्रदायों को और न वेद की, क्योंकि ये सब शिव से ही उद्‌भूत हैं– ''सांख्यं योगं पांचरात्रां वेदांश्चैव न निन्दयेत्। यतः शिवोद्‌भवाः सर्व इति स्वच्छन्द शासने।।'' हालाँकि, यह कहने की ज़रूरत नहीं कि अपनी इस सदेच्छा के साथ वे शैवतंत्रा को सबसे ऊपर रखते हैं। अप्पय दीक्षित ने 'शिवतत्त्व विवेक' में अन्य आगमों की अपेक्षा शैवागमों को श्रेष्ठ बताया– ''शैवागमनामेव सर्वागमेभयो बलवत्तर व्यवस्थितेः।''[12] काश्मीर शिवाद्वयवाद का विस्तृत विवेचन सबसे पहले 'शिवदृष्टि' नामक ग्रंथ में मिलता है। इसके रचयिता मुनि सोमानंद (नवम शती का अंतिम भाग) थे। सोमानंद के प्रमुख शिष्य उत्पलदेव ने 'ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा' लिखकर इस चिंतनधारा की विधिवत स्थापना की। उत्पलदेव ने कहा कि 'शिवदृष्टि' में उनके महागुरु ने जो भी कुछ बताया है, उसी नवीन मार्ग को उन्होंने प्रकट किया है– ''इति प्रकटितो मया सुघट एवं मार्गो नवो। महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रो यथा।'' उत्पलदेव के शिष्यों में लक्ष्मणगुप्त ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने साधना–प्रधान और तर्क–प्रधान दोनों धाराओं का समन्वय किया था। आचार्य अभिनवगुप्त इन्हीं के शिष्य थे। अभिनवगुप्त (दसवीं सदी ई.) ने अनेक ग्रन्थ लिखे। उनकी 'लोचनटीका', ('ध्वन्यालोक' पर) तथा 'अभिनव भारती' ('नाट्यशास्त्रा' पर) साहित्यशास्त्रा की दुनिया में अत्यंत समादृत हैं। शैवसिद्धान्त और साधना का विश्वकोश है, उनके द्वारा रचित – 'तंत्रालोक'। इस प्रकार सोमानंद, उत्पल और अभिनवगुप्त काश्मीर शैवदर्शन की मुनित्रायी है। बाद में अनेक शैव साधकों, दार्शनिकों ने इस परंपरा को अपनी सामर्थ्य के अनुसार आगे बढ़ाया। बारहवीं सदी के जयरथ ने 'तंत्रालोक' पर 'विवेक–टीका' का प्रणयन किया। आज हमारे पास 'तंत्रालोक' को समझने के लिये 'विवेक–टीका' से बेहतर और कोई साधन नहीं।

---

[9] माधवाचार्य, अनु. पं.बलदेव उपाध्याय, 'श्री शंकर दिग्विजय', प्रकाशक–महंत नरोत्तम गिरी, श्री श्रवणनाथ ज्ञान मंदिर, हरिद्वार, तृ.सं., 2042 वि., सर्ग–15, पृ.488।

[10] वही, पृ.489।

[11] भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग : 4–5, पृ.434, फुटनोट से उद्धृत। यह श्लोक मूलतः 'सिद्धान्त शिखामणि', अध्याय–9, पद्य–26 से है।

[12] काश्मीर की शैव परम्परा, पृ.9।

जैसा पहले लिखा गया है, कौल संप्रदाय अभिनवगुप्त द्वारा विवेचित और निर्दिष्ट शैवमत का पाँचवाँ संप्रदाय है। अपने ग्रंथ (तंत्रालोक) के प्रथम आह्निक में कौलमत की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने लिखा–

''वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद्वामं च दक्षिणम्। दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात्परतरं नहि।।''[13]

वेद आदि से श्रेष्ठ शैव–शास्त्र हैं। शैव में भी वाम और दक्षिण तथा दक्षिण से भी कौलमतवाद श्रेष्ठ है। कौलमत से श्रेष्ठ कोई है ही नहीं।

अभिनवगुप्त के इस कथन की व्याख्या करते हुए टीकाकार जयरथ कहते हैं– ''इस उक्ति में क्रमशः मतवादों की श्रेष्ठता बताई गई है, यह बात ठीक नहीं। (शंका–समाधान करते हुए जयरथ ने लिखा कि) यहाँ बुराई या हीनता प्रदर्शित करना लक्ष्य नहीं है, वरन् यह देखना है कि परम पद की प्राप्ति में कौन शास्त्रा साक्षात् उपाय है। उसकी उत्कृष्टता साक्षात् उपाय होने के कारण है।''[14] उक्त श्लोक में आया 'दक्षिण' शब्द दक्षिण मार्ग है, जिसका अर्थ शिव से उद्भूत शास्त्रों से है, जबकि कौलमत, त्रिाकमत आदि भैरव से उत्पन्न हैं।[15]

'नाथ संप्रदाय' नामक अपने महत्वपूर्ण शोध–प्रबंध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गोरखपंथ पर विचार के क्रम में कौल संप्रदाय पर अपेक्षाकृत विस्तार से विचार किया है। 'कौल ज्ञान निर्णय' शीर्षक ग्रंथ का उल्लेख करते हुए उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ को कौल मार्ग का प्रथम प्रवर्तक बताया है।[16] कुल और अकुल शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं– ''कौल लोगों के मत से 'कुल' का अर्थ शक्ति है और 'अकुल' का अर्थ शिव है। कुल से अकुल का संबंध–स्थापन ही 'कौल मार्ग' है। इसलिए, कुल और अकुल को मिलाकर समरस बनाना ही कौलसाधना का लक्ष्य है और 'कुल' और 'अकुल' का सामरस्य (सामरस होना) ही कौल ज्ञान है।''[17] शिव को अकुल इसलिये कहा गया कि उनका कोई कुल–गोत्रा नहीं है। इस कौलमार्ग का संक्षेप में, किंतु अत्यंत रोचक और प्रभावशाली परिचय 'कौलोपनिषद्' में प्राप्त होता है। द्विवेदी जी ने इस रचना की महत्त्वपूर्ण बातों को सार रूप में अपने प्रबंध में दे दिया है।[18] इसे पढ़कर मन में अनेक जिज्ञासायें पैदा होती हैं। कई प्रश्नों के समाधान भी संकेतित होते हैं। धर्म–संप्रदायों के निर्माण में किन बातों का ध्यान रखा जाता था, उसे बनाये–बचाये रखने में कैसी चौकसी बरती जाती थी तथा अन्य संप्रदायों के साथ कैसा रिश्ता कायम किया जाता था– आदि प्रश्नों के उत्तर 'कौलोपनिषद्' से हासिल किये जा सकते हैं। तंत्रागम की चिंतन–पद्धति का यह प्रतिनिधि उदाहरण है। द्विवेदी जी ने इस रचना का सविस्तार उल्लेख करके मध्यकालीन साहित्य–संस्कृति के अध्येताओं का निश्चित ही उपकार किया है। खेद की बात है कि बाद में किसी विद्वान आलोचक ने इस पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया, हालाँकि भक्तिकाल पर शोध–प्रबंध लिखे जाते रहे, विद्वतापूर्ण

---

[13] अभिनवगुप्त पादाचार्य, सं.डा. परमहंस मिश्र 'हंस', 'श्री तन्त्रालोक प्रथमोभागः', वाराणसी, द्वि.सं. 2000, प्रथम आह्निक, पृ.57।

[14] वही , पृ.58।

[15] मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि, पृ.240, पाद टिप्पणी से।

[16] हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग–6, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना, पं.सं. 1981, पृ.70।

[17] वही, पृ.74–75।

[18] वही, पृ.76।

आलोचना–ग्रंथों का प्रकाशन होता रहा। द्विवेदी जी द्वारा 'कौलोपनिषद्' के परिचय से यह पता नहीं चलता कि इस ग्रंथ का रचयिता कौन है, रचना का समय क्या है और इस सूत्रा–शैली वाले ग्रंथ की क्या कोई टीका आदि लिखी गई है? अपने शोध–प्रबंध के अंत में द्विवेदी जी ने सहायक ग्रंथों की सूची दी है। हिन्दी में सुव्यवस्थित ग्रंथ–सूची पेश करने का चलन कम ही है। द्विवेदी जी द्वारा दी गयी सूची से यह पता नहीं चलता कि 'कौलोपनिषद्' उन्हें किस रूप में मिला, हस्तलिखित या प्रकाशित रूप में? संदर्भ–सूची में इस ग्रंथ का उल्लेख ही नहीं है। संबंधित अध्याय में भी ग्रंथ के प्रकाशन या प्राप्ति से जुड़ी कोई जानकारी नहीं है। जिज्ञासावश, प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने जब खोजबीन की, तो उसे यह रचना तंत्राशास्त्रा के अधिकारी विद्वान, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के उपाचार्य शीतलाप्रसाद उपाध्याय जी से प्राप्त हुई। 'श्री ललिता महात्रिपुरसुन्दरी, महायागक्रमः' शीर्षक ग्रंथ में शामिल होकर यह संस्कृत कालेज, बंगलौर से 1965 में प्रकाशित हुई है।

संभव है, अन्य जगहों से यह रचना छपी हो, किंतु लेखक को किसी अन्य संस्करण का पता नहीं चला। उत्तर–मध्यकाल के आगम शास्त्रा के प्रकांड विद्वान भास्कर राय दीक्षित, (सन् 1675–1750ई.) ने 'कौलोपनिषद्' का भाष्य लिखा था। लेखक को प्राप्त रचना इस भाष्य के साथ ही है। भाष्य संस्कृत में है। आचार्य बटुकनाथ शास्त्राी खिस्ते द्वारा संपादित और संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा 1993 में प्रकाशित 'भास्कर राय भारती दीक्षित : व्यक्तिव्य एवं कृतित्त्व' नामक ग्रंथ में भास्कर राय जी के भाष्य को हिंदी में समझा गया है। पाठकों के ज्ञान–रंजन के लिये मैं यहाँ इसी की पुनर्प्रस्तुति कर रहा हूँ। इस पुनर्प्रस्तुति में मैं यत्रा–तत्रा अपनी तरफ़ से भी कुछ जोड़ूँगा।

उपनिषद् की शुरुआती पंक्ति है :

'ओं शन्नः कौलिकः शन्नो वारुणी शन्नश्शुद्धिः शन्नोग्निश्शन्नस्सर्वं समभवत्',

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य भास्कर राय कहते हैं– कौलिक अर्थात् कुलमार्ग प्रवर्तक परशिव विघ्न निराकरण कर स्वात्मानंद–प्राप्ति हमें प्रदान करें। इसी प्रकार, प्रथमाभिमानिनी महती वारुणी कल्याण करें। द्वितीयाभिमानिनी शुद्धि मंगल करें। अग्नि प्रभृति सभी तेज मंगल करें। किंबहुना सभी सुखदायी हों।[19]

इसके बाद शांतिपाठ का मंत्रा है। इसमें 'कौलोपनिषद्' को अनुभवगोचर ब्रह्म किंवा त्रिपुरसुंदरी से अभिन्न कहा गया है। अगला सूत्रा है–

अथातो धर्मजिज्ञासा।।

'अथ' शब्द का अर्थ है– 'पश्चात्'। यहाँ यह शब्द 'धर्मिज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान के अनंतर' का द्योतक है। यह कि ब्रह्मज्ञान के बाद अब धर्म या कि 'विमर्श–शक्ति' का विचार होगा। विचार की यह दार्शनिक शैली है। तत्त्ववेत्ता प्राचीन आचार्य ग्रंथ का प्रारंभ मंगलाचरण श्लोक से न करके 'अथ' शब्द से करते थे। इस शब्द को ओंकार के समान पवित्रा और मंगलवाचक माना जाता था। 'अथ' शब्द के पश्चात् अधिकारसूचक

---

[19] भास्कराचार्य, श्री कौलोपनिषद् भाष्यञ्च, श्री ललिता महात्रिपुरसुन्दरी महायाग क्रमः, संस्कृत कॉलेज, बंगलौर, 1956, पृ.45; सं. आचार्य बटुकनाथ शास्त्राी खिस्ते, भास्कर राय भारती दीक्षित : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी,1993, पृ.44, कौलोपनिषद् व्याख्या।

'अतः' शब्द हुआ करता है।[20] काव्य–विद्या या साहित्यशास्त्रा को प्राचीन व समादृत कोटि में लाने के लिये राजेश्वर ने 'काव्य–मीमांसा' में यही दार्शनिक शैली अपनाई है– 'अथातः काव्यं मीमांसयिष्यामहे।' यहाँ 'अथ' का तात्पर्य है– बिद्धशालभंजिका, बालभारत आदि रचनाओं के सृजन के पश्चात् अब काव्य की मीमांसा करते हैं।[21]

ज्ञानं बुद्धिश्च ज्ञानं माक्षैककारणं मोक्षस्सर्वात्मतासिद्धिः।।

ज्ञान शब्द का अर्थ है ब्रह्म का अपरोक्ष अनुभव। बुद्धि उसे कहा गया, जो उस ज्ञान का जनक परोक्ष ज्ञान है। एकमात्रा ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। मोक्ष है सर्वात्मता सिद्धि– समस्त जागतिक प्रपंचों के साथ अपने को अभिन्न समझना,[22] सर्वत्रा अखंड आत्माभेद की प्रतीति।[23]

प×च विषयाः प्रप×चः।।

प्रपंच के पाँच विषय हैं– शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध। पंच शब्द, पाँच भूतों (क्षितिजलपावकादि) को द्योतक है। इस सृष्टि में पंचभूतों से इतर कुछ भी नहीं है। 'योगवासिष्ठ' का कथन है– 'सर्वत्रा प×चभूतानि षष्ठं कि×चन्न विद्यते।'[24]

तेषां ज्ञानिस्वरूपाः।।

इन पाँच विषयों को जानने वाला प्राण–विशिष्ट जीव भी अभिन्न ही है।[25]

योगे मोक्षः।।

योग शब्द का अर्थ वृत्तियों का निरोध और मोक्ष दोनों है।[26] योग और मोक्ष दोनों ज्ञान हैं।[27]

अधर्मकारणाज्ञानमेव ज्ञानम्।।

अधर्म के कारण का अज्ञान ही ज्ञान है। यहाँ धर्मरहित परब्रह्म 'अधर्म' शब्द से अभिहित है। विषय, जीव, योग, मुक्ति और अविद्या– ये सभी ज्ञानरूप हैं। सभी मूलभूत शक्ति के प्रकार हैं, अतः उससे पृथक् मानना उचित नहीं। 'भेद' ज्ञान ही, वस्तुतः, मिथ्या है।[28]

प्रप×च एवेश्वरः।। अनित्यं नित्यम्।।

प्रपंच ही ईश्वर है। अनित्य ही नित्य है। ये ब्रह्मशक्ति के रूप हैं।

अज्ञानं ज्ञानम्।। अधर्म एव धर्मः।। एष मोक्षः।।

अज्ञान ही ज्ञान है। अधर्म ही धर्म। यही मुक्ति है। भास्कर राय की व्याख्या के अनुसार शक्तिरूप धर्म का आधार अधर्म (धार्मिरूप) ब्रह्म ही है।[29]

---

[20] राजशेखर, अनु. केदारनाथ शर्मा सारस्वत, 'काव्य मीमांसा' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्र.सं.1954, भूमिका से, पृ.26। 'ब्रह्मसूत्रा' पर अपने भाष्य में श्रीकंठ 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' की व्याख्या करते हुए 'अथ' शब्द के अर्थ पर लंबा तर्क उपस्थित करते हैं, देखें, 'भारतीय दर्शन का इतिहास' भाग 4–5, पृ.456।

[21] वही, पृ.3।

[22] भास्कर राय भारती दीक्षित, कौलोपनिषद्–व्याख्या, पृ.45 तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली–6, पृ.76।

[23] भास्कर राय भारती दीक्षित, पृ.45।

[24] वही, पृ.45; श्री कौलोपनिषद् भाष्यत्र्च, पृ.46।

[25] द्विवेदी ग्रंथावली, पृ.76।

[26] भास्कर राय भारती दीक्षित, पृ.45।

[27] द्विवेदी ग्रंथावली, पृ.76।

[28] भास्कर राय दीक्षित, पृ.45।

[29] वही।

प×चबन्धाः ज्ञानस्वरूपाः

पाँच बंधन ज्ञान स्वरूप हैं, भास्कर राय इन पाँच बंधनों को इस प्रकार गिनाते हैं– अनात्मा में आत्मबुद्धि, आत्मा में अनात्म बुद्धि, जीवों का परस्पर भेद, ईश्वर से भेद, चैतन्य से भेद।[30]

पिण्डाज्जननम्

इन संबंधों के कारण पिण्डांड संबंध ही जनन(जन्म) है।

तत्रौव मोक्षः

मोक्ष उसी पिंडांड में होता है।

एतद् ज्ञानम्।। सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानं।।

ज्ञान यह है कि सभी इंद्रियों में नयन प्रधान हैं। द्विवेदी जी 'नयन' का अर्थ आत्मा करते हैं।[31] श्री भास्कर राय 'नयन' की व्युत्पत्ति 'नयनीति नयनम्' के आधार पर 'ब्रह्मं प्रति नयेत', ब्रह्म की ओर ले जावे, अर्थ करते हैं।[32] संकेत है कि सभी इंद्रियों की वृत्तियों में 'ब्रह्मनुधावन' का अनुसंधान करना चाहिये।

धर्मविरुद्धाः कार्याः।। धर्मविहितान कार्याः।।

धर्मविरुद्ध कार्य करें, धर्म विहित कार्य न करें। भाष्यकार के अनुसार, धर्म का अर्थ यहाँ धर्मशास्त्रा से है। अगर धर्मशास्त्रा ज्ञान के अनुसंधान में बाधक लगें, जैसे कि वे लगते ही हैं, तो उनका निःसंकोच परित्याग करना चाहिये। एक स्थूल उदाहरण यह है कि धर्मशास्त्रा ऊँच–नीच/छूत–अछूत/जाति–वर्ण भेद का विधान करते हैं, जबकि कौलमत 'सर्व समो भवेत्' का, सर्वत्रा समदृष्टि का हामी है। ऐसे में धर्मशास्त्राों का नकार ही उचित/अनिवार्य हो जाता है। आचार्य भास्कर ने प्रस्तुत सूत्रा के समर्थन में धर्मशास्त्राकार गौतम और मनु को उद्धृत किया है। गौतम ने चालीस बहिरंग संस्कार और आठ अंतरंग संस्कारों का निरूपण करने के बाद, अंतरंग की शुद्धि के पश्चात् बहिरंगों को अनावश्यक कहा है। मनु भी 'ब्रह्माभ्यास' का विधान करने के बाद शेष धर्मों को महत्त्वरहित कहते हैं।[33]

सर्वं शाम्भवीरूपम्।।

यह भावना करनी चाहिये कि सब कुछ शाम्भवी (शक्ति) का रूप है। विहित आचरण और वर्जित आचरण, दोनों में उपास्य त्रिपुरसुंदरी से अभेद भावना रखनी चाहिये।

आम्नाया न विद्यन्ते।।

आम्नाय अर्थात् वेदादि, इस मार्ग के साधकों के लिये मान्य नहीं हैं। उनके लिये अनुभूति प्रमाण है, वेद नहीं। तंत्रा मत को वेद बाह्य मानने का यही आधार है।[34] लेकिन, ध्यान रखना चाहिये कि तंत्रावाद की सभी धारायें एक सी नहीं रहीं। शैवागम जहाँ समदृष्टि का आग्रही है, वहीं वैष्णवागम या पांचरात्रा क्रमशः वेदवाद की ओर

---

[30] भास्कर राय दीक्षित, पृ.45।
[31] हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, पृ.76।
[32] कौलोपनिषद् भाष्य×च, पृ.48; भास्कर राय भारती दीक्षित, पृ.46।
[33] वही, पृ.46।
[34] मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तांत्रिाक पृष्ठभूमि, पृ.241।

झुकता गया है। भारतीय धर्म–दर्शन के प्रकांड अध्येता सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त की मान्यता है कि ऐसा डर की वजह से हुआ है। मूलतः, वह भी वेद विरोधी मत था– ''प्रतीत होता है कि पांचरात्री अल्पसंख्या में थे, जिन्हें अपने रक्षण का भय रहता था और वैदिक धर्मपरायणी की निंदा करने की हिम्मत नहीं कर सकते थे।''[35] यह भी संभव है कि पांचरात्रा मत वैदिक मत से निकली हुई धारा हो, जो तंत्राागमों के उभार के दौर में भेस बदलकर ब्राह्मण–व्यवस्था की मज़बूती के लिये कार्य कर रही हो। पांचरात्रा मत का एक आधार ग्रंथ है– 'अहिर्बुध्न्यसंहिता'। इसमें साधना के अधिकारी का निर्णय करते समय सवर्ण को ही अर्ह माना गया है और शूद्रों के जिम्मे ब्राह्मणों की सेवा बरकरार रखी गयी है– ''शूद्रः शुश्रूषया तेषां, भगवत्कर्म साधनात्। अरागरोषलोभः संछनैर्याति हरेः पदम्।।''[36] यह ग्रंथ मंत्रामय क्रियाशक्ति में केवल धर्मनिष्ठ ब्राह्मणों को ही अधिकारी कहता है। दूसरी तरफ़, कौलमत की दृष्टि समतावादी है। शिवरूप साधक के लिये सारे पदार्थों में, सारी मानसिक वृत्तियों में, सर्वशास्त्राों और संप्रदायों में, सर्व भावों में पूर्ण समता का भाव आ जाता है– ''समता सर्व भावानां, वृत्तीनां चैव सर्वथः। समता सर्वदृष्टीनां, द्रव्याणां चैव सर्वशः।।''[37]

गुरुरेकः।।

गुरु एक ही होता है। यह सूत्रा बहुत महत्वपूर्ण है। इसका ठीक–ठीक अर्थ तब समझा जा सकता है, जब पूर्वोक्त सूत्रा को ध्यान में रखा जाय – 'आम्नाया न विद्यन्ते'। जब श्रुति प्रमाण नहीं है, तब प्रमाण किसे माना जाये? 'तंत्राालोक' की व्याख्या करते हुए जयरथ इसी प्रश्न का सामना करते हैं। अभिनवगुप्त के ज़रिये उनका उत्तर है– ''ननु एवंविधा श्रुतिर्नकाचिदुपलभ्यत इति किं प्रमाणम्। ननु अत्रा उक्तमेवानेन गुरुपारम्पर्यलक्षणं प्रमाणम्। यदाह–

इत्थं मध्ये विभिन्नं तत्त्रिाकमेव तथा तया।
शास्त्रामस्मद् गुरुगृहे सम्प्रदाय क्रमात्स्थितम्।।''

इस आशंका के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है कि इन तथ्यों की प्रामाणिकता के लिये कोई श्रुति उपलब्ध नहीं है। यहाँ तो गुरु–परंपरा ही सबसे बड़ा प्रमाण है। कहा गया है कि– ''यह त्रिाकमार्ग ही बीच में विकसित मतवादों की विभिन्नता की विभा से विभूषित होकर संप्रदाय क्रम से हमारे गुरुगृहों में अवस्थित है।''[38] स्पष्ट है कि आगम–परंपरा में श्रुति को प्रमाण न मानकर गुरु को प्रमाण माना गया है। श्रुति–परंपरा अपने अनुयायियों से वेद–वचनों के प्रति जैसी अगाध निष्ठा की माँग रखती है, शैवागम वैसी ही निष्ठा गुरु–वचनों के प्रति चाहता है। 'गुरुरेकः' सूत्रा में 'एकः' पर बल है। कौलमत का गुरु ही मान्य है। कुलगुरु के अतिरिक्त अन्य किसी गुरु का आश्रय न लिया जाय। कुलार्णव तंत्रा का स्पष्ट कथन है– ''लब्ध्वा कुलगुरुं सम्यग् न गुर्वन्तरमाश्रयेत्।'' क्योंकि अगर एक से अधिक गुरु होंगे, संप्रदायेतर गुरु बनाये जायेंगे, तो शिष्य–साधक संशयग्रस्त हो जायेगा। 'परशुरामकल्पसूत्रा' का उद्धरण देकर श्री भास्कर राय इसे

---

[35] भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग–3, पृ.17।
[36] मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तांत्रिाक पृष्ठभूमि, पृ.178।
[37] वही, पृ.280।
[38] तंत्राालोक–1, पृ.55।

स्पष्ट करते हैं– ''एकगुरुपास्तिरसंशयः।''[39] गुरु की महिमा वैदिक परंपरा में नहीं है। वहाँ गुरु ज्ञान, साधना और नैतिकता का अंतिम स्रोत नहीं। वह अधिक से अधिक माध्यम है। वेद–शास्त्राों में निहित ज्ञान को जिज्ञासु तक पहुँचाने वाला। प्रमाण उसके वचन नहीं, श्रुति–कथन है। इधर, सिर्फ़ शैवतंत्रा में ही नहीं, सभी तंत्रा–संप्रदायों में गुरु सर्वोच्च है। यह सर्वोच्चता मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के विभिन्न निर्गुण–सगुण संप्रदायों में देखी जा सकती है। पहले, तंत्रा–संप्रदायों में देखी जा सकती है। पहले, तंत्रा–संप्रदायों में पांचरात्रा मत का एक उदाहरण देखें। विशाल पांचरात्रा–साहित्य में तत्त्व–दर्शन का एक आकर–ग्रन्थ 'अहिर्बुध्न्य संहिता' है; तो दूसरा 'जयाष्य संहिता'। 'जयाष्य संहिता' के प्रारंभ में कथा है– अनेक ऋषि गंधमादन पर्वत पर शांडिल्य के पास पहुँचे और उनसे जिज्ञासा की, कि परमतत्त्व किस प्रकार जाना जा सकता है। शांडिल्य उत्तर देते हुए बोले कि यह ज्ञान परम गुह्य और प्राचीन है, यह उन्हीं आस्तिकों को दिया जा सकता है, जिनमें उत्कट गुरु–भक्ति है। सर्वप्रथम, इस ज्ञान का उपदेश श्री विष्णु ने नारद को दिया। भगवान विष्णु ही हमारे प्राप्य हैं और वे शास्त्रा द्वारा ही पाये जा सकते हैं और शास्त्रा गुरु से ही सीखे जा सकते हैं। इसलिये गुरु ही परमतत्त्व की प्राप्ति के लिये मूल एवं प्रथम साधन है, जो शास्त्रा–अध्यापन द्वारा ऐसा ज्ञान कराता है।[40] 'तंत्राालोक' में तो परमतत्त्व शिव और गुरु में अभेद माना गया है। जो गुरु है, वही शिव है और जो शिव है, वही गुरु। दोनों में कोई अंतर नहीं :

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
उभयोरन्तरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च।[41]

सगुण भक्ति संप्रदायों में प्रमुख 'पुष्टिमार्ग' अपने अनुयायियों से मात्रा स्वाचार्य के वचनों में ही निष्ठा रखने की शर्त रखता है– ''स्वाचार्यमात्रा वाक्यैक निष्ठः।''[42]

सर्वैक्यताबुद्धिमन्ते।।

इस चिंतनधारा में निरत साधक अंततः सर्वैक्यताबुद्धि यानी अद्वैतबुद्धि पाता है। ऐसी बुद्धि जो सबमें ऐक्य पाती है, समदृष्टि वाली होती है, द्वैतभाव से मुक्त।

आमन्त्रा सिद्धेः।।

भास्कर राय के भाष्य के अनुसार यह अधिकार–सूत्रा है। इसके आगे आने वाले विषय मन्त्रा–सिद्धि प्राप्त होने तक आवश्यक नियमों की सूचना देंगे। इन नियमों में से किसी एक का भी उल्लंघन करने पर हानि हो सकती है।[43]

मदादिस्त्याज्यः।।

द्विवेदी जी के अनुसार इस सूत्रा का अर्थ है– मंत्रा–सिद्धि से पूर्व वेदादि त्याग करना चाहिये।[44] भास्कर राय का मत है कि मादक द्रव्यों के सेवन से उत्पन्न विकार ही

---

[39] भास्कर राय भारती दीक्षित, पृ.47; श्री कौलोपनिषद् भाष्य×च, पृ.50।
[40] भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग–3, पृ.21।
[41] 'श्री तंत्राालोक प्रथमोभागः', पृ.161।
[42] हरिराय, 'बड़े शिक्षा पत्रा', प्रभाशंकर जयशंकर पाठक, श्री गोपेश्वर जी कृत ब्रजभाषा टीका सहित, जगदीश्वर प्रिंटिंग प्रेस, गिरगांव, मुंबई, च.सं., सन्1936, पृ.228।
[43] भास्कर राय भारती दीक्षित, पृ.47; कौलोपनिषद् भाष्य×च, पृ.50।
[44] द्विवेदी ग्रंथावली–6, पृ.76।

मद है। वह त्याज्य है। 'मदादि' में 'आदि' शब्द से काम–क्रोध–लोभादि षड्वर्ग समझना चाहिये।[45]

प्राकट्यं न कुर्यात्।।

संप्रदाय–बाह्य लोगों के समक्ष अपनी उपासना–पद्धति गुप्त रखनी चाहिये। धर्म–संप्रदायों के निर्माण, विकास और रक्षा को समझने के लिहाज़ से यह सूत्रा बहुत उपयोगी है। जो स्व–सम्प्रदायी नहीं हैं, उनके सामने अपनी पहचान प्रकट करने में ख़तरा होता है। इस ख़तरे के कई रूप हो सकते हैं। वहाँ अपनी सांप्रदायिक प्रतिबद्धता ज़ाहिर नहीं होनी चाहिये। पुष्टिमार्ग भी अपने अनुयायियों को यही आदेश देता है– ''तदीयजन संसृष्टः सर्वसंग विवर्जितः।''[46] मात्रा तदीयजन (अपने संप्रदाय के वैष्णवों से) मिलकर रहें, बाकी लोगों का साथ वर्जित है।

न कुर्यात्पशुसम्भाषणम्।।

पशु से संभाषण न करने का आदेश है। 'पशु' संज्ञा उनके लिये है, जो बहिर्मुखी हैं, अपने संप्रदाय से बाहर के हैं। उनसे बातचीत का संबंध भी नहीं रखना चाहिये। इस 'बातचीत' का आशय साधना और चिंतन में साझा करने से है। पुष्टि–संप्रदाय के एक आधिकारिक ग्रंथ 'शिक्षापत्रा' में कहा गया है– ''तदीयानां महद् दुखं विजातीयेन संगमः।''[47] ऐसे दुःखदायी विजातियों के सामने चुप रहना बेहतर है।

अन्यायो न्यायः।।

अन्याय ही न्याय है। भास्कर राय अर्थ खोलते हुए कहते हैं कि यदि कोई विद्वान तर्कों से 'कौलाचार' का खंडन करे, तो तर्क या वाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह विषय सामान्य समाज के लिये नहीं है, विशिष्ट अधिकारियों के लिये ही है। वादी दुर्बल हो सकता है, न्याय दुर्बल नहीं होता।

न गणयेत् कमपि।।

किसी को कुछ नहीं गिनना चाहिये। भास्कर राय की व्याख्या है कि स्वयं ब्रह्म भी अपने सिद्धान्त के विरोध में बोलें, तो उनकी बात नहीं माननी चाहिये।

आत्मरहस्यं न वदेत्।। शिष्याय वदेत्।।

विजातीय से संप्रदाय का रहस्य न कहे। शिष्य से ही कहने योग्य है। हमारी परंपरा के प्रायः सभी धर्म–संप्रदाय अपने अनुयायियों को ऐसा आदेश देते देशे जा सकते हैं। पुष्टि–संप्रदाय से ही उदाहरण लें। गोसाई विट्ठलनाथ 'चतुःश्लोकी' में कहते हैं :

विजातीयजनात् कृष्णे निज धर्मस्य गोपनम्।
देशे विधाय सततं स्थेयमित्येव मे मतिः।।[48]

अन्तः शाक्तः बहिश्शैवः लोके वैष्णवः।। अयमेवाचारः।।

भीतर से शाक्त, बाहर से शैव और लोक में वैष्णव होकर रहना– यही आचार विहित है। इस सूत्रा से उस डर का अनुमान किया जा सकता है, जिसकी चर्चा

---

[45] भास्कर राय भारती दीक्षित, पृ.47।
[46] 'बड़े शिक्षा पत्रा', पृ.228।
[47] सं. कण्ठमणिशास्त्री, कांकरोली, अष्टछाप, प्राचीन वार्ता रहस्य द्वितीय भाग, सं. 2009, पृ.343। यह अंश वस्तुतः पूर्वोक्त 'बड़े शिक्षा पत्रा' से है।
[48] अष्टछाप, पृ.243।

पांचरात्रा के संबंध में कुछ देर पहले की गई थी। सामाजिक वैधता पाने तथा अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिये पांचरात्री या वैष्णव वेदमत के अनुयायी बने। उसी सुरक्षा–कवच की प्राप्ति हेतु कौल संप्रदाय अपने अनुयायियों को समाज में वैष्णववत् रहने की सलाह देता है।

आत्मज्ञानान्मोक्षः।।

आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है। आत्मानुसंधान में प्रमाद नहीं करना चाहिये।

लोकान्ननिन्द्यात।।

लोकनिंदा न की जाये। इस सूत्रा को पूर्वोक्त सूत्रा (अन्तः शाक्तः.....) से जोड़कर देखा जा सकता है।

इत्यध्यात्मे।। व्रतं न चरेत्।। न तिष्ठेन्नियमेन।। नियमान्न मोक्षः

अध्यात्म यह है– व्रताचरण न करे, नियमपूर्वक न रहे, नियम पालन से मोक्ष नहीं मिलता।

कौलप्रतिष्ठां न कुर्यात्।।

(वैदिक परम्परा के शास्त्राों से अर्जित तर्कों की सहायता से) कभी कौल संप्रदाय को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा न की जाये। हजारीप्रसाद द्विवेदी इस सूत्रा का अर्थ करते हैं कि कभी कौल संप्रदाय की स्थापना नहीं करनी चाहिये।[49] यह अर्थ ग्राह्य नहीं लगता।

सर्वसमो भवेत्।।

यह सूत्रा कौल दर्शन का निचोड़ है– सबके प्रति समदृष्टि रखनी चाहिये। जड़, चेतन, स्थावर, जंगम सब शिवमय हैं। इस शिवमयत्व में ही श्रद्धा–विश्वास रखना चाहिये।

स मुक्तो भवति।।

सर्वत्रा अभेद दृष्टि रखने वाला ही मुक्त होता है। मुक्ति समता–बुद्धि से ही संभव है।

'कौलोपनिषद्' के सूत्राों की यह संक्षिप्त चर्चा कौल मार्ग, काश्मीर शैवागम की समतावादी विचारणा का परिचय देने के लिये पर्याप्त है। अद्वय–अभेदता–समता का यह सर्वांग सुंदर दर्शन, जिसे आज की भाषा में मानवतावादी कहना नाकाफ़ी है (क्योंकि इसकी समदृष्टि का पसारा मानव, प्रकृति, सब में है)। यह हमारे समाज के लिये सतत् मननीय, प्रेरणादायी है। यह ज़रूर गंभीर विचार कर विषय है कि हिन्दी के भक्ति–साहित्य में तमाम धारायें, उपधारायें बनीं, लेकिन शिवाद्वयवाद लगभग अनुपस्थित ही रहा। आत्मानुसंधान को प्राथमिक मानने वाले इस दर्शन की अनुपस्थिति पर हमारे बुद्धिजीवी आत्मावलोकन करें, तो कुछ सार्थक ही हासिल होगा।

इति

---

[49] द्विवेदी ग्रंथावली–6, पृ.76।

शाक्ततन्त्रा तथा निगमागम–सम्बन्ध

डॉ. शीतला प्रसाद उपाध्याय
उपाचार्य, सांख्ययोगतन्त्राागम विभाग,
सं.सं.वि.वि., वाराणसी।

अति प्राचीनकाल से ही भारतीय संस्कृति के पोषक तत्त्वों में वेद और आगम, अथवा निगम और आगम, अथवा वैदिकी और तान्त्रिाकी श्रुति के रूप में दो परस्पर समानान्तर धाराओं का सम्मिश्रण रहा है। विश्व के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में उन्मत्त और सोमरसपायी तपस्वियों के वर्गविशेष के रूप में मुनियों का वर्णन[1], शिश्नदेवों की चर्चा[2], यजुर्वेद में रुद्र के सन्दर्भ में 'दौर्व्रात्य' शब्द का प्रयोग[3], सामान्य यज्ञ–विधान से पृथक् कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के 'त्रयम्बकहोम'[4] और 'शतरुद्रीय'[5] सूक्त, अथर्ववेद में व्रात्यों का उल्लेख[6] आदि उदाहरण इसकी पुष्टि करते हैं। इसके अतिरिक्त सिन्धुघाटी की सभ्यता में खनन से उपलब्ध शिवलिङ्ग, वृषभ, योगी आदि के प्रतीकों का वेदों में न मिलना भी इस तथ्य को उद्घाटित करता है कि भारतीय संस्कृति में वैदिक सभ्यता से इतर किसी अन्य सभ्यता का भी पृथक् अस्तित्व अवश्य विद्यमान रहा है। इस सभ्यता के अनुयायियों की अपनी पृथक् जीवन–शैली थी, इनका अपना स्वतन्त्रा दर्शन था। इनके कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड भी भिन्न–भिन्न थे। इन दोनों प्रमुख सांस्कृतिक धाराओं के मध्य कभी विकर्षण, तो कभी आकर्षण के सङ्केत प्राप्त होते हैं। कभी–कभी तो अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये इनमें परस्पर संघर्ष होने के भी प्रमाण मिलते हैं।

शाक्त–तन्त्राों का प्रमुख सिद्धान्त शक्तिपारम्यवाद है जिसका उ०म हमें वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। वेदों में जो भी स्त्राी–देवता वर्णित हैं उनका महत्त्व कुछ भिन्न प्रकार का है। कुछ सूक्तों में 'पृथिवी' का स्तवन किया गया है।[7] एक स्त्राीदेवता 'रोदसी' भी है।[8] वेदों में केवल एक स्त्राीदेवता ऐसी है जो अन्यों से भिन्न और विशेष महत्त्व की है। वह है– वाक्, जिसका प्रथम बार उल्लेख ऋग्वेद के एक अपरकालीन सूक्त[9] में मिलता है। उसका वर्णन देवताओं की शक्ति के रूप में किया गया है और उसको देवताओं पर नियंत्राण करनेवाली कहा गया है, परन्तु परवर्ती संहिताओं में उसके नाम की स्मृतिमात्रा शेष रह गई है। इस वाक् का स्वरूप शाक्ततन्त्राों में वर्णित शक्ति से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के 'त्रयम्बकहोम' सूक्त में 'अम्बिका' नाम की एक अन्य स्त्राीदेवता का भी उल्लेख मिलता

---

[1] ऋग्वेद, 10.136।
[2] तत्राैव, 7.21.5; 10.99.3।
[3] यजुर्वेद 39.9।
[4] शुक्ल यजुर्वेद 3.60।
[5] तत्राैव, 16.1–66।
[6] अथर्ववेद, काण्ड 15।
[7] तत्राैव, 12.1।
[8] शैवमत – डॉ. यदुवंशी, पृ. 33–34।
[9] ऋग्वेद, 10.125।

है जिसे रुद्र की बहन कहा गया है, परन्तु उसका स्थान भी वैदिक साहित्य में नगण्य ही है। कुछ विद्वान् इस अम्बिका को अपरकालीन दुर्गोपासना का आदिरूप मानते हैं।

उपनिषद् काल में नये–नये धार्मिक एवं दार्शनिक प्रस्थानों का सूत्रापात हुआ। प्राचीन वैदिक–कर्मकाण्डों का स्थान भक्तिवाद ने ले लिया। त्रिदेव के रूप में ब्रह्मा, विष्णु और शिव प्रमुखरूप से उपास्य बने। वैदिक बहुदेवतावाद सिमट कर एकदेवतावाद में परिणत हो गया और विष्णु को सर्वश्रेष्ठ देवता माना जाने लगा। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के सिद्धान्त के अनुसरण में एकमात्रा विष्णु में ही 'सत्' का अधिष्ठान माना गया, किन्तु इनकी उपासना त्रौवर्णिकों तक ही सीमित रही। दूसरी तरफ शिव का प्रभाव समस्त आर्य एवं आर्येतरों में बढ़ा। योग के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण इनका यक्ष, राक्षस, दैत्य, दानव आदि विभिन्न सांस्कृतिक–परिवेश वाली उपासना–पद्धतियों के साथ सम्बन्ध बढ़ता ही गया। इन दोनों ही देवताओं की उपासना के पूर्ण विकसित होने के साथ ही त्रिदेव में परिगणित ब्रह्मा की उपासना क्षीणतर होती गयी जो कालान्तर में स्मृतिमात्रा रह गयी।

शक्तिवाद के सिद्धान्तों का भी निरूपण सर्वप्रथम हमें उपनिषदों में ही दृष्टिगोचर होता है। केनोपनिषद् में कहा गया है कि देवताओं को ब्रह्मज्ञान 'उमा हैमवती' नामक एक स्त्रीदेवता ने कराया।[10] यहाँ इस देवता की कल्पना देवताओं की चेतन–प्रज्ञा के रूप में की गई है जो अपरकाल में 'उमा' और 'पार्वती' आदि नामों से शिव से सम्बद्ध हो गई। श्वेताश्वतर उपनिषद् में पहली बार विश्व की सक्रिय सर्जन शक्ति के रूप में प्रकृति का उल्लेख हुआ है। उसे परंब्रह्म की शक्ति कहा गया है जिसके द्वारा वह ब्रह्म विविधरूप विश्व की सृष्टि करता है। वह शक्ति त्रिगुणमयी और जगत् की सृष्टि करने वाली कही गई है।[11] इस उपनिषद् के तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायों में शैवदर्शन के भित्तिस्वरूप 'सांख्य' की सूक्ष्म मीमांसा की गई है।

रामायण वैखानस मत का वैष्णव ग्रन्थ है। इसमें विष्णु के साथ–साथ शिव को भी सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यहाँ शिव की शक्ति के रूप में उमा, पार्वती, भवानी आदि का नाम आता है। यहाँ पर वर्णित शक्तिरूपा देवी केवल पतिरूप पुरुष–देवता की छायामात्रा ही नहीं है अपितु उसके स्वतन्त्रा अस्तित्व की भी हमें प्रतीति होती है।

महाभारत में स्त्री–देवता की स्वतन्त्रा उपासना का कई बार उल्लेख हुआ है परन्तु इससे शाक्तों के स्वतन्त्रा प्रस्थान की हमें जानकारी नहीं मिलती। नारायणीयोपाख्यान में सांख्य, योग, पांचरात्रा, वेद और पाशुपत मतों का ही उनके प्रवर्तक आचार्यों के साथ उल्लेख मिलता है।[12] वहाँ के अनुसार धर्म के निर्णयों में प्रमाणशास्त्रा के रूप में इन्हीं को मान्यता प्राप्त थी। ऐसा भी प्रतीत होता है कि यह स्थिति 'महिम्नस्तव' के रचना–काल तक बनी रही है।[13] महाभारत में देवी की स्तुति में पूरे दो स्तोत्रा कहे गये हैं जिनसे उसके स्वरूप और उसकी उपासना पर प्रभाव पड़ता है।[14] आधुनिक इतिहासकार इन दोनों स्तोत्राों को प्रक्षिप्त मानते हैं किन्तु ध्यातव्य है

---

[10] केनोपनिषद्, 3.12।

[11] श्वेताश्वतर उपनिषद्, 4.1–5।

[12] महाभारत–नारायणीयोपाख्यान, 249.65–68।

[13] महिम्नस्तव, श्लोक 17।

[14] महाभारत–विराट. 6; भीष्म. 23।

कि भाण्डारकर शोध संस्थान के परिष्कृत संस्करण में भी श्रीपर्वत, शाकम्भरी और धूमावती के नाम मिलते हैं।[15] वह कृष्णवर्णा अथवा कृष्ण तथा वभ्रुरंग की है, यद्यपि एक बार उसे श्वेतवर्णा भी कहा गया है। 'जया' और 'विजया' के रूप में युद्ध से पूर्व विजय– प्राप्ति के लिये उसका आह्वान किया जाता था। स्वयं भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को देवी की आराधना करने का निर्देश दिया था। यहाँ देवी को एक तरफ शिव की पत्नी और स्कन्द की जननी कहा गया है तो दूसरी तरफ उसको 'कुमारी' भी कहा गया है जिसने सतत कौमार्य–व्रत ले रखा है तथा उसे मद्य, मांस और पशुबलि अतिप्रिय है। एक अन्य स्थल पर उसे 'कालरात्रिा' और 'महाकाली' भी कहा गया है। महाभारत में इस देवी को विश्व की परम सम्राज्ञी तथा सर्वश्रेष्ठ देवता माना गया है जो यह इंगित करता है कि उस समय तक शाक्त–सम्प्रदाय अपने स्वतन्त्रा अस्तित्व के लिये संघर्ष कर रहा था और जो कालान्तर में क्रूर उपासना और मद्य, मांस, पशुबलि जैसे आचार–विचार और समाज विरोधी तत्त्वों को धारण करता हुआ एक स्वतन्त्रा मत धारण कर लिया। इसकी साधना–पद्धति भी गुप्त और गुप्ततर होती गयी। तदनन्तर इनके साम्प्रदायिक–ग्रन्थ भी निर्मित हुये।

इस प्रकार अति संक्षिप्तरूप में शाक्त–तन्त्राों के प्रादुर्भाव का एक बाह्य रेखांकन मेरे द्वारा प्रस्तुत किया गया। अति प्राचीनकाल से ही इस शाक्तधारा का प्रवाह हमारी संस्कृति में होता रहा है। वेदों, आरण्यकों, ब्राह्मणग्रन्थों, गृह्यसूत्राों एवं उपनिषदों में भी इस धारा का स्पष्ट प्रभाव दिखलायी पड़ता है। वैदिक रुद्र से लेकर पौराणिक शिव तक की यात्राा में, वेदातिरिक्त नाना प्रकार के सम्प्रदायों की उत्पत्ति में, अनेक रहस्यमय ज्ञान–विज्ञान की साधना एवं तपश्चर्या में तथा भक्तिवाद की धारा में शक्तिवाद ही प्रमुख कारक रहा है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में शक्तिवाद मान्य नहीं है। मीमांसक और शाङ्करवेदान्ती शक्ति को मानते हैं। योगदर्शन में 'चितिशक्तिरपरिणामिनी' कहा गया है।[16] 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' आदि वाक्यों से प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में भी 'एकोऽहं बहुस्याम्' के मूल में इसी शक्ति की ही क्रिया लक्षित होती है। उपनिषद् में कहा गया है– 'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः'। इस प्रकार से शक्तिवाद की यह धारा अनादिकाल से वैदिक–सभ्यता के समानान्तर प्रवाहित होती रही है। जिस प्रकार से गुरु–शिष्य की परम्परा से वैदिकज्ञान वर्णाश्रम धर्म का अनुसरण करते हुये आज तक चला आ रहा है, उसी प्रकार तन्त्राागम शास्त्रा की भी परम्परा अनादि काल से प्रवहमान है। वस्तुतः इस शास्त्रा के अनुयायियों ने वैदिक–कर्मकाण्डों से हटकर 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' आदि सिद्धान्तों पर आधारित एक ऐसी पूजा–विधि का अनुसन्धान किया था जिसमें उपासक अपने उपास्य देव के साथ आन्तर और बाह्य वरिवस्या के माध्यम से तादात्म्य स्थापित करता था। भूत–शुद्धि, प्राण–प्रतिष्ठा, न्यास और मुद्रा की सहायता से स्वयं देवरूप होकर मूर्ति, पट, मन्त्रा और मण्डल आदि में वह अपने आराध्य को प्रतिष्ठित करता था। बाह्य वरिवस्या की पूर्णता के लिये एक तरफ व्रत, उपवास, उत्सव, पर्व आदि का विधान था तो दूसरी तरफ वह आन्तर वरिवस्या में कुण्डलिनीयोग के माध्यम से मूलाधार से आज्ञाचक्र और तदनन्तर सहस्रार–पर्यन्त की

---

[15] ''श्रीपर्वते महादेवो'' (वन. 83.17); ''शाकम्भरीति विख्याता'' (वन. 82.11); ''धूमावतीं ततो गच्छेत्'' (वन. 80.20)।

[16] योगसूत्रा–व्यासभाष्य (1.2)।

दिव्य यात्राा सम्पन्न कर चिदानन्द के सामरस्यमयी स्थिति को प्राप्त करता था। समय–समय पर वैदिक वर्णाश्रम के अविरोधी तान्त्रिाक–तत्त्वों का समावेश इतिहास, पुराण, स्मृति आदि शास्त्राों में होता रहा है। तन्त्राशास्त्रा में स्त्रिायों और शूद्रों को भी अधिकार मान्य है। आगम और तन्त्राशास्त्रा में वेदविरोधी और वेदों के अविरोधी दो प्रकार के विभाग मिलते हैं। वेद के अविरोधी तन्त्राों में सच्छूद्रों को और वेद के विरोधी तन्त्राों में ''दीक्षयेत् श्वपचानपि'' के सिद्धान्त से दीक्षा में मानवमात्रा को अधिकार मिला है।

शाक्ततन्त्राों में उच्चतम आध्यात्मिक भूमि में प्रविष्ट स्थितप्रज्ञ साधकों के साथ ही निम्नभूमि में स्थित अज्ञानीजनों की आध्यात्मिक उन्नति के लिये भी अपनी योग्यता और रुचि के अनुरूप अलग–अलग मार्ग उपदिष्ट हैं। महेश्वरानन्द ने 'महार्थम×जरी' में जाति के दुराग्रहों को पाश माना है[17] और शाङ्करवेदान्त की अपेक्षा तन्त्राों को सप्रमाण वरिष्ठ घोषित किया है[18]। इसका कारण ढूँढने और दार्शनिक दृष्टि से आलोडन करने पर समझ में आता है कि हमारी संस्कृति में धर्मतत्त्व के साक्षात्कार की विधाओं में प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग के भेद से दो प्रमुख धारायें अति प्राचीनकाल से ही चली आ रही हैं। जिस धर्म के अनुष्ठान से इन्द्रियों को पूर्ण संतृप्त करते हुये आत्मा की समस्त शक्तियाँ विकसित और पूर्णरूप से परितृप्त होती हैं, वह प्रवृत्ति मार्ग कहलाता है और जब ये पूर्णता को प्राप्त हुई शक्तियाँ तृप्त होकर नित्य अचल शिवभाव के साथ एकाकार हो जाती हैं, तभी निवृत्तिभाव का आविर्भाव होता है। प्रवृत्ति की पूर्णता में भोगशक्ति और भोग्य–वस्तु – दोनों ही विशुद्ध होकर पूर्णरूप से प्रकाशित होती हैं, परंतु निवृत्ति में यह भोगशक्ति और भोग्य–वस्तु – दोनों ही अव्यक्त हो जाते हैं। योग की समस्त विधायें इन्हीं दोनों मार्गों पर अवलम्बित हैं। दार्शनिक दृष्टि से भी हम पाते हैं कि हमारी संस्कृति में 'सत्–तत्त्व' और 'चित्–तत्त्व' की मान्यता भी पृथक्–पृथक् रूप में आरम्भ से ही रही है। वैदिक–वाङ्मय में हम पाते हैं कि परमतत्त्व 'सत्' है और उसका स्वरूपलक्षण है– सच्चिदानन्द। इस 'सत्' को प्रतिष्ठित रखने हेतु इनके शास्त्राकारों को जगत् को मिथ्या आदि कहना पड़ा है, सृष्टि के कारणभूत शक्ति को अविद्या, माया, अनिर्वचनीया आदि उपाधियाँ दी गयी हैं; किन्तु तान्त्रिाक वाङ्मय में परमतत्त्व 'चित्' अथवा 'चिति' है और उसका स्वरूपलक्षण 'चिदानन्द' है। इनकी दृष्टि में सृष्टि मिथ्या नहीं है। सृष्टि की कारणभूत शक्ति भी यहाँ अविद्या नहीं है, वरन् परमशिव की साक्षात् निजा शक्ति है। इनके सिद्धान्तों में शिव से लेकर धरणीपर्यन्त सर्वत्रा सत् अनुस्यूत है। यद्यपि साधना की चरमावस्था में दोनों के परमतत्त्व का स्वरूप सच्चिदानन्द का ही है तथापि निम्नभूमि पर दोनों एक–दूसरे से पूरी तरह से पृथक् सिद्ध होते हैं।

इन्हीं प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप द्विविध मार्गों का अवलम्बन करते हुये तथा दार्शनिक दृष्टि से सत् और चिद्रूप दो परमतत्त्वों को केन्द्रीभूत करके ही हमारा अद्वैत–चिन्तन आगे बढ़ा है। इनके मध्य हुये साम्य–वैषम्य, आकर्षण–विकर्षण और घात –प्रतिघात के अनेक उदाहरण नानाविध आख्यानोपाख्यानों के माध्यमों से प्राचीन–ग्रन्थों

---

[17] महार्थम×जरी, पृ. 145।
[18] तत्रौव, पृ. 130।

में हमें दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हीं कारणों से योग की अनेक विधायें भी प्रचलित हुईं। इसके अतिरिक्त असत्, सदसत् और अचित्, चिदाचित् को लक्ष्य बनाकर भी हमारा दार्शनिक चिन्तन हुआ है। सत् और चित् के आधार पर अद्वैतवादी, असत् के आधार पर द्वैतवादी बौद्धादि, अचित् पर आधारित चार्वाकादि, सदसत् और चिदाचित् पर आधारित भर्तृप्रप×च आदि तथा अन्यान्य द्वैताद्वैतवादी दार्शनिक प्रस्थान उद्भूत हुये हैं जो अपनी–अपनी दाढर्योक्तियों से कालान्तर में पल्लवित और पुष्पित हुये।

शाक्तदृष्टि से परम सत्ता अखण्ड प्रकाशरूपा है अथवा चिद्रूपा है। यह सत्ता स्वातन्त्रयमयी है। सत् ही चित् है एवं चित् ही सत् है। परमार्थस्थिति में सत् अवाङ्मनसगोचर है, अभिव्यक्त की दृष्टि से वह चित् है एवं रसास्वादन की दृष्टि से वही आनन्द है। परन्तु तान्त्रिाक दृष्टि से वह अव्यक्त सत् स्वयं अपने आप में अव्यक्त नहीं है क्योंकि वही तो चित् है। इसीलिये वह परमतत्त्व अप्रमेय होकर भी स्वप्रकाशस्वरूप है एवं अपनी स्वप्रकाशता के कारण स्वयं आनन्दरूप भी है। वह अपने पास अपना प्रकाश रखता है तथा अपने स्वरूपानन्द का स्वयं आस्वादन भी करता है। शाक्तों की इस दृष्टि से शैवों का कोई भी मतभेद नहीं है। दोनों में परमतत्त्व का शक्ति –स्वातन्त्रय समानरूप से मान्य है। इस स्वातन्त्रय के प्रभाव से परमतत्त्व एक और अद्वितीय रहते हुये भी, अपनी मूलसत्ता के आधार पर द्वितीय का स्फुरण कर सकता है, निःस्पन्द रहते हुये भी स्पन्दशील हो सकता है और अचल होते हुये भी अनायास रूप से चलन–युक्त हो सकता है। वह अरूप, अशब्द और अस्पर्श आदि होकर भी सर्वरूप, सर्वशब्द और सर्वस्पर्श आदि वाला है। यह स्वातन्त्रयशक्ति शैव और शाक्ततन्त्राों का प्राण–तत्त्व है।

हड़प्पा–मोहेंजोदड़ों में खुदायी से प्राप्त अवशेषों में हम शाक्ततन्त्राों के मूल उपादानों की खोज कर सकते हैं। ऊर्ध्वमेढ्र एवं भगांकित मुद्रायें वहाँ उपलब्ध होती हैं। महाभारत के अनुशासनपर्व में पाशुपतमत की चर्चा के प्रसंग में उपलब्ध–

> ''न पद्माङ्का न चक्राङ्का न वज्राङ्का यतः प्रजा।
> लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरीप्रजाः।।'' (14.233)

श्लोक में माहेश्वरपद शिव और शक्ति के सामरस्य का द्योतक है। इसके अतिरिक्त सौत्रामणि याग का ''सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्'', छान्दोग्य उपनिषद् का ''न का×चन परिहरेत्, तद् व्रतम्'' (2.13.2), ऐतरेय आरण्यक का ''यदेतत् स्त्रिायां लोहितं भवत्यग्नेस्तद्रूपम्, तस्मात् तस्मान्न बीभत्सेत। अथ यदेतत् पुरुषे रेतो भवत्यादित्यस्य तद्रूपम्, तस्मात् तस्मान्न बीभत्सेत'' (2.3.7) इत्यादि विधिवचन शाक्ततन्त्राों में वर्णित सुरापान, दूतीयाग और अर्घ्यनिष्पादन जैसी विधियों की सूचना देते हैं। इसी तरह से ''अकारो वै सर्वा वाक्'' (ऐ.आ. 2.3.6), ''अ इति ब्रह्म तत्राागतमहम्'' (ऐ.आ. 2.3.8), ''छन्दः पुरुष इति यमवोचामक्षरसमाम्नाय एव। तस्यैतस्याकारो रसः'' (ऐ.आ. 3.2.3), इत्यादि श्रुतिवाक्य भी शाक्ततन्त्राों में व्याख्यात अनुत्तर अकार और मातृका के स्वरूप को सूचित करते हैं। ''शिवाम्बु रेतो रक्तं च नालाज्यं विश्वनिर्गमः'' आदि तन्त्राालोकविवेक (29.200) के इस वचन में वर्णित रत्नप×चक और कुण्डगोलकात्मक चरुद्रव्य का उपयोग बाह्य व आन्तर कायपूजा में शाक्ततन्त्राों के साथ–साथ कौल, कापालिक और बौद्धतन्त्राों में भी समान रूप से व्यवहृत है।

वर्तमान समय में अभिनवगुप्त के परवर्ती साहित्य ही उपलब्ध और प्रकाशित हुये हैं। उनके पूर्ववर्ती साहित्य अधिकतर अनुपलब्ध हैं। यदि कुछ उपलब्ध हैं भी, तो वे प्रकाशित नहीं हैं जिसके कारण शाक्ततन्त्राों का समुचित अनुशीलन अतिदुष्कर हो गया है। परवर्ती काल के साहित्यों में मारण–मोहन–वशीकरण–उच्चाटन–स्तम्भन–विद्वेषण आदि कर्मकाण्डों की बहुलता है और शाक्ततन्त्राों का उदात्त दार्शनिक और गुह्य साधनात्मक स्वरूप तिरोहित हो गया है। यहाँ धातव्य है कि उक्त मारण आदि अभिचार –क्रियाओं का उल्लेख अथर्ववेद में भी मिलता है किन्तु वहाँ न तो इन क्रियाओं को न तो तान्त्रिाक नाम दिया गया है और न तो वे शाक्ततन्त्राों के सिद्धान्तों के अनुरूप ही हैं। प्राचीन तन्त्राों की उपलब्धि और प्रकाशन के बाद ही तन्त्राशास्त्रा के विविध शाखा–प्रशाखाओं के आविर्भाव–काल के विषय में कुछ निश्चित किया जा सकता है। अब तक जितनी सामग्री प्रकाशित हुई है, उससे शैव–शाक्ततन्त्राों का स्वरूप वैष्णव और सिद्धान्त –शैवागमों की तुलना में बहुत भिन्न नहीं लगता।

वैरोचन कृत प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (2.108–128) में शिव के पाँच मुखों से निर्गत शैवतन्त्राों के नाम गिनाये गये हैं। ऊर्ध्व ईशानमुख से 28 सिद्धान्ततन्त्रा, पूर्व तत्पुरुषवक्त्रा से 28 गारुडतन्त्रा, दक्षिण अघोरमुख से 32 अथवा 64 भैरवतन्त्रा, पश्चिम सद्योजातमुख से 20 भूततन्त्रा और उत्तर वामदेवमुख से 24 वामतन्त्राों के नाम इनकी सूची में उल्लिखित हैं। वहीं पर आगे (2.131–132) मान्त्रिाक विभाग की पंक्तियों में कहा गया है कि सिद्धान्तशास्त्रा में चारों वर्णों के अन्न का, गारुडतन्त्रा में विषभक्षण का, भैरवतन्त्रा में एकत्रा भोजन का, भूततन्त्रा में शव–स्पर्श का और वामतन्त्रा में कामामृत के पान का विधान है। शतरत्नसंग्रहकार (पृ.9) ने सिद्धान्तशास्त्रा को मुक्तिप्रद, गारुडतन्त्रा को सभी प्रकार के विषों का उपचारक, भैरवतन्त्राों को सर्वशत्राुक्षयकर, भूततन्त्राों को भूत –प्रेत–ग्रह आदि दोषों का निवारक और वामतन्त्राों को सर्ववशीकरण में समर्थ बतलाया है।

मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका (पृ.74) में अघोर शिवाचार्य ने 'मत्स्येन्द्र' को कौलतन्त्राों का प्रवर्तक कहा है। अभिनवगुप्त ने भी तन्त्राालोक के आरम्भ में 'मच्छन्द विभु' कहकर इनकी स्तुति की है। व्याख्याकार जयरथ ने इन्हें सकल कुलशास्त्रा का अवतारक कहा है। डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने कौलज्ञाननिर्णय आदि ग्रन्थों को मत्स्येन्द्रनाथ की कृति माना है। अभिनवगुप्त से पूर्व के कुल–कौलाचार्यों की एक लम्बी परम्परा भी मिलती है। तन्त्राालोक (36.11–14) में आमर्दक, शंखमठिका और त्रयम्बकमठिका के साथ–साथ त्रयम्बक की दुहिता के अधिकार क्षेत्रा में परिगणित 'अर्धमठिका' का भी उल्लेख मिलता है जो कामरूप पीठ से सम्बद्ध है। बौद्धों के गुह्यसमाजतन्त्रा में कुलतन्त्रा वर्णित है। तन्त्राालोक (29.36) से यह भी परिज्ञात होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने स्वोपज्ञात ज्ञान को छः राजपुत्राों में बाँट दिया था। यहाँ राजपुत्रा शाक्ततन्त्राों का साम्प्रदायिक एवं रहस्यमय शब्द है। स्थितिचक्र की बाईस कलाओं के अन्तर्गत हृदयस्थ षट्कोणों में स्थित बारह कलाओं को 'राजपुत्रा' कहा जाता है। साधिकार और निरधिकार भेद से इनके दो विभाग किये गये हैं। बुद्धि और पाँच कर्मेन्द्रियाँ साधिकार तथा मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ निरधिकार राजपुत्रा हैं।[19] इन राजपुत्राों की परम्परा में आनन्द, आवलि,

---

[19] तन्त्राालोक, 29.29–42।

बोधि, प्रभु, पाद और योगी नाम से परम्परायें चलीं। इनमें से आनन्द और योगी का शाक्त–परम्परा में तथा बोधि, प्रभु और पाद का बौद्ध–परम्परा में उल्लेख मिलता है।

तन्त्रालोकविवेक (4.172) में जयरथ ने आद्यवर्ण अकार की चार कलाओं के रूप में जया आदि चार शक्तियों की व्याख्या की है। शुद्ध परब्रह्म ही अनुत्तर आदिवर्ण अकार का रूप धारण करता है। इसकी परा नामक शक्तियों के नाम अम्बिका, ज्येष्ठा, रौद्री और वामा हैं। परापरा शक्तियों में शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति हैं। जया आदि गुह्यशक्तियाँ अपरा कहलाती हैं। कौलज्ञाननिर्णय में प्रकाशित ज्ञानकारिका (3.17–18) में कहा गया है कि जया, विजया, अजिता और अपराजिता नामक चार शक्तियों से सम्पन्न मातृका–स्थान ही चत्वर कहलाता है। योगवासिष्ठ में इन चार नामों के साथ सिद्धा, रक्ता, अलम्बुषा और उत्पला आदि आठ देवियों को मातृकाओं में श्रेष्ठ माना गया है। वहाँ पर इन आठ मातृकाओं को अष्ट ऐश्वर्यों से युक्त, रौद्र स्वभाव वाली और वामस्त्रोत से निर्गत तुम्बुरु नामक रुद्र के आश्रित बतलाया गया है। योगवासिष्ठ के टीकाकार ने जया को लक्ष्मी की सखी बतलाया है। पा×चरात्र आगम की जयाख्यसंहिता (6.77) में लक्ष्मी, कीर्ति, जया और माया नामक चार शक्तियों का उल्लेख है। वहीं (27.99–150) पर जया की सखियों में जयन्ती, विजया, अपराजिता और सिद्धा के नाम परिगणित हैं। नेत्रातन्त्र (13.8) में चारों दिशाओं की पूज्य देवियों में जया, लक्ष्मी, कीर्ति और माया के नाम मिलते हैं। लघुस्तव में लक्ष्मी और जया की एक साथ स्तुति की गई है। महाभारत के विराटपर्व (6.16) में जया और विजया को युद्ध में विजय दिलाने वाली बतलाया गया है और भीष्मपर्व (23.6) में उनकी स्तुति कात्यायनी और कराली के साथ की गई है। देवीभागवत (7.30.62) में जया की स्थिति वराहशैल पर बतलायी गयी है। षोडशमातृकाओं में भी जया परिगणित है।

शाक्ततन्त्रों के अनुयायी चिद्रूपाशक्ति की ही परमतत्त्व के रूप में उपासना करते हैं। इनका परमतत्त्व संवित्स्वरूपा चिति है। भगवती संवित् ही अपने भीतर विद्यमान विश्व को बाहर प्रकाशित करती है। इनके दर्शनों में मुख्यतया क्रमदर्शन का ही समावेश माना जाता है। कालिका क्रम में विमर्श को और कालीकुल में परबोध को परमशक्ति कहा गया है। परामत में विमर्श को सर्व–सक्षम माना गया है। बृहस्पतिपाद ने इसे चित्स्वरूपिणी माना है। यहाँ विमर्श को शक्ति के अतिरिक्त परतत्त्व भी बतलाया है। क्रमदर्शन में संवित्स्वरूपिणी काली को परमतत्त्व के रूप में और त्रिपुरा सम्प्रदाय में त्रिपुरा नाम की परासंवित् परब्रह्मस्थानीय है, ऐसा कहा गया है। त्रौपुरतन्त्रों में वामा आदि चार शक्तियों की तथा परा आदि चार वाणियों की स्थिति मध्यबिन्दु एवं त्रिकोण में मानी गई है। नित्यातन्त्रों में कुल को शक्ति कहते हैं। जयाख्यसंहिता में वैष्णवी को संवित्स्वरूपा कहा गया है। मालिनीतन्त्रा में शाङ्करी शक्ति और मालिनिविजय और मन्त्रावार्तिक में इच्छ–ज्ञान–क्रिया के रूप में इनका त्रौविध्य सूचित है। परासूक्त में इच्छाशक्ति का और ज्ञानशक्ति का स्वरूप वर्णित है। पूजा–रहस्य में बोधभैरव स्वरूप स्पन्दात्मक देवाधिदेव की औन्मुख्य, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक चार शक्तियाँ वर्णित हैं। क्रमदर्शन में द्वादश, त्रायोदश, षोडश और सप्तदशविध कालियाँ वर्णित हैं। वामकेश्वरतन्त्रा में षोडश नित्याओं का वर्णन मिलता है। लाद्यादिशास्त्रा में सप्तदशी और त्रीशिकावृत्ति में अष्टादशी कला प्रदर्शित है। तन्त्रासद्भाव और सर्ववीरभट्टारक

जैसे ग्रन्थों में डाकिनी, डामरी, शाबरी आदि विविध शक्तियों का वर्णन है। भगवठीता और प्रत्यभिज्ञाकारिका में स्मृति, ज्ञान और अपोहनशक्तियों की चर्चा की गई है। महार्थम×जरी की व्याख्या में भी इनका स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार से अति संक्षिप्त रूप में नित्या, त्रिाक, क्रम, कुल आदि अद्वैतवादी शाक्तमतों में अंगीकृत शक्तिपारम्यवाद की सूचना मेरे द्वारा प्रस्तुत की गई। इनके अतिरिक्त वर्तमान में प्रचलित महाविद्यानुसारी देवियों अर्थात् शक्तियों का भी स्वरूप हमारे सामने है।

भगवान् बुद्ध और महावीर के प्रादुर्भाव के समय और उनके परवर्तीकाल में भारतवर्ष में नाना प्रकार की दृष्टियाँ प्रचलित हो गयी थीं। इनमें से कुछ तो वेदों का अनुवर्तन करती थीं, कुछ वेद–विरुद्ध थीं, तो अन्य अपना स्वतन्त्रा स्थान मानती थीं। आदि शङ्कराचार्य ने इन दृष्टियों में साम×जस्य स्थापित करने का प्रभावी उपाय प्रस्तुत किया। आचार्यजी ने एक ओर प्रस्थानत्रायी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्रा और भगवठीता) के माध्यम से प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था को अक्षुण्ण रखा, तो दूसरी ओर स्मार्त–परम्परा को भी विकसित किया। इसके लिये इन्होंने प्रप×चसार और सौन्दर्यलहरी जैसे श्रेष्ठतम ग्रन्थों की रचना भी की। स्मार्तपरम्परा के अन्तर्गत इन्होंने शिव–शक्ति–विष्णु–गणपति–सूर्य–स्कन्द आदि सम्प्रदायों की तान्त्रिाक–उपासना विधियों को मणिवत् एक सूत्रा में गूँथ दिया।

इतना सब करते हुये भी भगवत्पाद ने ब्रह्मसूत्रा के तर्कपाद में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध और जैनदर्शनों के साथ–साथ पाशुपत और पा×चरात्रामतों का खण्डन कर इन्हें अवैदिक और अनौपनिषदिक बतलाया तथा प्रस्थानत्रायी का प्रामाण्य सुरक्षित रखा। इनके अतुल प्रभाव से भारतीय दर्शन की आस्तिक धारा में स्वतन्त्रा चिन्तन के स्थान पर प्रस्थानत्रायी और स्मार्तधर्म की परिधि के अन्दर ही रहकर चिन्तन करने का प्रचलन बढ़ा। परिणामस्वरूप आदिशङ्कराचार्य के परवर्ती चिन्तकों के विचार, चाहे वे किसी भी आस्तिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध क्यों न रहे हों, प्रायः प्रभावित होने लगे। अपने सम्प्रदाय की वेदानुवर्तिता को सिद्ध करने के लिये स्वतन्त्रा ग्रन्थ ही नहीं लिखे गये, प्रत्युत महाभारत और पुराणों में अपने मत के संपोषक प्रकरणों को भी जोड़ा गया। इसी क्रम में स्वतन्त्रा उपपुराण और नये उपनिषद् भी निर्मित हुये। तान्त्रिाक– सम्प्रदाय व उनके वाङ्मय भी इस प्रभाव से अपने को पूरी तरह मुक्त नहीं रख सके। नवीन साहित्यों की सहायता से उनमें भी वैदिकीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी। आगमों के सम्बन्ध में दो प्रकार की दृष्टियाँ प्रकाश में आ गयीं। इनमें से एक दृष्टि के अनुसार आगमों का स्वतःप्रामाण्य है जैसा कि अभिनवगुप्त आदि आचार्यों का मानना है– ''आगमस्तु अनवच्छिन्नप्रकाशात्मकमाहेश्वरविमर्शपरमार्थः'' अर्थात्, जिस तरह प्रदीप को प्रदीपान्तर की आवश्यकता नहीं है, उसी तरह से आगमों को भी प्रामाणान्तर की अपेक्षा नहीं है। दूसरी दृष्टि है– वेदमूलक आगमप्रामाण्यवादियों की, जिनकी परम्परा में आगे चलकर निगमागम–सम्मत मार्ग पुष्ट हुआ। इस प्रकार से वैदिकीकरण की यह प्रक्रिया आदि शङ्कराचार्य से प्रारम्भ होकर अप्पयदीक्षित से होती हुई भास्करराय तक पूर्ण हुई है। अप्पयदीक्षित ने शिव को अवैदिक कहने की प्रथा का सशक्त परिहार किया तथा भास्करराय ने चतुर्दश विद्याओं में परिगणित धर्मशास्त्रा में तन्त्राों का अन्तर्भाव घोषित

करते हुये उनकी वेदमूलकता को सिद्ध किया।[20] इन दोनों ही महापुरुषों की गणना आद्यशङ्कराचार्य की परम्परा के गृहस्थ–शिष्यों की श्रेणी में होती है। अप्पयदीक्षित ने शिवोपासना और श्रीभास्करराय ने शक्त्युपासना–विषयक अति मूल्यवान् वाङ्मयों की रचना भी की है।

निगमागम–सम्बन्ध

निगम शब्द वेद का पर्याय है। यह वेद ब्रह्म की अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त शब्दराशि है। यह शब्दराशि मन्त्रा और ब्राह्मणरूप दो भागों में है जिसे निगम कहते हैं। निरुक्तशास्त्रा में यास्काचार्य ने अनेक स्थलों पर ''इत्यपि निगमो भवति'' कहकर निगम पद से वेदमन्त्राों का ग्रहण किया है। पाणिनि भी निगम शब्द का वेदपरक अर्थ करते हैं। भर्तृहरि के वाक्यपदी में अनेक स्थलों पर आगमशब्द वेदार्थ में प्रयुक्त है।

''न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्।।'' (वा.प. 1.30)

मनुस्मृति (4.19) और उसकी कुल्लूकभट्टकृत टीका में निगमों को वेदार्थावबोधक कहा गया है– ''तथा पर्यायकथनेन वेदार्थावबोधकान्निगमांश्च ग्रन्थान्नित्यं पर्यालोचयेत्''। गुरु–शिष्य परम्परा से आयातित नैगमिकज्ञान ही वैदिकश्रुति कहलाती है।

निगम की एक अन्य परिभाषा 15–16वीं शती के सर्वानन्दनाथकृत सर्वोल्लासतन्त्रा में भी मिलती है–

''निर्गतः शङ्करविक्त्राद् गतश्च गिरिशानने।
मतः श्रीवासुदेवस्य तस्मान्निगम उच्यते।।'' (1.13)

उसी ग्रन्थ में आगे के श्लोकों में निगम के पाँच भेद भी बतलाये गये हैं– कल्पसार, कल्पतत्त्व, कल्पद्रुम, कल्पलता तथा कल्पानन्द।

वैष्णवागमों की वैखानस शाखा निगम और आगम के अन्तःसम्बन्धों पर प्रकाश डालने वाली तथा उनकी शृंखला को जोड़ने वाली पहली कड़ी है। वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत तृतीय आश्रम वानप्रस्थ से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। वैखानस–वैष्णवग्रन्थ अपने लिये आगमशब्द का प्रयोग नहीं करते। इन ग्रन्थों का 'भगवच्छास्त्रा' के नाम से उल्लेख मिलता है किन्तु आजकल इनका परिचय वैखानस–आगम के नाम से देने की परम्परा चल पड़ी है। इस सम्प्रदाय का वैदिकत्व प्राचीन स्मृतिकारों को भी मान्य था। बौधायन धर्मसूत्रा (3.3.17) में इसका उल्लेख मिलता है– ''शास्त्रापरिग्रहः सर्वेषां वैखानसानाम्''। ''त्रिविधो मख उच्यते'' श्रीमद्भागवत (11.27.7) के इस वचन की 'सुबोधिनी' व्याख्या में व्याख्याकार वल्लभ ने वैदिकपद का वैखानस, तान्त्रिाकपद का पा×चरात्रा तथा मिश्रपद से नामसंकीर्तन आदि कहा है। व्याख्याकार वीरराघव ने 'उभाभ्याम् अर्थाद्वेदपा×चरात्राभ्याम्'' कहकर वेदपद से वैखानस सम्प्रदाय का निर्देश किया है। विष्णुपुराणस्थ श्लोक ''वेदान्तवेदिभिर्विष्णुः प्रोच्यते'' (5.17.15) की व्याख्या में श्रीनिवास मखी ने 'वेदान्तवेदिन्' का अर्थ 'वैखानस' किया है। अमूर्त आराधक, अर्थात् केवल वैदिकयाग सम्पादक और समूर्त आराधक, अर्थात् विष्णुमूर्ति की आराधना में संलग्न – इस भेद से मखी ने वैखानस के दो भेदों का भी निर्देश किया है। वैदिकश्रौत

---

[20] ''तन्त्राणां धर्मशास्त्रोऽन्तर्भाव'' – वरिवस्यारहस्यप्रकाश, पृ.6।

प्रक्रिया का अमूर्ताराधन क्रम ही वैखानस सम्प्रदाय में समूर्ताराधन के रूप में प्रवर्तित और व्यवहृत हुआ है। इस प्रकार से वैखानसों का वैदिकत्व और भी पुष्ट होता है। 'सीतोपनिषद्' (5–6) में इसे मतविशेष कहा गया है। इस उपनिषद् के अनुसार अन्य सभी सूत्रा और स्मृति आदि वैखानससूत्रा के अनुगामी हैं।

इस प्रसंग में आनन्दसंहिता के भी दो वचन अतिमहत्त्व के हैं–

"वैखानसं पा×चरात्रां वैदिकं तान्त्रिाकं क्रमात्।" (5.13)

तथा – "निगमस्तान्त्रिाको मिश्रस्त्रिाविधः प्रोक्त आगमः।
निगमः विखनः प्रोक्तो मिश्रो भागवतः स्मृतः।।
चतुःसिद्धान्तसहितः पा×चरात्रास्तु तान्त्रिाकः।" (8.23.24)

वैखानस एवं पा×चरात्रा साहित्यों के अनुशीलन से बोध होता है कि वैखानस–प्रक्रिया में वैदिक मन्त्राों का और पा×चरात्रा–प्रक्रिया में वैदिकमन्त्राों के साथ–साथ अनेक आगमिक तथा तान्त्रिाक मन्त्राों का भी प्रयोग किया गया है। 19वीं शती के काशीनाथ भट्ट ने अपने लघुग्रन्थ 'वैदिकतान्त्रिाकाधिकारनिर्णय'[21] में समूचे वाङ्मय को चार भागों में विभक्त माना है– शुद्ध वैदिक, तान्त्रिाकवैदिक, शुद्ध तान्त्रिाक और वैदिकतान्त्रिाक। यहाँ शुद्ध वैदिक विभाग में सूतसंहिता (व्यासकृत), पाणिनीयशिक्षा (व्याकरण), जैमिनीयशास्त्रा (मीमांसा), ब्रह्मसूत्रा और उसके शाङ्करभाष्य को रखा गया है। तान्त्रिाकवैदिक विभाग में शिवराघवसंवादरूप वायवीयसंहिता, अक्षपादीयशास्त्रा (न्याय), काणादीयशास्त्रा (वैशेषिक), कपिल का सांख्यशास्त्रा और पात×जल का योगशास्त्रा है। शुद्ध तान्त्रिाक विभाग में एक मात्रा पाशुपत–शास्त्रा को रखा गया है। वैदिकतान्त्रिाक विभाग में शैवसिद्धान्त, पा×चरात्रा और भागवत आदि शास्त्रा रखे गये हैं। इन्हीं तान्त्रिाकवैदिक और वैदिकतान्त्रिाक विभागों के अन्तर्गत तथा इनसे अनुप्राणित पौराणिक साहित्यों में ही निगमागमों का सुन्दर समन्वय हुआ है जिनमें हम उनके आन्तर–सम्बन्धों की खोज एवं उनका विश्लेषण कर सकते हैं, क्योंकि इन्हीं वाङ्मयों में निगमागमों के अन्तःसम्बन्धों के साक्ष्य एवं प्रमाण उपस्थापित हैं। इनके अतिरिक्त इस प्रसंग में सन्तों की परम्परायें भी परीक्षणीय हैं।

इति

---

[21] सरस्वतीभवन पुस्तकालय, मातृका सं. – 85597।

LdkUn vkxe % lkekU; ifjp;

MkW- 'khrykizlkn ik.Ms;
izk/;kid] /keZ&vkxe foHkkx
laLÑrfo|k /keZfoKkul³~dk;
dk'kh fgUnw fo-fo-
okjk.klh & 221005A

vkxe'kkL=k ds vUrxZr ,d foLr`r {ks=k vkrk gS ftuds xzUFkksa dh vifjfer lEifÙk Hkkjr ds fofHké Hkkxksa esa lqjf{kr] izpfyr rFkk ijEijk ds :i esa lEié gksdj vofLFkr gSA vkxe'kkL=k ds vuq'khyu ls fofHké vkxeksa dk ifjKku Hkh gksrk gSA izeq[kr;k vkxe ds nks Hksn gSa& oSfnd ,oe~ voSfndA oSfnd vkxe ds vUrxZr & 'kSo] 'kkä] oS".ko] xk.kiR;] lkSj rFkk LdUn LohÑr gSaA voSfnd ijEijk esa ckS) rFkk tSukxe dh x.kuk gksrh gSA izÑr 'kks/k&i=k esa LdUn vkxe dk ,d lkekU; ifjp; nsus dk fouez iz;kl gSA vkpk;Z 'k³~dj }kjk LFkkfir "k.erksa esa Hkxoku~ LdUn dk uke vR;Ur J)k ls fy;k x;k gSA

Hkxoku~ dkfrZds; ¼lqczã.;½ dh mikluk izkphudky ls gh lexz Hkkjr esa izpfyr gSA ;g mÙkj eas dk'ehj&e.My rFkk nf{k.k esa dqekfjdk&{ks=k esa fo'ks"k izfrf"Br gSA buds uke ls vusd fof'k"V nsoky; rFkk rhFkZ vkt Hkh ogk¡ ns[ks tkrs gSaA mÙkj Hkkjr esa czãpkjh dkfrZds; ds :i esa bl nsork dh mikluk gksrh gS] rks nf{k.k esa] fo'ks"kr;k rfey izns'kksa esa] nks nsfo;ksa ds ifr lqczã.; ;k eq:xu ds uke ls cM+h J)k ds lkFk budh iwtk&vkjk/kuk dh tkrh gSA dkfrZds;] lqczã.;] eq:xu] "k.eq[k] xqg] dqekj rFkk LdUn vkfn dbZ ukeksa ls lqfo[;kr bl nsork dks ijczã ekudj dh tkusokyh mikluk&i)fr ^dkSekje~* uke ls vfHkfgr gSA

Jh ÝsM MCyw DyksFkh us viuh iqLrd ^nh esuh Qslst vkQ eq:xu* esa nf{k.k Hkkjrh; nsork ds bfrgkl rFkk vFkZ dk foospu fd;k gSA rfey esa ^eq:xq* 'kCn dk vFkZ lkSUn;Z] rkt+xh] ek/kq;Z] fnO;rk vkSj vkuUn gSA[1] ;s lHkh xq.k

[1] The Many Faces of Murukan, 42-43, 69, Published by Mountain Publishers, Hague, Neatherland, 1978.

Hkxoku~ lqczã.; esa ik;s tkus ds dkj.k os ^eq:xu* uke ls fiz; mikL; gks x;sA Hkxoku~ eq:x ^'ks;ksu* ¼f'k'kq½ Hkh dgykrs gSaA MkW- DyksFkh us loZizFke vk;Z izHkko ds igys rfey egkdkO;ksa ds vk/kkj ij ^eq:xu* ds fodkl dk fu/kkZj.k fd;k gSA dkO;& laxzg ^pade* ¼Ca≡kam½ eas ^eq:xu* dk LFkku ioZrekyk;sa ekuh x;h gSa vkSj budk lEcU/k ioZrh;tuksa ls tksM+k x;k gSA ys[kd dh ekU;rk gS fd budk lEcU/k f'kdkj ls FkkA ;s ,d izseh rFkk lqUnj dU;k ds fgek;rh FksA ;s Hk; rFkk nq%[k nwj djus okys vuadw ¼ana≡ku½ ekus tkrs gSaA budks flvu ¼C′y□n½ jäo.kZ dk f'k'kq ekurs gSaA buls lEcfU/kr iq"i ihys rFkk ykyo.kZ ds gkrs gSaA bUgsa dkUry ¼K□ntal½] osadS ¼V′≡kai½] dVEiw ¼Katampu½ rFkk dey dk iq"i vfiZr fd;k tkrk gSA gkFkh rFkk eksj bUgsa fiz; gSaA budh iwtk esa ikuh] /kku ;k ukfj;y dk jl] yky cktjk] pkoy] e/kq] yky] ihyk rFkk 'osr iq"i lefiZr fd;k tkrk gSA budk Lo:i f'kdkjh] ;ks)k] uk;d rFkk izseh ds :i esa vafdr gSA[2] mijksä dkO; esa Hkxoku~ eq:gu }kjk leqnz esa vkezo`{k ds :i esa vklqj ^lwjin~e* rkjdklqj rFkk flageq[k ds ekjus dk mYys[k gSA[3] budk lEcU/k ^uj eqxsZ* ¼C′val½ ls Hkh Fkk& ;g mfYyf[kr gSA[4] iqjukuw: uked izkphu xzUFk esa j.kxt ij vk:< fot;'khy eq:gu dk o.kZu izkIr gksrk gSA

eq:gu dh rqyuk ^ek;ksu* ¼M□y□n½ rFkk ^fr:ey* ¼Tirum□l½ ds lkFk dh x;h gSA ;s nksuksa ou rFkk pkjkxkg ls lEcfU/kr gSa vkSj bUgsa dkykUrj esa ^ifjiMy* rFkk ^f'kykIikf/kde~* essa fo".kq ekuk x;k gSA fo'ks"k:i ls budk lEcU/k xksikyÑ".k ls tksM+k x;k gSA[5] uhyfxfj ds igkfM+;ksa ds yksx ydM+h rFkk ekse bdëk djrs FksA bUgsa ^d:Ecl* dgrs FksA buesa ls dqN yksx Hkís iRFkjksa dh mikluk djrs Fks tks fdlh xqQk esa gksrs Fks vkSj mudks cdjk vkSj idk gqvk pkoy p<+krs FksA[6] MkW- xksiky fiYyS dk fo'okl gS fd eq:gu ^dkofr* ¼K□va⊇i½ ds :i esa Hkh iwts tkrs gSa rFkk budk lEcU/k ^fyduku* ¼Liknon½ esa tks gS MkbU;ksll ¼Dinyosos½ dk iyuk FkkA dkykUrj esa ;s

[2] The Many Faces of Murukan, p.26.
[3] The Many Faces of Murukan, p.31.
[4] The Many Faces of Murukan, p.32.
[5] The Many Faces of Murukan, p.34.
[6] The Many Faces of Murukan, p.37.

nksuksa ¼eq:gu rFkk MkbU;ksll½ vk;Z laLÑfr ls ;qä gks x;sA[7] MkW- lsu us vius 'kks/k fucU/k esa bjkfu;u 'kjksjk ,.M bf.M;u LdUn esa bjkfu;u ikSjkf.kd dFkkvksa ds vk/kkj ij 'kjksjk dks LdUn dk Lo:i ekuk gSA[8]

bZlk iwoZ 200 ls bZlk ds 500 o"kZ rd ds dky esa jktlÙkk dk cksyckyk Fkk ftlesa LdUn dh ikSjkf.kd dFkkvksa dk ckgqY; gqvkA LdUn dk loZizFke izlax nSoh iq=kRo ds :i esa izkIr gksrk gSA oSfnd ok³~e; esa Hkh buds lUnHkks± dh deh ugha gSA bUnz dks 'kfä dk iq=k dgk x;k gSA[9] itZU; dks |kSl~ ¼vkdk'k½ dk iq=k][10] blh Hkk¡fr e:rl~[11] rFkk lw;Z[12] dks Hkh |kSl~ dk iq=k ekuk x;k gSA o#.k rFkk fe=k dks n{k dk iq=k cryk;k x;k gSA[13] LdUn ds lEcU/k esa fo'ks"k mYys[kuh; rF; ;g gS fd ^vfXu* dks n{k dk iq=k[14] rFkk lgl dk iq=k[15] Lohdkjk x;k gSA

;gk¡ ;g fir`Ro okLro eas 'kkjhfjd fir`Ro dk |ksrd ugha gS] cfYd og vf/kdkj rFkk 'kfä ls lEiérk dk ifjpk;d gS[16] ftlesa izkphu ihf<+;ksa dk vuqHko izfrHkkflr gksrk jgrk gSA og iq=k dks mldh bPNkvksa dh iwfrZ dk nku djrk gS vkSj mRlkg rFkk 'kfä dk mlesa vk/kku djrk gSA osn esa tSfod izfØ;k dh vis{kk xq.kkRed mRifÙk dk ifjp; vf/kd izkIr gksrk gS tSls] vkdk'k ds pkjksa fn'kkvksa ls i`Foh rFkk lw;Z mRié gksrs gSaA bl izdkj ;s nksuksa vkdk'k ds iq=k gSaA[17] firk:ih inkFkZ dk iq=k vuqHko djkrk gS ;k izdk'ku djkrk gSA bl izdkj firk iq=k esa lekfgr gS vkSj iq=k firk dk izfrfuf/kRo djrk gSA[18] ^^vkRek oS

---

[7] Skand. The Alexander Romance in India, N. Gopal Pillai, in Proceedings of the All India Oriental Conference, Vol IX, Trivendrum, 1937, pp.987.
[8] Iranian Sarosha and Indian Skand by Dr. Sen, Indo-Iranics, IV, No.1, July 1450, p.27.
[9] ^^lwuq% lgl% & _Xosn 6@18@11(6@20@1A
[10] _Xosn 7@102@1A
[11] _Xosn 10@77@2A
[12] _Xosn10@37@1A
[13] _Xosn 8@25@5A
[14] _Xosn 1@95@6A
[15] _Xosn 6@48@5] 1@27@2A
[16] Some Observations on the Relation Between 'Gods' and 'Powers' in the Veda. A Prpos of the Phrase 'Sunah Sahasah', Jan. Gonda, The Hague, Mouton 1959, pp.6.
[17] _Xosn 1@160@3A
[18] egkHkkjr 1@159@11A

tk;rs iq=k%** Hkh fufnZ"V gSA[19] bl izdkj iq=k firk ds leku gS vkSj firk iq=k esa viuh thou&;k=kk t+kjh j[krk gSA[20] blhfy;s ijEijk esa iq=k dks eks{k dk lk/ku ekuk x;k gSA bl izdkj og l`f"VdrkZ ds :i esa izfrf"Br gSA vfXu iq=k gS vkSj ogh firk gksdj vius gh firk dks 'kfä iznku djrk gSA[21] vfXu dks iztkifr Hkh dgk x;k gSA bl izdkj vfXu lz"Vk Hkh gS vkSj firk Hkh gSA[22] #nz dks Hkh izk;% vfXu dk Lo:i ekuk x;k gS bl izdkj mudks LdUn dk firk Hkh dgk x;kA bl Hkk¡fr LdUn firk&iq=k nksuksa gSaA buls fgj.;xHkZ iSnk gksrk gS vkSj os Lo;a fgj.;xHkZ Hkh gSaA[23]

iq=k dks firk ds ln`'k ;k lz"Vk le>uk iq=k dk ekSfyd Lo:i gSA bldk vfHkizk; ;g gS fd iq=kRo fo'o ds miknku dk ewy gSA izkjEHk esa iq=k dk izknqHkkZo FkkA[24] tks mRié gqvk mls dHkh fgj.;xHkZ rFkk dHkh okp~ dgk x;kA fofHké izdkj dh l`f"V ijEijk eas ;s ewyrÙo ekus tkrs gSaA okp~ dh mRifÙk czãk ls gqbZA ;g eSFkquh l`f"V dk ewy Fkk ftlls ewy ljd.Ms ¼ljir½ dh mRifÙk gqbZA[25] fgj.;xHkZ Lo.kkZ.M ;k Lo.kZe; cht Fkk tks lalkj gqvkA[26] bl izdkj izkphu laLÑr fopkj/kkjk esa ;g ekuk tkrk gS fd iq=k dsoy mRiknd gh ugha gS cfYd og mRik| Hkh gSA

oSfnd rFkk oSfndksÙkj lUnHkZ esa iq=k dks foosd Hkh ekuk x;k gSA tks mRié gqvk gS mls o`f) dk Qy ekurs gSa] dkykUrj esa mls eu dk iq=k ekuk x;k gSA[27] bl izfØ;k esa ok.kh ls igys fopkj Fkk] rRi'pkr~ fopkj vfHkO;fä dk lk/ku gks x;kA ,srjs; vkj.;d eu dks 'kq: dk Lo:i ekurk gS rFkk ok.kh dks ckn dk Lo:iA[28] c`gnkj.;d mifu"kn~ ok.kh dks nso dh nwljh

---

[19] c`gnkj.;d mifu"kn~ 1@5@11('kriFk czkã.k 10@4@5@6] 6@1@1@8A
[20] egkHkkjr 1@159@4] 5@118@7] 7@173@54A
[21] _Xosn 1@13@11A
[22] 'kriFk czkã.k 10@2@1&2A
[23] The Many Faces of Murukan – pp 46-47.
[24] dBksifu"kn~ II@4@6A
[25] v½ oktlus;h lafgrk 23@20A
c½ dBksifu"kn~ ~ II@4@6A
[26] 'kriFk czkã.k 6@3@1&20] 8@1@4] 10A
[27] egkHkkjr] 'kkfUrioZ I@200@5A
[28] ,srjs; vkj.;d 3@1@1A

vkRek dgrk gS rFkk vkpk;Z 'k³~dj bls vuUr Kku ekurs gSaA[29] mifu"kn~ dky eas iq=kRo dk foosd vejiq=k luRdqekj ds :i eas ewfrZeku gqvk] tSlk fd ukjn us vkRek ds fl)kUr ds izfriknu ds volj ij NkUnksX;ksifu"kn~ esa fu:fir fd;k gSA[30] mijksä foospuk ds vk/kkj ij ik'pkR; euh"kh MkW- DyksFkh us LdUn dks iq=kRo dk ewy ekuk gS vFkkZr~ bUgha ls l`f"V dh mRifÙk gqbZ rFkk ;s gh l`f"V ds miknku cusA

LdUn dk fl)kUr ;ks)k ls Hkh lEcU/k j[krk gS fdUrq ;g ;ks)k ds fopkj dh mRifÙk ds iwoZ dh fLFkfr gSA bUnz us o`=k dk o/k fd;kA o"kkZ dh mRifÙk dh] ftlls i`Foh esa moZjk 'kfä mRié gqbZA blh Hkk¡fr vfXu rFkk #nz Hkh ;ks)k gSaA vfXu lsuk j{kd gS ckn esa ogh lsukuh gks x;sA[31] #nz us nsorkvksa ds fy;s f=kiqj ds fo#) usr`Ro fd;k vkSj vfXu us vlqjksa ds fo#)A[32] #nz us r{klksa dks Hkxk fn;kA[33] mUgksaus f=kiqj dk fo/oal fd;kA mlus nsorkvksa dk Hk; nwj fd;k rc mUgsa lsukuh dgk tkus yxkA ;ks)k dk dk;Z fo'oj{k.k ;k /keZj{k.k gSA blhfy;s og fouk'kd rFkk ltZd nksuksa gSA 'k=kqvksa ds uk'k }kjk og fo'o&O;oLFkk dks O;ofLFkr djrk gSA izkphu O;oLFkk dh LFkkiuk djrk gS vkSj ubZ O;oLFkk ds }kjk Lor% nsoRo izkIr djrk gSA blls ;g ckr fl) gksrh gS fd #nz rFkk vfXu ds ewy:i esa LdUn ;ks)k cudj l`f"V dk j{k.k djrs gSa vkSj nsoRo izkIr djrs gSaA MkW- oklqnso'kj.k vxzoky l`f"V dh bl izfØ;k dks laf{kIr djrs gq;s dgrs gSa fd leqnz fo'oxHkZ gS ;k ty fl)kUr gS tks vkdk'k ls ifrr cht dks /kkj.k djrk gSA ewycht rst :i gS vkSj fgj.;xHkZ ewycht gksus ds dkj.k Lo.kZe; gS tks leqnz ls mRié gksrk gSA og bl :i esa mRié gksrk gS fd lalkj dks 'okl dh 'kfä iznku djrk gSA lw;Z Hkh lqugyk cht gSA ;g yky ;k lqugyk cht nsoekrk vfnfr ds xHkZ ls mRié gksrk gSA iwoZ esa lg leqnz eas fNik Fkk vkSj vc

---

[29] v½ c`gnkj.;dksifu"kn~ 1@6@3A
c½ c`gnkj.;dksifu"kn~] 'kadjHkk"; 3@19@28] 7A
[30] NkUnksX;ksifu"kn~ 7@4@1A
[31] _Xosn 10@84@2] vFkoZosn 3@1@1A
[32] _Xosn 3@15@1] 7@15@10A
[33] _Xosn 8@6@2A

oSf'od fo/kku ds dkj.k Åij mNky fn;k x;k gSA[34] ;g lw;Z Lo;a mRié gksrk gS vkSj fo'o dh mRifÙk djrk gSA bldk lEcU/k ;fK; vfXu ls gSA

;g iq=k] lw;Z rFkk ;ks)k :i LdUn esa lekfgr gksrs gSaA ;g vU; nsorkvksa esa Hkh jgrs gSa fdUrq buls lEcfU/kr jgrs gSaA os lekfgr :i esa bUnz dk :i xzg.k djrs gSa tks 'kfä dk iq=k gSA[35] bUnz dh mRifÙk vkdk'k ¼|ql~½ ls gqbZA[36] bldk jax lqugyk gS] jFk Hkh lqugyk gSA ;g nsorkvksa dk ifr gSA vkSj nsorkvksa dk uk;d HkhA #nz Hkh yky vk¡/kh&rwQku ds nsork gSa rFkk ;ks)k gSaA dqN ,sfrgkfld {k.kksa esa fgj.;xHkZ dks iSnk Hkh djrk gSA vfXu nks ydfM+;ksa ¼vjf.keUFku½ ls mRié gksrh gSA[37] rki ewy tksM+ksa ls mRié gksrk gS vkSj lqugyk cht ftlls l`f"V gksrh gS og lw;Z gS fQj Hkh og leqnz ls mRié gksrk gS ¼vika uikr~½A[38]

xhrk esa Hkxoku~ LdUn dks viuh gh foHkwfr ekuk gSA[39] oLrqr% Hkxoku~ dkfrZds; lHkh fo|kvksa ds vkpk;Z gSa] fdUrq fo'ks"k&:i ls ;q) fo|k] jk"Vª j{kk rFkk lk³~xz.kfed fot; ds eq[; nsork gSaA nf{k.k Hkkjr esa ;g ekU;rk gS fd nsoksa ds lsukifr gksus ds dkj.k Hkxoku~ lqczã.; us N% ifo=k LFkyksa esa lsukx`g mifLFkr fd;k FkkA rfey Hkk"kk esa bUgsa ^^iMSohMq** dh laKk iznku dh x;h gSA ;s "kV~LFky nf{k.k eas buds mikluk ds iz/kku dsUnz gSaA Hkäksa dks fo'okl gS fd ;s "kV~LFky& 'kjhj ds "kV~pØksa ds izrhd gSaA ;s lsukx`g & fr:II;dqUje~] fr:psUnwj] iyuh] LokfeeyS] dqU:rksjkMy rFkk iyeqfnj pksyS uked uxfj;ksa esa fLFkr gSaA buesa ls fr:psUnwj uked {ks=k leqnz rV ij clk gqvk gS tgk¡ ,d xqQk esa lqczã.;Lokeh dk HkO; nsoky; gS rFkk 'ks"k ik¡p LFky igkfM+;ksa ij fLFkr gSaA ,slk fo'okl fd;k tkrk gS fd bu LFkyksa ij nso us cgknqjhiw.kZ dk;Z lEikfnr fd;k gS vkSj

---

[34] LikdZ~l~ Ýke nh osfnd Qk;j] rkjkfizafVax izsl] okjk.klh] 1962] i`- 18&24A
[35] _Xosn 6@18@11] 6@20@1A
[36] c`gnkj.;dksifu"kn~ 6@4@22A
[37] _Xosn 1@177@1A
[38] LikdZ~l~ Ýke nh osfnd Qk;j] i`- 6&9A
[39] ^^lsukuhukega LdUn%** xhrk 10@24A

fo'ks"k :i ls vkt Hkh ogha fo|eku gSaA ;s LFky lEiw.kZ fo'o dks vius esa lekfgr dj fLFkr gSaA

LdUn dk ,d uke dqekj Hkh gSA dqekj 'kCn dk iz;ksx loZizFke vfXu ds fy;s fd;k x;k gSA vfXu dqekj ek¡ ds vf/kd fudV gSA[40] 'kriFk czkã.k eas m"kk dks dqekj dk ekr`Ro iznku fd;k x;k gSA izHkkr csyk yksduk;d ¼Hkxoku~½ ls xHkZ/kkj.k djrh gSA[41] dkykUrj eas dqekj dks ,d cPps ;k iq=k ds :i esa LdUn dgk x;kA ^LdUn* 'kCn ^LdUn* /kkrq ls fu"ié gS ftldk vfHkizk; gksrk gS& vkØe.k djuk] dwnuk] mBuk] fxjuk] u"V gks tkuk] QV tkuk rFkk pwuk ¼Spill or ooze½A oLrqr% bl 'kCn dk vFkZ gS oh;ZA[42] NkUnksX;ksifu"kn~ ds lkrosa v/;k; esa dqekj dks luRdqekjk ¼'kk'or iq=k½ ds led{k Lohdkjk x;k gSA luRdqekj dks mlh LFky ij foosd ls lEcfU/kr ekuk x;k gS ftUgsa l`f"V jgL; Kkr gSA Kkuoku czkã.k ukjn dks bl 'kk'or ckyd us vkRek dk mins'k fn;k gSA blls ;g vfHkO;ä gksrk gS fd ckyd l`f"V ds izkjEHk esa gh fo|eku gksus ds dkj.k mldk okLrfod vFkZ tkurk gSA rSfÙkjh; vkj.;d esa luRdqekj dk lUnHkZ miyC/k gS tgk¡ bUgsa "k.eq[k dgk x;k gSA[43] ckS/kk;u /keZlw=k eas x`gLFk }kjk fi.Mnku ds volj ij x.kifr rFkk LdUn dk mYys[k gSA ;gk¡ Hkh bUgsa luRdqekj ds led{k crk;k x;k gSA[44]

x`glaLdkjksa esa LdUn dks /kwrZ dgk x;k gSA ;g o.kZu jgL;e; gSA bldk o.kZu vFkoZosn ds ifjf'k"V esa LdUnHkkx ds :i esa fn;k x;k gSA[45] bl m)j.k esa nsork vusd ekrkvksa ls f?kjk gqvk gSA buds lkFk lgizksa ckyk;sa gSa tks eksj] frfÙkj] gkFkh] phrk rFkk flag ls ;qä gSaA buds N% eq[k rFkk ckjg vk¡[k gSaA ;gk¡ bUgsa dkfrZds; rFkk fo'kk[k dk HkkbZ crk;k x;k gSA blh lUnHkZ eas bUgsa fo'kk[k Hkh ekuk x;k gSA buds ikl ,d lsuk gS] vusd vuq;k;h gSa] jFk gSa rFkk ;s ?k.Vh

[40] _Xosn 5@2A
[41] 'kriFk czkã.k 6@1&3A
[42] laLÑr & vaxzsth 'kCndks'k] }kjk& eksfu;j fofy;e] laLdj.k 1951] i`- 1256A
[43] rSfÙkjh; vkj.;d 10@1A
[44] The Many Faces of Murukan p.50.
[45] LdkUn&dkfrZds;] MkW- i`Fohdqekj vxzoky] i`- 104&107] izdkf'kr izkphu Hkkjrh; bfrgkl ,oa laLÑfr foHkkx] ch-,p-;w-] 1967A

ck¡/krs gSaA ;s f'ko] vfXu rFkk ÑfÙkdkvksa ds iq=k gSaA budk lEcU/k #nz rFkk i'kqifr ls gS rFkk ;s vrqyuh; vkSj vuqdj.kh; gSaA budks jä iq"i] jäysi rFkk ykyeqxZ fiz; gSA iwtk ds e/; esa ekyk] ?kf.V;k¡] Hkqtn.M rFkk niZ.k j[ks tkrs gSaA bl nsork dks nf/k] v{kr] 'kdZjk] feys gq;s vé] feBkb;k¡] lqxU/k] iq"i rFkk Qy lefiZr fd;k tkrk gSA laLdkj ds vuUrj dke lw=k dk ikB gksrk gS ftlls ;g vfHkO;ä gksrk gS fd nso dkeqd gSA iwtk dk mís'; iqtkjh dks nq"izHkkvksa ls eqä djuk gSA iqtkjh vius ckgq esa Hkqtn.M /kkj.k djrk gS tks vf'ouhdqekjksa rFkk vkfnR; ds vk'khokZnksa ls ;qä gksrs gSaA izkFkZuk esa in] jRu] lsod] /ku] vé] i'kq] fofHké izdkj ds vkuUn dh lkexzh] okd~'kfä rFkk Kku dh dkeuk dh tkrh gSA[46] ikfy lkfgR; esa ^egklsu in* izk;% feyrk gS ftldk vfHkizk; gS ftlds ikl cgqr cM+h lsuk gksA ;g in e`R;q rFkk ekj ds fo'ks"k.k ds :i esa nh?kfudk; esa fufnZ"V gSA[47] tkrdxkFkk esa Hkh blh vFkZ esa bldk iz;ksx gSA[48] LdUn ds fy;s ;g in iz;qä gSA izk;% lkfgR; esa LdUn dk uke ekbu ls lEcfU/kr nsork ls lEc) ekuk tkrk gS fdUrq MkW- i`Foh dqekj vxzoky dk dFku gS fd bu izek.kksa ds vk/kkj ij bldk 'kkfCnd vFkZ e`R;q ;k ekj gh fy;k tkuk pkfg;sA[49] ikfylkfgR; esa LdUn ds uke ds fy;s iz;qä ^xqg* 'kCn dk izek.kdkjh iz;ksx feyrk gSA nh?kfudk; xqy 'kCn dk iz;ksx ;{k ds fy;s fd;k x;k gSA[50]

tSukxe esa ^[k.Mekg* 'kCn dk iz;ksx gS ftlesa ^eg* ds }kjk ^LdUneg* dh iwtk dk ladsr feyrk gSA[51] ;fn vko';diw.kZ dks [k.Mnso dh iwtk dk lekjksg ekuk tk; rks ;g egkohj ds thou dky esa Hkh izpfyr Fkk D;ksafd tc os JkoLrh x;s Fks rks mUgsa [k.Mnso dh ewfrZ jFk ij j[kdj egksRlo ds :i esa tkrh nh[kh FkhA[52]

---

[46] The Many Faces of Murukan, p.50.
[47] nh?kfudk; okY;w- II 7@12A
[48] tkrd II] i`-166A
[49] LdUn dkfrZds; vksfjftu ,.M Msoysies.V] i`-17A
[50] nh?kZfudk; III] i`-164A
[51] U;k;/kEedgk] oS| }kjk lEikfnr] i`-23A
[52] ykbQ bu nh tSu dSuksUl~] ts-lh-tSu] i`-217A

egkdkO; dky rd LdUn dh iwtk izfl) gks x;h FkhA okYehfd jkek;.k esa LdUn dks vfXu] xaxk unh rnuUrj #nz dk iq=k crk;k x;k gSA[53] ;gk¡ ij ;g izfrikfnr gS fd Hkxoku~ dkfrZds; ds tUe dk izlax vR;Ur iq.;e; vkSj leLr e³~xyksa dk fo/kk;d gSA tks euq"; bl i`Foh ij jgdj dkfrZds; dh mikluk djrk gS vkSj bl pfj=k dk vuqlU/kku djrk gS og vR;Ur le`f)'kkyh] vk;q"eku~] iq=k&ikS=kksa ls ;qä rFkk vUr eas Hkxoku~ LdUn dh lk;qT;rk dks izkIr djrk gSA[54] egkHkkjr ds ouioZ esa LdUn dks vfXu dk iq=k ekurs gq;s budk foLr`r o.kZu fu:fir gSA[55]

ÑfÙkdkiq=k LdUn vfXu ls gh mRié gq;s Fks& ,slk Jhen~Hkkxor eas of.kZr gSA[56] egkHkkjr ds 'kY;ioZ eas bUgsa egs'oj dk iq=k dgk x;k gS rFkk buds vlqj fot; ij bUgsa jkT;xíh nh x;h gSA[57] vuq'kklu ioZ esa bUgsa f'koiq=k ekuk x;k gS tks ikoZrh ds lkFk ØhMkjr gSA[58] #nz] ikoZrh] vfXu vkSj xaxk& eas pkjksa vius dks LdUn dk tUenkrk ekurs gSaA ;g lUnsg iSnk gksrk gS fd LdUn igys fdlds iq=k gq;s\ ysfdu nso ds pkj :i & 'kk[k] fo'kk[k] uSxes; rFkk LdUn fufnZ"V gSaA buesa #nz dks LdUn] ikoZrh dks fo'kk[k] vfXu dks uSxes; rFkk xaxk dks 'kk[k dh tUenk=kh gksus dh dYiuk dh tkrh gSA dkfynkl Ñr dqekjlEHko dkO; LdUn ds tUe ij vk/kkfjr gSA[59] ikf.kfu ds v"Vk/;k;h esa LdUn vkSj fo'kk[k dh iwtk dk ladsr gSA[60] fy³~xiqjk.k esa bUgsa oºu~;kRek dgk x;k gSA[61] okeuiqjk.k rFkk czãiqjk.k esa ;g izfrikfnr gS fd vfXu us f'ko dk oh;Z xzg.k fd;k tks nsorkvksa ds isV esa pyk x;k D;ksafd vfXu nsorkvksa dk eq[k gSA[62] eRL;iqjk.k esa ;g mfYyf[kr gS

---

[53] ckydk.M & v/;k; 36&37A

[54] dqekjlEHko'pSo /kU;% iq.;LrFkSo pAA
Hkä'p ;% dkfrZds;s dkdqLFkHkqfo&ekuo%
vk;q"eku~ iq=kikS=kS'p LdUnlkyksD;rka oztsr~AA ok-jk- ckydk.M 37@31&32A

[55] egkHkkjr ouioZ] v/;k; 223&232A

[56] Jhen~Hkkxoregkiqjk.k 6@6@14A

[57] egkHkkjr 'kY;ioZ] v/;k; 46&47A

[58] egkHkkjr vuq'kklu ioZ 84&86A

[59] dqekjlEHko & dkfynklA

[60] v"Vk/;k;h 5@3@99A

[61] fy³~xiqjk.k] v/;k; 57A

[62] v½ okeuiqjk.k] v/;k; 57A

fd tc oh;Z 'kfä ip ugha ik;h rks ty ds :i esa foLQksV gqvkA[63] ojkg iqjk.k esa fo".kq dks f'ko dk :i ekuk x;k gS vkSj mUgsa iq#"k dgk x;k gSA ogk¡ mek rFkk Jh vO;ä gSaA buds esy ls dkfrZds; esa vgadkj us tUe fy;kA[64] Jhen~Hkkxoriqjk.k esa LdUn dks fo".kq dk vorkj ekuk x;k gSA[65] LdUnegkiqjk.k esa czãukjn laokn ds :i esa lqczã.;lglzukeLrks=k miyC/k gSA LdUn iqjk.k dk vfHkizk; ^dUriqjk.k* ds :i esa vuqfnr gSA dq"kk.kdkyhu flôksa ij LdUn] dqekj] egklsu rFkk fo'kk[k ds fp=k izkIr gksrs gSaA blls ;g izekf.kr gS fd f}rh; 'krkCnh eas budh iwtk izpfyr FkhA[66] lUr rqylh dgrs gSa &

^^vkxe fuxe izfl) iqjkukA
"kUeq[k tUeq ldy tx tkukAA**[67]

LdUn dks xzgkf/kifr dgk x;k gSA[68] vk;qosZn ds v"Vk³~x gSa ftuesa ik¡pok¡ Hkkx & ^dkSekjHk`R;* ds uke ls izfl) gS tks blh dqekj ls lEcU/k j[krk gS vFkkZr~& ckyx`g lsA fpfdRlk&rU=k ds izkphu xzUFkksa esa cPpksa ds mipkj ;k vfHkpkj dh fof/k fu:fir gSA cky&tUe ds NBs fnu "k"Bh euk;h tkrh gS "k"Bh ekrk dk mYys[k Hkh gSA[69] ;s lHkh i{k Hkxoku~ LdUn ls tqM+s gq;s gSa rFkk budh iwtk&mikluk ls iwjk ykHk feyrk gSA MkW- i`Fohdqekj vxzoky ds vuqlkj LdUn ckydksa dks d"V igq¡pkus okys gSaA ;gh izflf) gS fd ;s l|% ckydksa dks ladV esa Mkyrs gSa vkSj ekrk;sa budh j{kk ds fy;s mik; djrh gSaA[70]

v"Vk³~xlaxzg esa mfYyf[kr gS fd f'ko us LdUn dks ckjg xzg iznku fd;s & ik¡p iq#"k rFkk lkr fL=k;k¡ & tks lHkh LdUn dh lgk;rk eas yxh jgrh gSaA buds Åij miyC/k lkfgR; i;kZIr ek=kk esa gS fdUrq mldh lekykspukRed foospuk visf{kr gSA

---

c½ czãiqjk.k] Hkkx 2] 10@27A

[63] eRL;iqjk.k] v/;k; 51A

[64] ojkgiqjk.k 25@1&43A

[65] Jhen~Hkkxoriqjk.k 11@4@17A

[66] The Development of Hindu Incography, J.N.Banerjee, Calcutta 1956, pp.145.

[67] jkepfjrekul] ckydk.M] nksgk 102 ds cknA

[68] ue% LdUnk; nsok; xzgkf/kir;s ue%A & lqJqr lafgrk] mÙkj rU=k & 27A

[69] vk;qosZn dk bfrgkl] lwjepUn] Hkkx 1] i`- 107A

[70] LdUndkfrZds;] 1966] i`- 49A

bfr

TANTRIC BUDDHISM IN ORISSA : AN APPDRAISAL

Dr. Subhash.Chandra.Dash
P.G.Department of Sanskrit
Utkal University
Vanivihar, Bhubaneswar, Orissa

0.0 INTRODUCTION

Orissa has a rich tradition of Tantric Buddhism which is known from the icons available at many places viz. Ratnagiri, Lalitgiri, Udayagiri, Pushpagiri, Khiching and Jajpur etc. The Buddhist Gods and Goddesses like-Avalokite♣vara, Praj□□p□ramit□, Padmap□⟩i, Vajrap□⟩i, Ma□ju♣r×, Maitreya, T□r□, Marici, Vajrav□rah× and kurukulla etc are the examples. The Archaelogical findings from the above places inform us that the sects like Mah□y□na and Tantray□na were very much in practice here. Since 7th Century A.D. the Buddhist Tantric practices developed fully in Orissa. The *Mah□y□na sutras* were changed into *dh□ri⟩is* and then transferred to mantras. Various *m⟨dr□s, mandals, Sam□dhi* and *Abhi•eka* practices came into practice. The pancamakaras also were a part of the Tantric worship.

In the Buddhist Tantra ♣□stra what is called *U∂∂y□na p×⊒ha*, the *Br□hma⟩ Tantras* calling it as Udrapitha. This place was known as Udisa or Odisa, which changed into Orissa afterwards. The king of U∂∂iy□na was Indrabhuti who wrote a text called *Jnanasiddhi* is known as the originator of Vajray□na. He invoked Lord Jagannath in the beginning of his text and many a times regrads Him as his Deity. The Tantray□na was changed into Vajray□na afterwards and became popular in then Orissa. He also made emphasis on two deities-Vajravarahi and Kurukulla which belong to U∂∂iy□na Tantra and mentioned in the text *Sadhanam□l□*. These deities are only found in Orissa and nowhere else.

Again in Orissa Sahajy□na and were also flourished and practiced in respective manner. The Tantric worship contributed to the development of various idols Bauddha St⟨pas, and Vih□ras. The aspects of Sadhan□, Up□san□, Siddhi concepts were very much associated for such development and for which Orissa became the prime place of Tantric Buddhism.

The present paper will highlight the above points and make some observations regarding the development of Tantric Buddhism in Orissa.

1.1 ORIGIN OF BUDDHIST TANTRA

The origin of the *Tantras* dates back to ancient times, much earlier than the period when Buddhist ideas come to dominate. It has been accepted by the historian & oriental scholars as well as that the Tantric doctrines supported with *mantra* & *ma⟩∂alas* prevailed during the lifetime of Buddha. It has been recorded that Buddha was himself against all miraculous & mysterious feats, but he had to yield to some extent to some public consideration for *mantras*, which were believed to be endowed with such power that nothing was impossible with them on their proper application. According to the famous logician Santaraksita & his discipline Kamalasila Buddha gave instruction on

mantras to person who were not keen after *nirv□)a* but aspired after worldly happiness & prosperity. Later on this element of mysticism in the Buddhist cult produced a rift in the Buddhist camp & was the direct cause of the introduction of mysticism in Buddhism, which later on developed, into *Mah□y□na* and subsequently into *Vajray□na*.

After the *mah□parinirv□)a* of Buddha, divergence of views appeared within a century or two among his followers. While the *sth□viras* (the old) insisted on a strict observance of the rules and regulation for the members of the Sa≡gha, in rigid conformity with the teachings of Buddha, a younger generation arose which rebelled against those disciplinary measures as regards diet, conduct, morals, celibacy etc. and strongly demanded relaxation of rules, their idea being that salvation lay in only leading a normal life. Limited in number they went on preaching their new gospel in secret and spread their ideas among the populace in the shape of song, which in spirit were diametrically opposite to the teaching of Buddha. These ideas spread from Gurus to disciples.

After the *parinirv□)a* of Buddha his religion underwent tremendous changes. The Buddhist thinkers were influenced by Tantric doctrines which had all along persisted among the people. The mediaval period beginning with the later part of seventh century down to the advent of Mohammedan powers may be rightly termed as the Tantric Period. The Tantric ideas which were scattered among the public by songs composed by Tantric *S□dhakas*, called *Tantr□c□ryas* were now collected works come into existence in large numbers. *Praj□□p□ramit□* introduced worship of Buddha with all its paraphernalia of worship according to the Hindu mode side by side grew up puranic literature with interesting accounts of the ancient time couched in a language appealing to the public taste. Observance of vows and worship of the Gods and goddesses eulogized in this *puranas* were stated to yeild material prosperity in this life and happiness hereafter. Moreover, the Buddhists defied not only the important personalities,s has been done much later by the Bengal *Vai•)avas* but also defiled ideas and philosophical thoughts just as an artist will portray the spring or the famine on his canvas. Again this had reaction on the Hindus who readily incorporated the Buddhists also in the manner introduced in their *Tantras* gods like *Ga)e♣a* and *Sarasvat×*.

1.2 BUDDHIST TANTRIC PRACTICES IN ORISSA

The role of ancient Orissa in the development of Buddhist religion, philosophy and *Tantra* will be remembered for ever in the history of Buddhism in India. The archaelogical remains of several Buddhist centers, st(pas and innumerable images of various gods and goddesses and Tantric deities discovered so far, prove the popularity of Buddhism among the people of Orissa for the past several centuries.

It is known from the history of Buddhism that in the first phase the Buddhist, Therav□da and Sarvastiv□da continued. In Orissa in course of time the philosophy of M□dhyamika and Vij□□nav□da (Yog□carav□da) developed

and subsequently the Vajray□na, Kalacakray□na and Sahajay□na of the Mah□y□na school of Buddhism were innovated and propagated in Orissa.

The renowned proffessors, preceptors, great teacher and scholars who lied in the Buddhist religious centres of Orissa namely, Parimalagiri, Saurabhagiri, Bhorasaila, Ratnagiri, Lalitgiri, Tamralipta, Chelitalo, Dantapura of U∂∂iy□na or ancient Orissa Contributed much to the development of Tantric Buddhism through which Buddhism in the later period developed into a world religion.

The valuable works written on different aspects of Tantric Buddhism are now very rare to us. Many work are even now in manuscript form in and outside India. But the work which have come to the notice of the scholars have unfolded many important facts about the history and culture of India of that period. From the vast Buddhist literature especially Buddhist Tantras, a maiden effort is made here to present briefly an introduction to the Buddhist Tantra work of Orissa as detailed study could be prepared due to non-availability of original work in Orissa and went of their publication as well.

The concept of Tantric Buddhism developed in Orissa due to the downfall situation of Mah□y□na Buddhism to protect the Buddhist religion they adopted due to some different techniques, which are quite similar with the Hindu religion. The figures of Lord Buddha with different parts changed the total system of Buddhism. Their main intention was to save the Buddhism. Due to the establishment of Tantra and other techniques it had some influence on the culture and tradition of Orissa from 4th Century A.D.

Culture is the applied dimension of civilization. If civilization is theory, culture is the practice. Culture embodies the religious social & the academic life of people individually & collectively. Saddharma or Buddhism had its bold grip in Orissa right from 6th century B.C. till 12th century A.D. Orissa afforded so much favorable field for growth of the Dharma that Orissa is rightly called the cradle of Buddhism. This being so Orissa assimilated, practiced and preached well the philosophy as enunciated by Therav□da, P□ramit□v□da and Tantrav□da popularly known as H×nay□na, Mah□y□na and Tantray□na respectively. Of the three cults of Buddhism, Mah□y□na otherwise called Boddhisattay□na was predominant in Orissa as would be evident from the numerous stone status of Boddhisattvas and Boddhisattvas excavated in several part of Orissa. All of aesthetic beauty and excellence next in order was Tantray□na as would be evident from the esoteric architectures of Tantric deities. Before dealing with the subject with regard to propagation and influence of Tantric Buddhism in tribal areas, the traits and characteristics of the tribal people living in Orissa region needs some elucidation.

It can be traced in (Sagajay□na) Tantric Buddhism. The whole yogic process of the Sahaja school is found to be based on a highly sublime aspect of the sex where the S□dhaka is to embrace and sport with the female |akti, called as the C□⟩∂□l×, Dombi, Savar×, Sahaja Sundar× etc. *Ascharya Charyachaya* (10th-14th century) contains eloquent proof of this conclusion. The language used in the *Ascharya Charyachaya* is claimed to be in the primitive Oriya form. The diction in this poem clearly suggests that Sahay□na or Tantric Buddhism had a strong base in the tribal belt of Orissa.

1.3 TANTRIC DEITIES OF ORISSA

The image of the goddess in this group is identified to be the figure of Kurukulla and her Dh□ra⎞× is found inscribed just below her seat. She is represented in Lallit□-k•epa pose holding the red lotus and the bow in her two left hands and exhibiting the club and the Varada attitude in two righthands. She may thus be called a variety of Tarodbhava Kurukulla although her attributes somewhat deviate from the usual S□dhana. Kurukulla is a Tantric goddess, who if propitiated is believed to make the S□dhaka capable of bewitching men and women of all status and position. The Mantra of this goddess is "Om Kurukulle Hum H♦th Sv□h□", and if it is muttered ten thousand times all persons will be bewitched. Thirty thousand would be sufficient for subduing a minister and one lakh for a king. She can even confer on her devotees the power of subduing all ministers and all Kings.

Inside another niche a beautiful figure of a standing god is found holding in his left hand the stalk of a lotus flower which is super-imposed by a sword while his right hand bestows favour on the worshipper. The deity wears princely ornaments and displays the sentiment of love, and is accompanied by two female figures- one Praj□□, and the other probably T□r□, sitting on either side of him in ardhaparyanka pose. This image appears to be a variety of Sthira Cakra Ma□ju♣r×, a sitting proto-type of which is found in the collection if the Bang×ya S□hitya Pari•ada.

Just above the pass between the Landa and the Parabhadi hills there is a temple of the Tantric goddess popularly called Basuli, built probably on the ruins of an older shrine, and containing a few Bodhisattva images. To the outer wall of this temple a standing Avalokite♣vara has been attached, which holds a lotus stalk in the left hand and expresses Varada attitude in the right. The Inscription, incised on its slab, suggests that the image belongs to the 8th-9th Century A.D., and many other images of this temple may be assigned to that period on the basis of iconographic characteristics.

The T□r□ images of Ratnagiri are seen in graceful tribhanga poses and the largest one among them, preserved in the Patna Museum, measures 5'.5" by 3'.5". The image represents the two-armed T□r□, emanating from the five Dhy□ni Buddhas, the representations of whom are seen at the top of the slab. On both the sides of the image are illustrated the eight perils under which the worshipper is to seek the protection of the goddess. She is, therefore identified as A•⊇amah□bhay□ T□r□, deities along with the principal goddess are said to have emanated from the syllabus of the T□r□ Mantra which is as follows:

"Om T□re Tuttare Ture Sv□h□".

The Bodhisattva images of this hill are also remarkable by the hugeness of their sizes and they are all represented as two armed or four armed and as sitting or standing figures. One four armed Avalokite♣vara of life size (6'1" by 3'8") is found standind in a pose of ease, resting his body on the left leg, the right leg being slightly flexed. A sitting image of two armed Avalokite♣vara of this hill is now preserved in the Indian Museum and its plastic treatment like that of the Vai♣rava⎞a image from Udayagiri suggests a

round and muscular body with vigour and life. The image sits in Lalita pose supported by two crounchant lions, who appear to be roaring and on the left of it a lotus with a long stalk is found rising from the ground. We are inclined to regard this image as a variety of Si·han□da Avalokite♣vara, who appears in many forms in various parts of India.

Among the Tantric images found at Ratnagiri, mention may be made of a two armed Heruka, which measures 5'2" by 2'6". It wears a long garland of human skulls and holding a Khatv□nga in its left arm dances with intoxication over a corpse, in ardhaparyanika pose. Heruka, an emanation of Akssobhya, is one of the most popular deities of Tantric Heruka, an emanation of is generally found with his consort Vajra B□r□h× in Yab-Yum pose; but he is also often worshipped singly and the Ratnagiri image is one of the most successful representations of him.

II.1 In the '*La≡k□vat□ra* of Vasubandhu (2^{nd} half of the 4^{th} century A.D.) Magic formulae for protecting people against snakes, demons and ghosts of all kind are to be seen, which signifies the use of *Mantra/Tantra* in Buddhism. In ⌊divas× societies even now-a-day there is ample use of *Mantra/Tantra* for protecting people against snakes, demons, ghosts, etc. The Tantric acts like *M□rana, Mohana, Stambhana, Vidve•ana Ucc□tana* and *Va♣×kara⌋a* and also *Pa□ca Mak□ra-Mada* (Liquor), *M□msa* (meat), *Matsya* (Fish), *Mudr□, Maithuna* etc. found in the texts of *Tantray□na* are in prevalence and use in almost are famous in all the tribal societies of Orissa. It is upto Tantric and Buddhism scholars to subscribe to this view or to refute whether Tantric Buddhism was influenced by tribalism or vice-versa.

II.2 PHILOSOPHY OF ⌈∫NYAV⌊DA

The philosophy of */⌈nyat□* was very well received in Orissa where saints like *⌈ryadev, /□ntidev* and */□ntaraksita* & *Di≡n□ga* Stepped up the thought & practice of this cult following footsteps of *N□g□rjuna*. The impact in course of time because so popular, deep & widespread that a galary of saints poets basing their theme on "*/⌈nyav□da*" cropped up. The poets popularly known as Pa□casakh□, namely Ananta Das, Jagannath Das, Balaram Das, Acyut□nanda Das & Ya♣ovanta Das ushered a new era in Oriya literature Vis-□-vis the spiritual life which still shines & is highly prized.

Over & above the religious sects like N□tha and Siddha accepted ⌈⌊nya as their summun bonum and accordingly composed their bhajana and doh□s which are still in vogue as glories of Oriya literature. These literary forms had no less impact on the social life of Orissa for years. Finally to top the list, arose on the scene the cult of Mahim□, a religious sect having ⌈⌊nya as their prime. It is latest product of ⌈⌊nyav□da in Orissa producing a large number of illustrious saint-poets and Mah□y□na thinkers like Bhimabhoi and Biswan□th B□b□. This is a living faith in Orissa with thousand of followers whose temple is the temple of ⌈⌊nya at Joranda in the district of Dhenkanal.

CONCLUSION

From the above it can be concluded that-

i) Orissa developed a sophisticated system of Tantric Buddhism, since 4^{th} Century A.D.

ii) The different *mudr□s* are quite visible in various postures of Buddhist deities.

iii) Ratnagiri, Udayagiri and Lalitagiri pictures show that, it was a cradle of Buddhist Tantric Practices in the then Orissa.

iv) The Buddhist Tantric Texts and Practices depict the emergence Tantric Buddhism in Orissa.

v) The Athavavedic Tantric practices perhaps influenced the Buddhist Practices in Orissa.

BIBLIOGRAPHY

1. Bakshi, D.N. *Iconography of the Buddha images in Japan, Calcutta, 1987*
2. Bhattacharya, B. *An introduction to Buddhist Esoterism,* Delhi, 180.
3. *Guhyasam□ja Tantra*, Baroda, 1931, Sadhanamala Vol.II
4. *Indian Buddhist Iconography,* Calcutta, 1958.
5. Bose D.N.*Tantras: Their Philosophy and Occult Secrets*, published by Eastern Book Linkers, Delhi Edition-2001. Amar Printing Press.
6. Chatterjee, S. and Dutta .D, *An Introduction to Indian Philosophy*, Published by the Superintendent Calcutta University Press, Reprint Edition, 1984.
7. Dasgupta, S.N. *History of Indian Philosophy, An Introduction to Tantric Buddhism*, Calcutta 1974 1950.
8. Kar, K. *Ascharya Charyachaya,* Orissa Sahitya Academy, Bhubaneshwar, 1927.
9. Mishra .K.C., T. Mishra, R.K. Mishra, Ed. *Studies in Buddhism,* Published by Institute of Orissan Culture 1995.
10. Narayan A.K. Ed.- *Studies in History of Buddhism Journal,* first published 1980, Published by H.R. Gupta & Sons.
11. Sahu N.K. *Buddhism in Orissa*, Utkal University, Vanivihar, Bhubaneshwar, 1958.
12. Wayman Alex, *Tantric Tradition*, New York 1973, Reprint -1990, Published by N.P. Jain.

वेद और पा×चरात्रागम

डॉ. अशोक कुमार कालिया
उपाचार्य, संस्कृत विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

अनुक्रम

वेद और पा×चरात्रागम

वैष्णव आगम और पा×चरात्रा भेद से दो प्रकार के होते हैं। हयशीर्ष पा×चरात्रा में भागवत नाम से एक अन्य भेद भी प्राप्त होता है जिसकी सात संहिताओं के नाम भी परिगणित किये गये हैं।[1] इस उल्लेख के अतिरिक्त इन भागवत संहिताओं का कोई भी संप्रदाय और उसकी परम्परा उपलब्ध नहीं होती। वैखानस और पा×चरात्रा ये दो भेद हैं जिनके अनुसार वैष्णव दिव्यदेशों में अर्चना और आराधना का क्रम प्राचीन काल से लेकर आज भी प्रवर्तमान है। वेदान्तदेशिक ने यह तथ्य इन शब्दों में प्रकाशित किया है–

''त्वां पा×चरात्रिाकनयेन पृथग्विधेन
वैखानसेन च पथा नियताधिकाराः।
स×ज्ञाविशेषनियमेन समर्चयन्तः
प्रीत्या नयन्ति पलवन्ति दिनानि धन्याः।।''[2]

1

2

वैखानस आगम के अनुसार तिरुपति में भगवान् श्रीनिवास की तथा पा×चरात्रा आगमों के अनुसार श्रीरङ्गम्, मेलकोटे तथा का×चीपुरम् आदि दिव्य देशों में आज भी विधिपूर्वक आराधना की जाती है। वैखानस–मतावलम्बियों की संख्या पा×चरात्रा मतावलम्बियों की अपेक्षा स्वल्प है। दोनों आगमों में प्रतिपादित दीक्षा–विधि इस संख्या–भेद में एक महत्त्वपूर्ण कारण है। पा×चरात्रा आगमों के अनुसार प×चसंस्कारमयी दीक्षा वैष्णवत्व के लिये परमावश्यक है। इन पाँच संस्कारों के परिगणन ईश्वरसंहिता में इस प्रकार किया गया है–

''अतः शिष्यस्य वै कुर्यात् संस्कारान् प×च च क्रमात्।
तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्राो यागश्च प×चमः।।''[3]

इन प×च संस्कारों मं प्रथम ''ताप'' संस्कार अत्यधिक चर्चित संस्कार है। इस संस्कार के अन्तर्गत आचार्य शिष्य के दक्षिण बाहुमूल में विष्णु के ''सुदर्शन'' चक्र को तथा वाम बाहुमूल में ''पा×चजन्य'' शङ्ख को अच्छी प्रकारा से अग्नि में तपा कर अंकित करता है–

''आचार्यः स्वयमादाय नियुक्तो वा थ मन्त्रावित्।।
प्राङ्मुखस्योपविष्टस्य न्यसेद्बाहौ च दक्षिणे।
सुदर्शनं तथा वामे प×चजन्यं स्वमन्त्रातः।।''

वैखानस वैष्णवों के तप्तमुद्राङ्कन का सर्वथा निषेध किया गया है। इस सम्प्रदाय के अनुसार विष्णु स्वयं दीक्षा देने वाले गुरु होते हैं और शिशु की दीक्षा माँ के गर्भ में ही हो जाती है। इस कारण वैष्णवत्व को प्राप्त होने वाला शिशु ''गर्भवैष्णव'' कहा जाता है। इस सन्दर्भ में वैखानस आगम की आनन्दसंहिता की यह उक्ति द्रष्टव्य है–

''वैखानसानां सर्वेषां गर्भचक्रमुदाहृतम्।
यो विष्णुवलिसंस्काराद् गर्भचक्रेण ला×छतः।
स गर्भवैष्णवो जातमात्रा इत्युच्यते बुधैः।।''[4]

वैखानसों का यह संस्कार ''गर्भचक्रसंस्कार'' नाम से प्रसिद्ध है। गर्भाधान से आठवें मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार से साथ यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है–

''अथ गर्भाधानाद्यष्टमे मासि सीमन्तोन्नयनं कुर्यात्।''[5]

गर्भवती माता तथा गर्भ में स्थित शिशु की रक्षार्थ आयोजित होने वाले इस संस्कार में विष्णुवलि का विधान किया जाता है। यह विष्णुबलि माता और शिशु की रक्षा के साथ ही साथ शिशु की गर्भावस्था में ही उसमें वैष्णवत्व का आधान करती है। इस संस्कार में हवन आदि के पश्चात् गर्भवती महिला को याज्ञिक पायस का पान कराया जाता है। इस पायस में पहले विष्णुचक्र डुबोया जाता है।[6] इस सन्दर्भ में वैखानस आगम के क्रियाधिकार का यह अंश द्रष्टव्य है–

3
4
5
6

''नारायणः स्वयं गर्भे मुद्रां धारयते निजाम्।
तत्करस्थेन चक्रेण शंखेन प्रथितौजसा।।
करोति शंखचक्राङ्कं शिशोर्वै बाहुमूलयोः।
वैखानसेन सूत्रोण स्यादयं गर्भवैष्णवः।।
निसर्गवैष्णवा शुद्धा जन्मनाचार्यसंज्ञिताः।
विखना इति वै विष्णुस्तज्जा वैखानसाः स्मृताः।।''

इस प्रकार इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत शिशु जन्म से पूर्व ही वैष्णव हो जाता है तथा वैष्णव रूप में ही जन्म लेता है। जिन्होंने वैखानस वैष्णव के रूप में जन्म नहीं लिया है उनके लिये वैखानसत्व अथवा वैखानस वैष्णवत्व को प्राप्त करने का कोई भी अन्य उपाय नहीं है। सम्भवतः वैखानस मतावलम्बियों की अल्पीयसी संख्या का यही एक विशिष्ट कारण है। पांचरात्रा आगमों के अनुसार जन्मना वैष्णवत्व की कठोरता नहीं है। सम्भवतः उनकी भूयसी संख्या का यह एक महत्वपूर्ण कारण है।

वैखानस आगमों की वैदिकता–

वैखानस आगम पूर्णरूपेण वैदिक हैं। इनके पूर्ण वैदिक होने के कारण ही इनकी प्रामाणिकता के विषय में किसी भी सम्प्रदायाचार्य ने आज तक सन्देह भी व्यक्त नहीं किया है। वैखानस आगम की आनन्दसंहिता में आगम के तीन प्रकार बताये गये हैं–

''निगमस्तान्त्रिाके मिश्रस्त्रिाविधः प्रोक्त आगमः।
निगमो विखनाप्रोक्तो मिश्रो भागवतः स्मृतः।।''[7]

अर्थात् आगम के तीन प्रकार होते हैं– निगम, तान्त्रिाक और मिश्र। वैखानस आगम निगम है, पांचरात्रा तान्त्रिाक तथा भागवत आगम मिश्र है। इस प्रकार वैखानस आगम को निगम घोषित करने का अर्थ है उसे पूर्ण वैदिक घोषित करना। किन्तु शब्दों से घोषित करने मात्रा से कोई शास्त्रा वैदिक अथवा तान्त्रिाक नहीं हो सकता। वैदिकता की सिद्धि के लिये आवश्यक है उसका किसी वेद संहिता अथवा किसी वैदिक शाखा से सम्बन्ध प्रदर्शित करना।

यद्यपि वैखानसों की अपनी कोई मन्त्रा संहिता अभी तक प्रकाश में नहीं आयी है तथापि उल्लेख मिलते हैं जिनसे इनकी मन्त्रासंहिता होने के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। वैखानस श्रौतसूत्रा के प्रिपेस में डॉ. कालैण्ड वैखानस आगम की आनन्दसंहिता (1.78) के निम्नलिखित अंश उदाहृत किये हैं–

''वैखानसं तैत्तिरीयं तथा वाजसनेयकम्।
यजुर्वेदस्त्रिाधा प्रोक्तः शुद्धं वैखानसं स्मृतम्।
अशुद्धं तैत्तिरीयं च शुद्धं वाजसनेयकम्।।''

इसके अतिरिक्त ''औखेय'' नाम से कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा का उल्लेख चरणव्यूह में प्राप्त होता है, यथा–

''तत्रा तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति। औखेयाः खण्डिकेयाश्चेति।''[8]

वैखानस श्रौतसूत्रा की व्याख्या के आरम्भ में प्राप्त एक श्लोक से ज्ञात होता है कि वैखानसों का सम्बन्ध इसी औखेय शाखा से था। वह श्लोक इस प्रकार है–

7

8

''येन वेदार्थं विज्ञाय लोकानुग्रहकाम्यया।
प्रणीतं सूत्राम् औखेयं तस्मै विखनसे नमः।।''[9]

इसी प्रकार वैखानस श्रौतसूत्रा की पुष्पिका भी द्रष्टव्य है–

''इति श्रीमदौखेयशाखायां विखनसा प्रोक्ते श्रीवैखानससूत्रो मूलगृह्ये द्वात्रिंशः प्रश्नः।''[10]

वैखानस आगम की आनन्दसंहिता में प्राप्त विवरण से औखेय तथा वैखानस एकार्थक प्रतीत होते हैं। इस सन्दर्भ में आनन्दसंहिता के आठवें अध्याय की यह उक्ति द्रष्टव्य है–

''औखेयानां गर्भचक्रं वनौकसाम्।
वैखानसान् विना न्येषां तप्तचक्रं प्रकीर्तितम्।।13।।
औखेयानां गर्भचक्रदीक्षा प्रोक्ता महात्मनाम्।।28।।''

यहाँ वैखानस तथा औखेय शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। इसके साथ ही वैखानस आगमों के अनुसार जिस गर्भचक्र दीक्षा का उल्लेख पहले किया गया है, वही दीक्षा औखेयों के लिये विहित की गयी है। यह अनुमान किया जा सकता है यही औखेय शाखा वैखानसों की अपनी शाखा थी।

इसके अतिरिक्त वैखानसों के अपने सूत्रा भी हैं। यह सूत्रा साहित्य उपलब्ध भी हैं और प्रकाशित भी। डॉ. डब्ल्यू. कालैण्ड ने 1927 में वैखानसों के गृह्य और धर्म सूत्राों को ''वैखानसस्मार्तसूत्राम्'' नाम से प्रकाशित किया। इसी प्रकार वर्ष1941 में ''वैखानसश्रौतसूत्राम्'' का सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया। यह दोनों ही ग्रन्थ रायल एसियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता'' से प्रकाशित हुए थे। इन सूत्राों के रचयिता ''विखनस्'' निश्चित रूप से वैदिक ऋषि हैं। ''विखनस'' ऋषि के अत्रि, मरीचि, कश्यप और भृगु नामक शिष्यों ने अपने द्वारा रचित संहिताओं में इन्हीं सूत्राों के तात्पर्यार्थ को विस्तार प्रदान किया है। इस प्रकार वैखानस आगम पूर्णतया वैदिक सिद्ध होते हैं। इन आगमों में विहित समग्र प्रतिष्ठा, अर्चना आदि विषयक, अनुष्ठान भी पूर्णतया वैदिक हैं। इसके अतिरिक्त जैसे कुमारिल तथा शंकर आदि आचार्यों ने पांचरात्रा आगमों को लेकर उन्हें अवैदिक सिद्ध करने का प्रयास किया है, वैखानस आगमों के विषय में किसी भी दार्शनिक अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की ओर से उनकी अवैदिकता की लेशमात्रा भी शङ्का नहीं की गयी है।

इस प्रकार वैखानस आगम पूर्णतया वैदिक तथा प्रामाणिक है।

पांचरात्रा–आगमों की वैदिकता तथा प्रामाण्य

पांचरात्रा आगमों की स्थिति वैखानस आगमों के समान निर्विवाद नहीं है। सर्वप्रथम कुमारिल भट्ट ने अपने तन्त्रावार्तिक में इन्हें अवैदिक शास्त्राों में परिगणित किया। और सम्भवतः यहीं से पांचरात्रा आगमों की वैदिकता तथा प्रामाणिकता के विषय में सन्देह की परम्परा का बीजारोपण हुआ। इसके कुछ समय पश्चात् शङ्कराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य में पांचरात्रा आगमों को वेदविरोधी सिद्ध किया है। उनका कहना

9

10

है कि पांचरात्रा आगमों में जीवोत्पत्ति का प्रतिपादन है तथा वेदनिन्दा भी की गयी है।[11] इस प्रकार वेदविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण पांचरात्रा आगम सर्वथा अप्रामाणिक हैं। शङ्कराचार्य के पश्चात् तो पांचरात्रा आगमों की अवैदिकता और अप्रामाणिकता का उद्घोष करने वालों की एक लम्बी परम्परा ही दिखायी देती है। प्रायः ब्रह्मसूत्राों के सभी अथवा अधिकांश अवैष्णव भाष्यकारों ने पांचरात्रा आगम विषयक ''उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण'' की व्याख्या शंकराचार्य की दृष्टि अवलम्बन लेकर ही की है।

11

वेद एवं इतिहास पुराण का अन्तःसंबन्ध

इच्छाराम द्विवेदी ''प्रणव''

''¬ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।''

''¬ इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व महन्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मावस्तेन ईशत माघश ँ सो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि।।''

''¬ अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सुबर्हिषि।''

''¬ शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं यो रमि स्रवन्तु नः।।''

वेद चतुष्टयी के उपर्युक्त चारों मङ्गलार्थक मन्त्रा अपने संहिता भाग द्वारा प्रतिपाद्य अपौरुषेय ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं। ऋग्वेद अग्नि की स्तुति करते हुये उसे पुरोहित शब्द से अभिहित करता है। अग्नि अधिभूत है, वह प्रत्यक्ष कारक है। वहीं यजुष् सविता का संस्तवन करते हुये प्राणिजगत् को श्रेष्ठतम कर्म के लिये उत्प्रेरित करने की मङ्गलाशंसा करता है। सविता अधिदैव है। अधिभूत और अधिदैव के सम्यक् प्रबोध के पश्चात् साम अध्यात्म आत्मस्वरूप अग्नि का आवाहन करता है और वीति होने के लिये, होता बनने के लिये प्रार्थना करता है। और अन्ततः अथर्व अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म तीनों के समग्र प्रभाव को आनन्द स्वरूप सोम या आपः के द्वारा परिवृत करने की अभ्यर्थना करता है कि वह आनन्दमय, स्नेहमय, शान्तिमय सोम या जल चारों ओर हमारे इस भूमण्डल की रक्षा करे।

वेद शब्द का विद्लृ लाभे, विद् ज्ञाने या अन्य किसी भी धातु से अर्थ करें; वेद की ज्ञानरूपता निर्भ्रान्त सत्य है। वेद वस्तुशक्ति का स्तवन करते हैं– ''अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति''। वस्तुशक्ति स्वतः स्फूर्त होती है, वह पुरुषकृत नहीं होती। अतः पुरुष उसके बोध में माध्यम तो होता है, प्रवर्तक या उत्पादक नहीं। यथा अग्नि में दहाकत्व, उष्णत्व, प्रकाशकत्व आदि वस्तुनिष्ठ गुण हैं। पुरुष उनका अनुभावक तो होता है, उत्पादक नहीं। अतः वेदाधिगम या ज्ञानाधिगम के पश्चात् अन्तःकरण से आनन्दरूप स्तुति का फूट पड़ना एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है। वेद और इतिहासपुराण के अन्तःसम्बन्ध को समझाने के लिये पहले भारतीय तत्व मीमांसा की प्रविधि को समझ लेना आवश्यक है। पाश्चात्य दृष्टि जहाँ प्रयोगाश्रित और पुरुष प्रयत्नसाध्यता पर समाश्रित है, वहीं भारतीय आर्षपरम्परा परंपुरुष या विराट् ब्रह्म के अनन्त ऐश्वर्य के सम्मुख स्वाहंकार–विसर्जनजन्य परमानन्द प्रबोधस्वरूप ज्ञान सत्ता के अधिगम से आनन्दित होती रही है। वेदों की अपौरुषेयता का पक्ष यही व्याख्यात करता है कि ब्रह्म रूप वस्तु ही ज्ञान का परिबृंहण करती है; ऋषि या ज्ञाता तो मात्रा दृष्टा और अनुभवी होकर ही परमानन्द प्राप्त करता है; इसी से ''ऋषयो मन्त्राद्रष्टारः'' यह वाक्य सुसंगत

है। वेद ऋग्यजुसामाथर्वसंहिता, आयुधनुःगन्धर्वस्थापत्य ब्राह्मण, आरण्यकोपनिषद्, शिक्षाकल्पनिरुक्तछन्दः व्याकरण एवं ज्योतिष्स्वरूप वेदोपवेदवेदाङ्गादि से समुपबृंहित हैं। ठीक इसी के साथ– ''इतिहासं पुराणं प×चमं वेदानां वेदम्'' (छान्दोग्य) को भी प×चम वेदत्वेन स्वीकृति है। पुराण वाङ्मय तो–

''पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्
तदन्तरं च वक्त्रोभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।।'' (मत्स्यपु.)

कहकर अपनी पुराणता को वेदप्राकट्य से पूर्व स्वीकार करता है; तथापि यह कथन प्रौढिमात्रा है। वस्तुतः श्रीमद्भागवद्गीता का निम्नलिखित मन्त्रा इस वेद–पुराण–इतिहास की अन्तःसम्बन्धजन्य अवधारणा को स्पष्ट करने में समर्थ है–

''सहयज्ञाः प्रजासृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः
अनेने प्रसविष्यध्वमेषवो स्त्विष्ट कामधुक्।।'' (गीता)

इतिहास पुराण अपने व्युत्पत्तिगत अर्थों से जिन–जिन भावों को प्रकट करते हैं वे सभी प्रत्यङ्ग जीव जगत् के सृष्टि–पालन–संहरणजन्य भावों और जड़–चेतनात्मक या अग्निसोमात्मक विश्व के विभिन्न आयामों की चर्चा या व्याख्या करते हैं। वहीं वेद इस विधान की ज्ञानमय संचालन पद्धति का निर्देश करते हैं। सृष्टि और उसके संचालन की शाश्वत प्रक्रिया युगपद् प्रकट वस्तु हैं। जैसे अग्नि और दाहकत्व युगपद् सिद्ध धर्म हैं, वैसे ही विश्व और वेद अयुतसिद्ध सम्बन्ध हैं। लोकव्यवहार में भी जैसे किसी यन्त्राशाला का निर्माण तो कर दिया जाय, पर उसके संचालन की प्रविधि प्राप्त न हो, तो वह वस्तु उपलब्ध होने पर भी अनुपयुक्त रहेगी; ठीक वैसे ही सृष्टि के असंख्यानन्त उपादानों के उपलब्ध होने पर भी वेद रूप ज्ञानसत्ता के बिना उसके सार्वकालिक, सार्वजनीन लाभ की व्यवस्था सुसम्पन्न नहीं हो सकती। अतः वेद और सृष्टि के इस अन्तःसम्बन्ध को ठीक–ठीक जान लेने के बाद, अब इतिहास और पुराण की वेद से अन्तर्निगूहित धारा का पारस्परिक सम्बन्ध ठीक से समझा जा सकेगा। वेद शब्द से त्रायी रूप जिस संहिता भाग और उसके ही अन्तस्थ भावों को विविध अर्थभिव्य×जकता देने वाले ब्राह्मण्यारण्यकोपनिषदादि भागों को अभिव्यक्त किया जाता है; वह समस्त ज्ञानराशि एक ऐसे ज्ञान की प्रतिपाद्यता को चरितार्थ करता है जो देशकृत, कालकृत, वस्तुकृत परिच्छेद से शून्य है और परमसत्य की सत्ता को, जो कि सच्चिदानन्दात्मक है, स्वीकृति प्रदान करता है। मनु ने इस कथन को कि '' भूतं भव्यं भविष्य×च सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति'' लिखकर इसी त्रिकालाबाधित ज्ञान को वेद का प्रतिपाद्य बताया है। वस्तुतः वेद ज्ञानरूप हैं; ज्ञान वस्तुरूप है, यथार्थ है, आत्मज्ञानाधिकरण है। वह देशकालाद्यनवच्छिन्न सत्ता होने से सदैव शाश्वत रूप से वेदाधिकार है और इसी से वेद की सर्वदेशकाल व्यक्ति में शाश्वती एवं अनन्त प्रतिष्ठा है।

अब प्रश्न उठता है– इतिहास एवं पुराण की वेद से आभ्यन्तर धारा को कैसे समझा जाय? ''पुरा परम्परांवष्टिः पुराणं तेन तत्स्मृतम्'' या ''पुरानवं भवतीति'' या ''पुरा ह्यनतिगच्छति'' या ''पुराभवमिति पुराणं'' – यह सारी व्युत्पत्तियाँ 'पुराण' शब्द का अर्थ पुरातनता से जोड़कर ही अपने विभिन्न भावों को व्यक्त करती हैं। पुराण पुरातन है। इस पुराण को, पुरातन को, जो जानता है वह पाप से मुक्त हो जाता है। असुरों को जीत लेता है–

''निरुक्तमस्य यो वेद सर्वप्रापैः प्रमुच्यते।।''   (वायु 1/203)

पुराण प्राचीनतारूप अर्थ से संगत है; वहीं इतिहास भी पुरावृत्त या घटना से ही सम्बद्धता रखता है। यास्क जब कहते हैं ''इति ह एव मास'' (ऐसा ही निश्चयत्वेन हुआ था) –वह इतिवृत्तात्मकता ही इतिहास है; तब इतिहास की पुरावृत्तात्मकता स्वीकृत होती है। किन्तु पुराण और इतिहास – दोनों की पुरावृत्तात्मकता सिद्ध होने पर भी शैली एवं व्युत्पत्ति के आधार पर दोनों में पर्याप्त भिन्नता है; क्योंकि पुराण प्राचीनता को नवीनता से जोड़कर प्रस्तुत करने की विद्या का नाम है, और इतिहास मात्रा घटनाक्रम को संरक्षित कर उसे अगली पीढ़ी के लिये सौंप जाने का पर्याय है। पुराण एवं इतिहास दोनों ही लोक या विश्व की प्रमुखता को आधार मानकर प्रवृत्त होने वाली प्रविधियाँ हैं, और वेद शाश्वत ज्ञानरूप सत्ता के अधिगम की प्रविधियों का संग्रह है। वेद किसी एक के कल्याण के लिये नहीं है। वह तो ''द्यौः शान्तिः अन्तरिक्ष शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्ति'' जैसे शिवसंकल्प से अनुप्राणित परमात्मा का सहजोच्छ्वास है। इसी से वेदों में पुरुष या व्यक्तिकृत दोषों का अत्यन्ताभाव सिद्ध है।

यहाँ यह धातव्य है कि वेद जिस शाश्वत ज्ञान की व्याख्या से आनन्दित होकर, ऋषियों द्वारा समाधि, साक्षात्कार से परिस्फुरित परम सत्य को वर्ण्य बनाते हैं; वही परमसत्य या परमब्रह्म लोक का भी निर्माता है। इतिहास, पुराण – दोनों ही इसी निर्माता द्वारा निर्मित लोक को वेदज्ञान के दुरूह तपःजन्य ज्ञान को प्रदान करने के लिये वर्तमान कलेवर में अवतीर्ण हुये। ''स्त्राीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रायी न श्रुतिगोचरा'' की यह घोषणा अपने आप में इतिहास–पुराण को सार्वजनीन बनाने के लिये अपनी प्रवृत्ति को स्पष्ट करती है। तो लोक और ज्ञान का व्यावहारिक भेद होने पर भी तात्त्विक अभेद ही है। इसी से–

''पुराणं सर्वशास्त्रााणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्
अनन्तरं च वक्त्रोभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृता''

यह श्लोक सुसंगत होता है कि जब ब्रह्म ही ब्रह्मा हुआ– ''ब्रह्म ब्रह्माऽभवत्स्वयम्'', तब अपने ही स्वतःस्फूर्त द्रव्य–ज्ञान–क्रिया–रूप शक्ति–बीज के प्रस्फुटन मात्रा से अभिव्यक्त उच्चावच सृष्टिधर्म को अपने ही विचार परिपथ में लाकर, अपने चतुरस्र प्रबोध से सहज उच्छ्वास रूप वेद को भी ब्रह्मा ने प्रकट किया। अधीतिबोधाचरणप्रचारणरूप चतुर्मुख ब्रह्मा वेदरूप ज्ञान को स्वाध्याय, प्रवचन, क्रिया और प्रचार रूप प्रविधियों से समन्वित करते हैं; तभी वेद की अपौरुषेयता और अनन्तता सर्वसिद्ध है। चूँकि वेद की या ज्ञानरूपामृत की व्यावहारिक सफलता लोकजीवन में उसकी चरितार्थता में ही निहित है, अतः वेद का प्राणि या जड़चेतनात्मक जगत् के प्रति उपादेय होना और लोक का वेदज्ञानाधिगम से अनुप्राणित होकर अपनी सार्थकता सिद्ध करना – दोनों एक ही सत्य के दो पक्षों का पारस्परिक सद्भाव है। पक्षद्वय होते तो एक ही वस्तु के हैं, अतः वेद और पुराणेतिहास – दोनों का अन्तःसम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। इस वैचारिक प्रप×च को ठीक–ठीक समझ लेने के बाद अब उन तमाम वाक्यों को संगत किया जा सकता है जो इतिहास पुराण को वेद से सम्बद्ध करते हैं। चूँकि वेद और इतिहास पुराण – दोनों ही समकालिक हैं; भारतीय ऋषिपरम्परानुसार समानधर्मी हैं; और सार्वदेशिक, सार्वजनीन और सार्वकालिक हैं; अतः दोनों का अन्तःसम्बन्ध सहज है। हाँ, वेद अक्षर ब्रह्म की मूर्ति

हैं, अतः उनकी आनुपूर्वी निश्चित एवं निर्भ्रान्त है; क्योंकि किसी भी निरपेक्ष सत्य को निरपेक्ष निभ्रन्ति बनाये रखकर ही उसकी त्रिकालाबाधित सत्ता की रक्षा की जा सकती है। अतः वेद के इसी भाव को बचाने के लिये अष्ट विकृति रूप पाठ–भेदादि, शिक्षाकल्पनिरुक्तवेदाङ्गादि का संग्रह ऋषियों द्वारा हुआ। और पुराण लोकधर्मी होने के कारण क्षर पुरुष के कल्याणार्थ उसी निर्भ्रान्त ज्ञान–सत्ता को व्यवहारजगत् में प्रतिष्ठित करने के लिये, अपने विशाल शब्द भण्डार को सभी के लिये उन्मुक्त कर देते हैं। सूत की परम्परा या व्यास–परम्परा इसी को पुष्ट करती है। वेद का अनुगामित्व ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि के साथ ही पुराणादि करते हैं – यह सत्य है। यथार्थतः वेद उस पर ब्रह्म की अनन्तता एवं शाश्वतता को ही प्रमुखता देते हैं, इसी से ''नेति–नेति'' और ''चरैवेति–चरैवेति'' जैसे वाक्य सार्थक हैं। इतिहास–पुराण वेद का उपबृंहण करते हैं, इसी से प्रमाणभूत माने जाते हैं। उपबृंहण का अर्थ है– मूलार्थ के निकटतम अर्थ को स्पष्ट करते हुये व्याख्या या विस्तार करना। बृंहण का अर्थ विस्तार है, किन्तु उप– –सामीप्यवाचकोपसर्गसन्निधान से यह सुस्पष्ट है कि वेदरूपाभिप्राय को प्रामुख्येनोपन्यस्त किये बिना वेदों का उपबृंहण नहीं हो सकता। पुराणेतिहास उपबृंहणात्मक हैं, स्वतन्त्रा या स्वच्छंद व्याख्याकारक नहीं हैं। यह भारतीय मान्यता है कि वेदातिरिक्त किसी भी ज्ञान को शाश्वतता या अनन्तता नहीं मिल सकती। और यह सत्य भी है क्योंकि क्षर विश्व को प्रमेय मानकर किसी भी प्रमाण द्वारा उसे सिद्ध किया जाय, वह क्षर ही रहेगा; और अक्षर को अक्षर ही सिद्ध कर सकता है, करता है। शब्दब्रह्मोपासक स्वाधिष्ठान में शब्दब्रह्म का शाश्वत अनुभव सिद्ध हो जाने पर ही परब्रह्म में निष्णात या अधिष्ठित होता है– यह सत्य वेद पुराणादि में शतशः उल्लिखित है। यथा–

''शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान् खलु।'' (भागवतम्)

उपबृंहण शब्द ही यह दर्शाता है कि वेद और इतिहास–पुराण का लक्ष्यार्थ एक ही है। और जब लक्ष्यार्थ एक होगा तो अन्तःसम्बन्ध भी सिद्ध होगा ही। प्रस्तुत मीमांसा के उपसंहरण से पूर्व मैं अपनी भावसमाधि में परिस्फुटित अवधारणा को आप सभी सुधीजनों के बीच रखना चाहूँगा। वस्तुतः वेद परमज्ञानरूप हैं। अतः वेद को प्राप्त हो जाने पर ''रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति'' श्रुति संगमित होती है। और जो वेद को उपलब्ध कर लेते हैं वे ब्राह्मण हो जाते हैं, ब्रह्म को धारण करने वाले बन जाते हैं। और जो यज्ञरूप ब्राह्मणधर्मों के परिपालक बन जाते हैं, वे आरण्यक हो ही जाते हैं। उनके जीवन एवं दैनन्दिन व्यवहारपथ से रण्यता द्वन्द्वता समाप्त होने लगती है और अखण्डान्वयिता के सिद्ध होते ही वे उपनिषद् अर्थात् परब्रह्म के समीप में अधिष्ठित होने लगते हैं। इतिहास–पुराण उसी या उन्हीं जाग्रतात्माओं के पुण्य व्यवहार की चर्चा करके मानवजगत् को सतत् परिष्कार की ओर ले जाने वाली शाश्वत विद्या का अनुवर्तन करते हैं। वेद एवं इतिहास–पुराण के अन्तःसम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये इस निबन्ध के और विस्तार की आवश्यकता मैं नहीं समझता।

अब इस प्रकृत विषय के दूसरे पक्ष की चर्चा मैं करना चाहूँगा जो कि सांप्रतिक पाश्चात्य विचारपद्धति से सम्बद्धता रखने वाले विज्ञजनों की सहज जिज्ञासा से समुद्भूत है – 'कि क्या वेद एवं पुराणेतिहास का अन्तःसम्बन्ध है? यदि है, तो पौर्वापर्यक्रम कहीं–कहीं टूटा हुआ सा क्यों है?' उनके इस मत को व्याख्यात करने से

पूर्व पूर्वपक्ष को समझ लेना चाहिये। जो लोग वेद एवं इतिहास पुराण के अन्तःसम्बन्ध की चर्चा कर रहे हैं; वे वेद शब्द से संहिता के वर्तमान् त्रायी या चतुष्टयी स्वरूप और ब्राह्मण–ग्रन्थादि वेद प्रतिपादक वैदिक ग्रन्थों का ग्रहण करते हैं; और इतिहास पुराणादि शब्द से अष्टादशपुराणों, महाभारत रामायणादि इतिहासों का ग्रहण करते हैं। उनकी जिज्ञासा है कि 'क्या वैदिक ऋचाओं एवं वैदिक साहित्य में उल्लिखित पात्रों, घटनाओं आदि में इतिवृत्तात्मकता है? यदि है, तो क्या पुराणादि में, इतिहासादि में, वह उसी रूप में संग्रहीत है? या परिवर्तित रूप में है?' मैं समझता हूँ कि मैंने पूर्वपक्ष रख दिया है। संहिता भाग में हर वर्तमान वस्तु, व्यक्ति, पात्रा, विद्या, कथा, आख्यान आदि का अन्वेषण या आरोपण करना मुझे प्रौढ़ि मात्रा लगता है। चूँकि संहिता "सत्यधर्माय दृष्टये" दृष्ट है अतः दर्पणवत् उसमें कुछ भी देखा जा सकता है। यह दृष्टा या अन्वेष्टा का कर्तव्य है, पक्ष है, कि वह क्या देखना या दिखाना चाहता है। संहिता भाग में काव्यमयता की चर्चा तो मिल सकती है; परन्तु रुद्रट, मम्मट, लोल्लट, भट्टशंकुक की चर्चा ढूँढना या उसे सिद्ध करना वैधेयप्रलपिठ जैसा ही लगता है। ठीक यही बात आख्यानादि के सम्बन्ध में भी है। ब्राह्मण–ग्रन्थादि संहिता के व्याख्यात्मक भाग में तो आख्यानात्मक विवरण उपलब्ध होते हैं, और होने भी चाहिये; क्योंकि ज्ञान को सर्वसुलभ बनाने की प्रक्रिया में व्याख्यानार्थ समसामयिक या लोकश्रुत वृत्तात्मकता को समाहित किये बिना ज्ञान को सर्वजनसाधारणीभूत नहीं कर सकते। इसी से ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि के आख्यानात्मक भागों का परिबृंहण पुराणेतिहास में पौनःपुन्येन मिलता है। वेद जहाँ परिष्कृत मानवसमुदाय के अधिगम में था, वहीं पुराण जनसाधारण के मध्य वेद–सिद्धान्त और वैदिक गाथाओं के व्याख्यान में रत थे। डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने सूतपरम्परा पर अपने संग्रहात्मक वैदुष्यपूर्ण व्याख्यान में जो चर्चा रखी है, वह यथार्थ ही है। भारतीय समाज में व्यक्ति की श्रेष्ठता नहीं है, जाति की श्रेष्ठता है। व्यक्ति में तो व्यक्तिगत देवानुस्यूतता रहेगी ही, नश्वरता रहेगी। परन्तु जाति में नश्वरता नहीं होती– "वस्तूनाम साधारणधर्मो जातिः"। ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा है; ब्राह्मण जाति में उत्पन्न व्यक्ति भी ब्राह्मणत्वानुप्राणित होने पर ही पूज्य है। मनु ने कई जगह यह कहा है। अन्य स्मृतिकार भी यही मानते हैं। सूत विलोमज होते हुये भी अनूचन हैं, "वदतां वद!" हैं, लोकशास्त्रा विचक्षण हैं, अतः ऋषिपरम्परापूज्य हैं। सूत अयोनिज हैं; क्योंकि शरीर योनिज होता है। ज्ञान आत्मज है; और आत्मा अयोनिज है, वह स्वतःसिद्ध सत्ता है। एक बात और कि आत्मा के अविनाशी एवं पुनर्जन्म सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना भारतीय चिन्तन शास्त्रा की मूलधारा को समझा ही नहीं जा सकता। पाश्चात्य विचार पद्धति जहां चेतना के तीन ही आयामों – चेतन, अर्द्धचेतन तथा अवचेतन – से परिचित है; वहीं भारतीय तत्त्ववेत्ता इन सबकी अधिष्ठानरूपा तुरीयावस्था में नित्य, केवल, शुद्ध, बुद्ध, ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व के साक्षात्कार की ही विधा का प्रतिपादन करते हैं। जैसे– शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और आत्मा का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर ही ज्ञान के बाह्य प्राकट्य एवं वर्तन की संभावना होती है; ठीक वैसे ही ज्ञान के अनुभवगम्य, सामाधिक साक्षात्कार के लिये भी शरीररूपोपकरण की अनिवार्यता सिद्ध है। भारतीय तथाकथित व्याख्याकार जब केवल आत्मसाक्षात्कार की ही प्रतिबद्धता दर्शाते हैं, तो शारीरिक पक्ष उपेक्षित कर देने से वे उपहासस्पदता में चले जाते हैं। और पाश्चात्य समीक्षक जब हर

वस्तु की व्याख्या शारीरिक अनुभव जगत् के स्तर पर ही समझने या समझाने का हठ करते हैं, तो वे भारतीय ऋषिपरम्परा के जानकारों के सम्मुख बचकाने एवं भ्रान्तमति से प्रतीत होने लगते हैं। यथार्थ भारतीय तत्त्वमीमांसा समग्रता की पक्षधर है। वहाँ आत्मानुसन्धान, अन्तःकरणानुसन्धान, शरीरानुसन्धान तथा व्यष्टिसन्धान के साथ ही समष्टिगत धर्मानुसन्धान की जो विराट् परिकल्पना ऋषिमेधा द्वारा प्रणीत है; वह इसी अखण्डता और अनन्तता के निकट जीव को मात्रा वैचारिक रूप से ही नहीं, अपितु दैहिक, दैविक, भौतिक रूप से भी पहुँचाने में समर्थ है। इसी से वह सदा से मानव जगत् को अभिभूत करती है।

प्रकृतमनुसरामः। प्रश्न यह था कि क्या वर्तमान वैदिक वाङ्मय में इतिहास पुराणों द्वारा वर्णित इतिवृत्तात्मकता को पूर्वस्थित या वर्णित माना जाय? आस्था बुद्धि से उत्तर हाँ में हो सकता है। तर्कबुद्धि से उत्तर करने पर कुछ आख्यानों, उपाख्यानों, गाथाओं, नाराशंसी वाक्यों या वृत्तों का वैदिक वाङ्मय में से आहरण कर उन्हें पुराणों में उपबृंहित माना जा सकता है, माना जाता है। किन्तु पुराणगत प्रत्येक आख्यान को या प्रत्येक वाक्य को किसी न किसी वैदिक मन्त्रा से जोड़ देना या ऐसा हठात् प्रतिपादन करना – वेद को बाजारू बना देने जैसा लगता है। हर कार्य अपने कारण के सरूप भी होता है, विरूप भी। इतिहास–पुराण वेदानुरूप भी हैं, वेद व्यतिरिक्त भी। इसी व्यतिरिक्तता के कारण इतिहास–पुराण स्वतंत्रा विद्या के रूप में प्रकाशित हुये हैं।

पुराण जहाँ पुराणपुरुष की नूतन नवीन व्याख्याओं को वेदार्थानुसंधानपूर्वक वेद–सिद्धान्त संवलित कर प्रस्तुत करने वाली विधा है; वहीं इतिहास परिक्रिया–पुराकल्प भेद से भारतीय इतिहास पद्धति के अनुरूप, एक नायकगत या बहुनायकगत इतिवृत्तात्मकता को अभिव्यक्त करता है। पुराणों में वर्णित वंश, वंशानुचारित तथा मन्वन्तर इसी क्रम में इतिहास हैं। महाभारत तथा रामायण परिक्रिया–पुराकल्पात्मक इतिहास हैं। पाश्चात्य समालोचकों को तिथिक्रम–संवत्सरादि–समन्वित जिस क्षुद्रालेखबद्ध इतिहास की आवश्यकता है, और जिसका प्रतिपादन वे विगत दो–ढाई सौ वर्षों में करके विश्व में अपनी श्रेष्ठता का मिथ्या दम्भ प्रकट करते रहे हैं; उन्हें 1,95,58,85,100 वर्ष प्राचीन वर्तमान सृष्टि, 17,28,000 वर्ष युगीन कृतयुग; 12,96,000 वर्ष युगीन त्रोता; 8,64,000 वर्षात्मक द्वापर; 4,32,000 वर्षात्मक कलियुग की युगचतुष्टयी में परिस्फुटित विराट् एवं अनन्त जीवराशि के विविध रूपात्मक, इतिवृत्तात्मक अवबोध की असाधारण क्षमता को अपनी वर्ण्यवस्तु बनाने वाले इतिहास–पुराण वाङ्मय पर अश्रद्धा रखने का क्या अधिकार है? किन्तु इसी के साथ हम भारतीय बुद्धिजीवियों को मात्रा प्राचीन धरोहररूप ज्ञानराशि को देखकर पुलकित होने, परन्तु उस वैज्ञानिक ज्ञान को क्रियात्मक रूप से सिद्ध कर दिखाये बिना गर्वोन्नत होने का भी क्या अधिकार है?

इस विचार माला के अन्तिम भाग में मैं कुछ उन बिन्दुओं की चर्चा करना चाहूँगा जो कल से उठते रहे हैं। वेदों में अश्लीलता परक वाक्यों या सूक्तों की चर्चा; वेदों में हिंसात्मक अनुष्ठानों की यत्रा–तत्रा उपलब्धता; और कतिपय दुरूह एवं अज्ञात स्थलों का निदर्शन। जैसा कि मैंने कहा– वेद ज्ञान रूप हैं। ज्ञान में श्लील–अश्लील भेद नहीं किया जा सकता है। जब चिकित्सा–विज्ञान पढ़ाते समय स्त्राी–पुरुष भेद की चर्चा होती है, तो वहाँ श्लीलाश्लील विचार परिवर्जित मीमांसा ही की जाती है। ठीक

वैसे ही, मानस जगत् की विवेचना करते हुये जो भी विचार मनोजगत् में तरङ्गावर्तवद् उद्भूत होते हैं, उनकी यथावत् विवेचना करना और उनकी परमार्थता को व्यक्त करना– यही 'यम–यमी संवाद' या 'सत्यकाम जाबाल कथा' या 'शुनःशेपोपाख्यान' जैसी घटनाओं के वर्णित हो जाने का आधार है। ब्रह्मा द्वारा सरस्वती के प्रति अनुरक्त हो जाने का आख्यान भी ऐसा ही है। ''अहल्यायै जारः'' भी ऐसा ही है। वेद की वेदता या सत्यनिष्ठा का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि वहाँ रंचमात्रा दुराव नहीं हैं। भीतर–बाहर जो भी घटित हो रहा है या घट सकता है, सब का सब अविच्छिन्न रूप से व्यक्त है। ब्रह्मा के वैचारिक मालिन्य की परिणिति आत्मोत्सर्ग देहत्याग में होती है– यह पौराणिक गाथा बताती है। इन्द्र को कुरूपता घेरती है– यह पुराण बताता है, सत्यकाम ब्रह्मवादी बनता है– यह पुराण गाथा बताती है। श्रुति ने सदैव कहा– ''यान्यस्माकं सुचारितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।'' इदमित्थं जगत् की प्रकृति–विकृतियों को अधिग्रहीत करके, स्वीकार करके ही सच्चे ज्ञान की मीमांसा की जा सकती है। रही बात हमारी आस्थाओं के खण्डित होने की, तो हमारी वर्तमान आस्थायें मात्रा वैदिक अवधारणाओं की ही परिणिति नहीं हैं। उनमें श्रौत, स्मार्त, आगमिक, बौद्ध, जैनादि परवर्त्ती विचारधाराओं तथा विशेषतः पाश्चात्य जागतिक अवधारणाओं का भी ऐसा घालमेल हो गया है कि हमारी श्लीलता, अश्लीलता, घृणा, हिंसा, भोजन, भजनादि की मूल वैदिक धारणाओं में भी आस्था के नाम से अनेकानेक विकृतियाँ घुस गईं हैं; उदाहरणार्थ हिंसा। वेद में ''वैदिकी हिंसा हिंसा न भवतीति'' का जो सिद्धान्त है, वह यह व्यक्त करता है कि ज्ञान के लिये जो हिंसा हो, आत्मरक्षण के लिये जो हिंसा हो, यज्ञ अर्थात् समष्टि हित के लिये जो हिंसा हो, वह हिंसा नहीं है। हिंसा अपवादस्वरूप है, नियम स्वरूप नहीं है। किन्तु जैन परम अहिंसा के उस अतिवादी छोर पर जा खड़े होते हैं जहाँ अहिंसा क्लीबता बन जाती है और देश, धर्म, व्यक्ति, जाति – सभी नाश की ओर अग्रसर होते हैं। वेद को आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक – तीनों ही स्तरों पर समझने का प्रयास करना चाहिये। अजीगर्त के तीनों पुत्रा – शुनःपुच्छ, शुनःशेप, शुनःलाङ्गूल की कथा भी ठीक ऐसे ही है। अजीगर्त का तात्पर्य है– जो अजन्मा होते हुये भी जन्म व्यवस्था के गर्त में पतित हो जाता है। वह जीव त्रिविध भाव सन्तान से कभी–कभी समस्याग्रस्त होता है। शुनःपुच्छ (कुत्ते की पूंछ) की तरह जीव का आचरण हम बहुधा देखते हैं। कुत्ते की पूंछ टेढ़ी ही रहती है, पर वह स्वामी के आगे हिलती भी है। वस्तुतः वह स्वामी के आगे नहीं, स्वार्थ के आगे हिलती है। शुनःशेप अर्थात् कुत्ते का शिश्न। कुत्ता रतिकील होता है। जीव भी भोग में कीलित हो जाना चाहता है। तन्त्रों में इसी के लिये अनुष्ठान से पूर्व उत्कीलन की विधि है। यह मध्यवर्त्ती है शुनःशेप। जीवन का मध्य भाग यौवन। कैशोर्य से सक्रिय यौन जीवन के मध्य तक शुनःशेपता व्यापती है। क्यों है यह लिप्सा – वेद कहता है – ''कोऽदात् कस्मादात् कामोऽदात् कामायादात् कामैतत्ते।'' यह जो काम, वह शुनःलाङ्गूलता की ओर जाने के लिये है। लाङ्गूल लम्बी पूंछ को कहते हैं। लंगूर इसी से नामकरण हुआ है। कुत्ते के लाङ्गूल नहीं होती। लाङ्गूल गुह्यगोपन और दीर्घसक्रियता के लिये उदाहृत होती है। हम देखते हैं लंगूर वानर की अपेक्षा अधिक बलवान् एवं शान्त होता है। काम की रक्षा, काम की ऊर्जा को संरक्षित कर बल एवं शान्ति की ओर अग्रसर

हुआ जा सकता है। बाल्यावास्था शुनःपुच्छ है। हम सिर्फ माता–पिता आदि के पिछलग्गू ही रहते हैं। मध्यवस्था में शुनःशेप को बलि देने के लिये ले जाया जा रहा था। विश्वामित्रा ने उसे कहा कि 'यद्यपि वरुण की प्रसन्नता के लिये तुम्हें उपयुक्त किया जा रहा है, तथापि तुम यदि भयभीत हो, तो अग्नि की उपासना करो।' शुनःशेप ने समाधिस्थ होकर जैसे ही स्तवन किया, उसकी ऊर्जा का रूपान्तरण हो गया। वह रक्षित हुआ। ऊर्जा के रूपान्तरण की इसी महत्ता को यह आख्यान रेखांकित करता है।

अन्यच्च नरमेध, पशुमेधादि के जो विधान वेद में उल्लिखित हैं; वे अधिकारी भेद से अनुष्ठेय होते हैं। तामस प्रकृति के अधिकारी किस तरह विधिमुखेन निषेध मान सकते हैं या किस तरह निषेधमुखेन विधि की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं, यह तत्तत् वैदिक स्थलों के गुरुमुख व्याख्यान से ही जाना जा सकता है। ''समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं'' की अवधारणा को पालित किये बिना वेदार्थाधिगम में प्रमादालस्यदोषदुष्टता संक्रमित ही रहेगी। फिर समाज में आज भी क्या बर्बरता, हिंसा, नरमेधता, कन्याभिघर्षणता, शुनःशेपता, जारता प्रसृत नहीं है? यदि है तो उसके निःसारण की सार्थकता भी रहेगी। वेद इसी से सार्वकालिक हैं। अथर्ववेद की षड्कर्म विद्यायें मारण, मोहन, वशीकरणादि इसी से सामयिक बनी रहती हैं। अन्ततः किस काल की स्त्राी अपने पति को वशीकृत नहीं रखना चाहेगी, किस काल का राजा प्रजा को अधीन नहीं रखना चाहेगा। ये सब व्यवहार जगत् के सापेक्षिक सत्य हैं। वेद तो समग्रता का परिबोध है, अखण्डता की उपासना है, शाश्वतता का परिपुष्ट है और अनन्तता का प्रवाह है। अन्ततः वेद एवं पुराणेतिहासादि के अन्तःसम्बन्ध पर पौनःपुन्येन विचार इस पृथ्वी या इस समग्र ब्रह्माण्ड के जड़–चेतन जीव–जगत् के परम निःश्रेयस् के लिये परमावश्यक है।

यह कथन चाहे डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी का हो या डॉ. पुष्पा दीक्षित का या किसी भी अन्य विद्वान् का कि भारतीय वैदिक, पौराणिक, ऐतिहासिक वाङ्मय की पुनर्व्याख्या होनी चाहिये – ये नितान्त समीचीन है, उपादेय है, और अत्यावश्यक भी।

¬ शान्तिः

वेद, तन्त्रा तथा दुर्गासप्तशती में देवी का स्वरूप

डॉ.कुसुम भूरिया

महालक्ष्मी, महाकाली तथा महासरस्वती के रूप में अपने भक्तजनों की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली देवी का स्मरण वेद, तन्त्रा (आगम) तथा दुर्गासप्तशती में अत्यन्त श्रद्धा–भक्ति के साथ किया गया है। ऋग्वेद 10/125 का अष्टमन्त्राात्मक सूक्त देवीसूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। इस सूक्त की ऋषि अम्भ्रण ऋषि की ब्रह्मविदुषी कन्या वाक् है, अतः इसे वागाम्भ्रणी या वाक् सूक्त भी कहते हैं। वाक् ने तपस्या से ब्रह्मशक्ति स्वरूप आत्मशक्ति का अनुभव कर लिया था और देवी के साथ अभिन्नता प्राप्त कर ली थी। अपने उ०ारों में वह अपनी सामर्थ्य का वर्णन करती हुई कहती है–

''अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यह–
मादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्राावरुणोमा बिभर्म्यह–
मिन्द्राग्नी अहमश्विनोमा।।1।।''

अर्थात् मैं (ब्रह्मविद्या पारंगता) वाक् एकादश रुद्रों के रूप में, अष्ट वसुओं के रूप में, द्वादश आदित्यों के रूप में तथा विश्वदेवों के रूप में विचरण करती हूँ। तात्पर्य यह कि देवी वाक् सच्चिदानन्दमयी सर्वात्मा हैं। इसमें आगे भी वह अपनी सर्वोच्चता को व्यक्त करती हुई कहती है कि–

''अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्राा
भूरिस्थात्राां भूयविशयन्तीम्।।3।।''

अर्थात् मैं समस्त जगत् की स्वामिनी हूँ, मैं धन प्रदान कराने वाली हूँ, मैं परब्रह्म के ज्ञान से युक्त अनेक रूपों में स्थित तथा बहुतों में प्रवेश करने वाली हूँ। अनेक स्थानों में रहने वाले देवता जहाँ कहीं जो कुछ भी करते हैं, वह सब मेरे लिये ही करते हैं।

एक अन्य शक्ति की भी बात वह कहती है कि ''मैं कारणरूप से जब समस्त विश्व की रचना आरम्भ करती हूँ, तब दूसरों की प्रेरणा के बिना स्वयं ही वायु की भाँति चलती हूँ। स्वेच्छा से ही कर्म में प्रवृत्त होती हूँ। मैं पृथ्वी और आकाश दोनों से परे हूँ। अपनी महिमा से ही मैं ऐसी हुई हूँ। मैं ब्रह्मचैतन्य रूप से समस्त जगत को व्याप्त कर लेती हूँ–

''अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव।।8।।''

ऋग्वेद 100/127 में प्रतिपादित ''रात्रिासूक्त'' की भी देवीसूक्त के समान प्रतिष्ठा है। ''राति ददाति अभीष्टम्'' इति रात्रिाः। रात्रिा सूक्त के मन्त्राादृष्टा ऋषि कुशिक हैं। रात्रिा सूक्त का संक्षेप में यह अर्थ है कि ¬कारमयी भुवनेश्वरी रात्रिादेवी सर्वत्रा ही अपने चक्षुःस्थानीय महदादि तत्त्वों से सभी पदार्थों को द्योतित करती है तथा अज्ञानान्धकार दूर करके सभी जीवों को उनके कर्मानुरूप फलों को प्रदान करती है। रात्रिा दो प्रकार की होती है–

1) जीवरात्रि – जीवरात्रिरूपसुषुप्ति में प्रतिदिन जीवों का व्यवहार लुप्त हो जाता है, तथा

2) ईश्वररात्रि – इसमें ईश्वररात्रिरूपप्रलयकाल में ईश्वर का व्यवहार लुप्त हो जाता है।[1]

ऋग्वेद में ''भुवनेश्वरी मन्त्रा'' भी वर्णित है, जिसके शिवदुर्गा, सिन्धुदुर्गा तथा अग्निदुर्गा मूर्तिभेद हैं।[2]

अग्निपुराण 263/1–3 में उल्लेख है कि ऋग्वेदादि चारों वेदों में ''श्रीसूक्त'' वर्णित है। इस सूक्त को भक्तिपूर्वक जप कर हवन करने पर लक्ष्मी या श्री उसकी हो जाती है–

''श्रीसूक्तं प्रतिवेदं च ज्ञेयं लक्ष्मीविवर्धनम्।
हिरण्यवर्णां हरिणीमृचः प×चदशप्रियः।।
रक्षेष्वक्षेषु वाजेति चतस्रो यजुषि श्रियः।
स्रावन्तीयं तथा साम श्रीसूक्तं सामवेदके।।
श्रियं धातर्मयि धेहि प्रोक्तमाथर्वणे तथा।
श्रीसूक्तं ये जपेद्भक्त्या हुत्वा श्रीस्तस्य वै भवेत्।।''

(हिरण्यवर्णात्मक इत्यादि 15 मन्त्रा ऋग्वेद में, रक्षेष्वक्षेषु इत्यादि चार मन्त्रा यजुर्वेद में, स्रावन्तीयं इत्यादि दो मन्त्रा सामवेद में तथा श्रियं धतर्मयिधेहि यह एक मन्त्रा अथर्ववेद में श्रीसूक्तात्मक हैं।)

शुक्ल यजुर्वेद में श्री तथा लक्ष्मी को सूर्य की दो पत्नियाँ कहा गया है, जिसका समर्थन तैत्तिरीय शाखा में किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में श्रीदेवी को प्रजापति के मुख से उत्पन्न कहा गया है। इसी प्रकार कौषीतकि–गोपथ–जैमिनीय आदि ब्राह्मण–ग्रन्थों में श्री शब्द से प्राण–पृथिवी–सोम–सवितृ–राष्ट्र–मित्रा–भग–सरस्वती–पुष्टि आदि का कथन किया गया है।[3]

अथर्ववेद 3.30 में किंचित् परिवर्तन के साथ वाक्सूक्त उपलब्ध होता है, जिसे ''श्रीदेव्यथर्वशीर्ष'' के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। सभी देवगण देवी के समीप गये और पूछा कि हे महादेवी आप कौन हैं? तब देवी ने कहा– ''अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। शून्यं चाशून्यं च''।।2।। तथा ''वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्चाहम्''।।4।।

इस सूक्त की एक अन्य विशेषता तथा महत्त्व यह भी है कि इसमें देवी के नवार्णमन्त्रा का उल्लेख किया गया है–

''वाङ्माया ब्रह्मसूस्तस्मात् षष्ठं वक्त्रासमन्वितम्।
सूर्योऽवामश्रोत्राविन्दुसंयुक्तष्टात्तृतीयकः।
नारायणेन सम्मिश्रो वायुश्चाधरयुक् ततः।
विच्चे नवार्णकोऽर्णः स्यान्महदानन्ददायकः।।20।।''

---

[1] पं. श्रीचक्रेश्वर भट्टाचार्य दलै, शाक्तदर्शनम्, पृ.7।

[2] वही, पृ.7।

[3] वही, पृ.8–9।

वाणी (ऐं), माया (Ðीं), ब्रह्मसू–काम (क्लीं), इसके आगे छठा व्यंजन अर्थात् 'च', वही वक्त्रा अर्थात् आकार से युक्त (चा), सूर्य (म) अवाम श्रोत्रा–दक्षिण कर्ण (उ) और बिन्दु अर्थात् अनुस्वार से युक्त (मुं), टकार से तीसरा (ड), वही नारायण अर्थात् 'आ' से युक्त (डा), वायु (य) वही अधर अर्थात् 'ऐ' से युक्त (यै) और 'विच्चे'। यह नवार्णमन्त्रा उपासकों को अपार आनन्द और ब्रह्मसायुज्य देने वाला है।[4] (¬ Ðीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे)।

इस प्रकार वेदों में देवी के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते हैं।

उपासना आदि में तन्त्रा अथवा आगम ग्रन्थों का अपना वैशिष्ट्य है। शैवागम के ग्रन्थ 'कामिक आगम' के अनुसार तन्त्रा की निरुक्ति है–

''तनोति विपुलानर्थान् तन्त्रामन्त्रासमन्वितान्।
त्रााणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रामित्यभिधीयते।।[5]''

महानिर्वाणतन्त्रा में कहा गया है कि तन्त्राों के द्वारा बतलाये गये मार्ग सुख तथा मोक्ष देने वाले होते हैं–

''नान्यः पन्था मुक्तिहेतोरिहामुत्रा सुखाप्तये।
यथा तन्त्राोदितो मार्गो मोक्षाय च सुखाय च।।[6]''

आगमों के गुण, देश, काल, आम्नाय आदि की भिन्नता से अनेक भेद होते हैं। सात्त्विक आगमों को 'तन्त्रा', राजस को 'यामल' तथा तामस को 'डामर' कहते हैं।[7]

तन्त्रा अथवा आगमग्रन्थों में देवी अर्थात् परमतत्त्व को मातृरूपा में स्वीकृत किया जाता है। ऋग्वेद में प्रतिपादित वागाम्भ्रणी सूक्त तथा अथर्ववेद में प्रतिपादित देवीसूक्त का भाष्य ही प्रायः शक्तितन्त्राों के माध्यम से किया गया है। तन्त्राोक्त देवी सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार है–

''नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम्।।''

इस प्रकार देवी की वन्दना करके उनके अनेक रूपों में, प्रत्येक जीव के अन्दर स्थित होने का उल्लेख किया गया है। यथा–

''या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।6।।''

यह देवी सभी प्राणियों में चेतना कहलाती है। सभी प्राणियों में बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, शक्ति, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, माता, भ्रान्ति इत्यादि रूपों में स्थित रहती है, हम उसे बारम्बार प्रणाम करते हैं। उक्त मन्त्रा में समस्त देवताओं द्वारा देवी को स्तुति करते हुये आगे कहा गया है–

''इन्द्रियागामधिष्ठात्राी भूतानामखिलेषु या।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमोनमः।।27।।''

---

[4] श्रीदुर्गासप्तशती, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ.49।
[5] आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ.432।
[6] शाक्तदर्शनम्, पृ.28।
[7] भारतीय दर्शन, पृ.476।

अर्थात् यह देवी सभी प्राणियों में चतुर्दश इन्द्रियों की अधिष्ठात्राी के रूप में विराजमान है। (अर्थात् कर्ण–त्वक्–चक्षु–जिह्वा–नासिका इन प×चज्ञानेन्द्रियों की अधिष्ठात्राी क्रमशः दिक्–वायु–सूर्य–वरुण और अश्विनीकुमारों रूप पाँच रूप में, वाक्–पाणि–पाद–पायु–उपस्थ इन प×चकर्मेन्द्रियों की अधिष्ठात्राी क्रमशः अग्नि–इन्द्र–उपेन्द्र–यम तथा प्रजापति के रूप में, मन–बुद्धि–अहंकार तथा चित्त की अधिष्ठात्राी क्रमशः चन्द्र–चतुर्मुख–शङ्कर तथा अच्युत के रूप में विराजमान है।) यही देवी पृथ्वी आदि प×च स्थूल–सूक्ष्म भूतों की प्रेरयित्राी तथा विश्वव्यापिका है, इसे हम पुनः पुनः प्रणाम करते हैं।

उक्त स्तुति में देवी को 'तृष्णा' रूप में कहा गया है। उसका अर्थ यह है कि देवी को भक्त की भक्ति को पीने की इच्छा सदैव रहती है। इसी प्रकार 'भ्रान्ति' का अर्थ है कि जो देवी अपनी योगमाया के बल से समस्त संसार को भ्रमित करती रहती है, उसे हम अनेकशः प्रणाम करते हैं।

तन्त्रा में ''रात्रिासूक्त'' का भी वर्णन है। कल्पान्त में जब सम्पूर्ण जगत् एकार्णव में निमग्न हो रहा था और भगवान् विष्णु शेषनाग की शैया पर योगनिद्रा का आश्रय ले रहे थे, तब उनके कान के मैल से दो भयंकर असुर – मधु और कैटभ – उत्पन्न हुये और भगवान् विष्णु के नाभिकमल में विराजमान प्रजापति ब्रह्मा को मारने के लिये उद्यत् हो गये। उस समय बह्माजी ने भगवान् विष्णु को जगाने के लिये एकाग्रचित्त से योगनिद्रा की स्तुति की – इसी का विवेचन इस सूक्त में किया गया है। ब्रह्मा जी कहते हैं–

> ''त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका।
> सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिाधा मात्राात्मिका स्थिता।।1।।
> अर्धमात्राास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः।
> त्वमेव सन्ध्या सावित्राी त्वं देवि जननी परा।।2।।''

अर्थात् हे देवि! तुम ही स्वाहा, तुम ही स्वधा और तुम ही वषट्कार हो। स्वर भी तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम ही जीवनदायिनी सुधा हो। नित्य अक्षर प्रणव में अकार, उकार, मकार – इन तीन मात्रााओं के रूप में तुम ही स्थित हो तथा इन तीन मात्रााओं के अतिरिक्त जो बिन्दुरूपा नित्य अर्धमात्राा है, जिसका विशेष रूप से उच्चारण नहीं किया जा सकता, वह भी तुम ही हो। तुम ही सन्ध्या, सावित्राी तथा परम जननी हो। और भी, तुम ही ब्रह्माण्ड को धारण करती हो और तुम्हीं से इस जगत् की सृष्टि होती है। तुम ही इस जगत् का पालन और संहार करती हो। रात्रिादेवी की सामर्थ्य के सम्बन्ध में ब्रह्मा जी आगे कहते हैं कि मुझको, भगवान् शङ्कर को तथा भगवान् विष्णु को भी तुमने ही शरीर धारण कराया है, अतः तुम्हारी स्तुति करने की सामर्थ्य किसमें है? जो इस जगत की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, उन भगवान् विष्णु को भी तुमने निद्रा के आधीन कर लिया है, तब तुम्हारी स्तुति करने में कौन समर्थ है–

> ''यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत्।
> सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः।।2।।''

'मुण्डमालातन्त्रा' में दुर्गादेवी की सामर्थ्य का वर्णन देखें–

> ''नानामार्गे प्रधावन्ति पशवो हतबुद्धयः।

श्रीदुर्गाचरणाम्भोजं हित्वा यान्ति रसातलम्।।
सत्यं वच्मि हितं वच्मि पथ्यं वच्मि पुनः पुनः।
न च भुक्तिश्च मुक्तिश्च विना दुर्गानिषेवनात्।।[8]''

श्रीदुर्गासप्तशती में देवी के तीनों प्रधान रूपों – महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती के स्वरूप तथा पराक्रम का विस्तृत वर्णन है। ध्यातव्य है कि तन्त्राोक्त देवी सूक्त तथा तन्त्राोक्त रात्रिासूक्त दुर्गासप्तशती के प×चम तथा प्रथम अध्यायों के मध्य में यथावत् उद्धृत हैं।

दुर्गासप्तशती के प्रथम अध्याय में विनियोग इस प्रकार है–

''¬ प्रथमचरित्रास्य ब्रह्मा ऋषिः, महाकाली देवता, गायत्राी छन्दः, नन्दा शक्तिः, रक्तदन्तिका बीजम्, अग्निस्तत्त्वम्, ऋग्वेदः स्वरूपम्, श्री महाकाली प्रीत्यर्थे प्रथमचरित्राजपे विनियोगः।''

इस अध्याय में तमोगुण की अधिष्ठात्राी देवी योगनिद्रा की ब्रह्माजी के द्वारा स्तुति की गयी है। स्तुति करने पर वे भगवती भगवान् विष्णु के नेत्रा, मुख, नासिका, बाहु, हृदय और वक्षःस्थल से निकलकर ब्रह्माजी के समक्ष उपस्थित हो गयीं और भगवान् जनार्दन शेषनाग की शैया से जाग उठे। फिर महामाया के वशीभूत दोनों असुर – मधु और कैटभ – भगवान् विष्णु के चक्र से मारे गये। महाकाली के स्वरूप का वर्णन उनकी स्तुति में इस प्रकार है–

''खड्गं चक्रगदेषुचापपरिघा×छूलं भुशुण्डीं शिरः।
शङ्खं सन्दधतीं करैस्त्रिानयनां सर्वाङ्गभूषावृताम्।।
नीलाश्मद्युतिमास्यपाददशकां सेवे महाकालिकां।
यामस्तौत्स्वपिते हरौ कमलजो हन्तुं मधुं कैटभम्।।'' (1/1)

अर्थात् महाकाली देवता, जिनकी स्तुति ब्रह्माजी ने की, अपने दस हाथों में खड्ग, चक्र, गदा, बाण, धनुष, परिघ, शूल, भुशुण्डि, मस्तक और शङ्ख धारण करती हैं। उनके तीन नेत्रा हैं। वे समस्त अंगों में दिव्य आभूषणों से विभूषित हैं। उनके शरीर की कान्ति नीलमणि के समान है तथा वे दस मुख और दस पैरों से युक्त हैं।

द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में श्री महालक्ष्मी देवी के पराक्रम का वर्णन है। इसका विनियोग है–

''¬ मध्यमचरित्रास्य विष्णुर्ऋषिः, महालक्ष्मीर्देवता, उष्णिक् छन्दः, शाकम्भरी शक्तिः, दुर्गा बीजम्, वायुस्तत्त्वम्, यजुर्वेदः स्वरूपम्, श्रीमहालक्ष्मीप्रीत्यर्थे मध्यमचरित्राजपे विनियोगः।''

महालक्ष्मी का स्वरूप इस प्रकार है–

''¬ अक्षस्त्राक्परशुं गदेषुकुलिशं पद्मं धनुष्कुण्डिकां
दण्डं शक्तिमसिं च चर्म जलजं घण्टां सुराभाजनम्।।
शूलं पाशसुदर्शने च दधतीं हस्तैः प्रसन्नाननां
सेवे सैरिभमर्दिनीमिह महालक्ष्मीं सरोजस्थिताम्।।''

---

[8] शाक्तदर्शनम्, पृ.27।

(मैं, कमल के आसन पर विराजमान प्रसन्न मुखवाली महिषासुरमर्दिनी भगवती महालक्ष्मी का भजन करता हूँ, जो अपने हाथों में अक्षमाला, फरसा, गदा, बाण, वज्र, पद्म, धनुष, कुण्डिका, दण्ड, शक्ति, खड्ग, ढाल, शंख, घंटा, मधु–पात्रा, शूल, पाश और चक्र धारण करती हैं।)

इन अध्यायों में देवताओं के शरीरों से आविर्भूत तथा समस्त देवताओं के द्वारा प्रदत्त अस्त्रा–शस्त्राों से सुसज्जित तेजोमयी देवी के द्वारा सेनापतियों सहित महिषासुर के वध का प्रसंग है, तत्पश्चात् प्रसन्न इन्द्रादि देवताओं के द्वारा देवी की स्तुति का वर्णन है। देवगण कहते हैं–

''हेतुः समस्तजगतां त्रिागुणापि दोषै–
र्न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा।
सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूत–
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या।।'' (4/7)

अर्थात् हे देवि! आप सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति में कारण हैं। आप में सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण – ये तीनों गुण विद्यमान हैं, तो भी दोषों के साथ आपका संसर्ग नहीं जान पड़ता। भगवान् विष्णु और महादेव जी आदि देवता भी आपका पार नहीं पाते। आप ही सबका आश्रय हैं। यह समस्त जगत् आपका अंशभूत है, क्योंकि आप सबकी आदिभूत अव्याकृता परा प्रकृति हैं।

पाँच से दश अध्यायों तक देवी के महासरस्वती रूप को प्रसन्न करने का विनियोग वर्णित है–

''¬ अस्य श्री उत्तरचरित्रास्य रुद्र ऋषिः, महासरस्वती देवता, अनुष्टुप् छन्दः, भीमा शक्तिः, भ्रामरी बीजम्, सूर्यस्तत्त्वम्, सामवेदः स्वरूपम्, महासरस्वतीप्रीत्यर्थे उत्तरचरित्रापाठे विनियोगः।''

महासरस्वती का ध्यान है–

''¬ घण्टाशूलहलानि शङ्खमुसले चक्रं धनुः सायकं
हस्ताब्जैर्दधतीं घनान्तविलसच्छीतांशुतुल्यप्रभाम्।
गौरीदेहसमुद्भवां त्रिाजगतामाधारभूतां महा–
पूर्वामत्रा सरस्वतीमनुभजे शुम्भादिदैत्यार्दिनीम्।।''

(जो अपने करकमलों में घण्टा, शूल, हल, शंख, मुसल, चक्र, धनुष और बाण धारण करती हैं, शरद् ऋतु के चन्द्र के समान जिनकी मनोहर कान्ति है, जो तीनों लोकों की आधारभूता और शुम्भ आदि दैत्यों का नाश करने वाली हैं तथा गौरी के शरीर से जिनका प्राकट्य हुआ है, उन महासरस्वती देवी का मैं निरन्तर भजन करता हूँ।)

इन अध्यायों में देवताओं द्वारा देवी की स्तुति तथा देवी द्वारा धूम्रलोचन, चण्डमुण्ड, रक्तबीज, निशुम्भ और शुम्भवध की कथा है। एकादश से त्रायोदश अध्यायों में देवी की स्तुति, देवी चरित्राों के पाठ का माहात्म्य तथा राजा सुरथ और समाधि नामक वैश्य को देवी का वरदान वर्णित है।

समस्त दुर्गासप्तशती में देवी की अनुपम शक्तियों का वर्णन है। शुम्भ–सहित समस्त असुरों का वध करने के लिये समस्त देवताओं के शरीरों से आविर्भूत उन–उन

मातृशक्तियों के बल तथा पराक्रम का विस्तृत वर्णन इसमें है, तत्पश्चात् प्रसन्न देवताओं द्वारा देवी की स्तुति करते हुये कहा गया है—

सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
गुणाश्रये गुणमये नारायणि नमोऽस्तु ते।। (11/11)
सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते।। (11/24)

दुर्गासप्तशती के तेरह अध्यायों में देवी के अनेकानेक नाम तथा स्वरूपों का उल्लेख है। यथा – जया, पद्मावती, मातंगी, भवानी, अर्धाम्बिकेशवपु (अर्धनारीश्वर का श्रीविग्रह) कामेश्वरी, भुवनेश्वरी, दुर्गा, शिवा, चामुण्डा (चण्डमुण्ड के मस्तक को काटकर लाने वाली), अम्बिका, शिवदूती (शिव को दूत बनाकर शुम्भ निशुम्भ के पास भेजने वाली), भीमा, भ्रामरी (भ्रमर का रूप धारण कर असुरों का वध करने वाली), शताक्षी (शत नेत्राों वाली), शाकम्भरी (शाक द्वारा समस्त संसार का भरण–पोषण करने वाली) आदि। इन समस्त रूपों में देवी ने दुर्धर्ष असुरों का वध किया तथा समस्त देवताओं को संकटमुक्त किया।

इस प्रकार मार्कण्डेय पुराण में सावर्णिक मन्वन्तर के अन्तर्गत देवीमाहात्म्य में वेदत्रायी स्वरूपा उपर्युक्त तीनों देवियों – महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती – की असीम शक्ति–सामर्थ्य का विस्तृत वर्णन किया गया है।

निगम तथा आगम की देवी, शाक्त दर्शन में शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है। शक्ति का अर्थ है– परमशिव ब्रह्म में अपृथक्–सिद्ध होकर रहने वाला विशेषण। अग्नि और त०त दाहजनक शक्ति की भाँति परमात्मा और शक्ति का सर्वथा अभेद है। शक्ति परशिव ब्रह्म में अत्यन्त गुप्त रीति से रहती है। वह शिव की विश्वसिसृक्षाशक्ति है। निर्गुण शिव जब 'बहुस्यां प्रजायेय'' इस इच्छाशक्ति से युक्त हो, सृष्टि की ओर उन्मुख होता है, तब वह शिव ही शक्तिपदवाच्य होता है। शिव शक्ति के बिना और शक्ति शिव के बिना नहीं रह सकती–

''न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किंचिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।।''

भगवत्पाद शङ्कराचार्य भी कहते हैं–

''शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्
नो चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।''

देवीभागवत में स्पष्ट किया गया है कि सच्चिदानन्दरूपिणी महामाया भक्तों पर कृपा करने के लिये अरूपा होकर भी रूप को धारण करती है।

शाक्तदर्शन में देवी की अनुपम शक्तियों का वर्णन किया गया है। इस दर्शन के अनुसार यह देवी ही है, जिसकी शक्ति से समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है। विवेकचूडामणि में श्रीशङ्कराचार्य ऐसी ही बात कहते हैं–

''अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति–
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव मायया
यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते।।110।।''

इस प्रकार निगम और आगम में देवीविषयक अन्तःसम्बन्ध बन जाता है। देवी स्वयं ही शिव से कहती हैं–

''आगमस्य भवान् कर्ता वेदकर्ता स्वयं हरिः
आगमश्चैव वेदश्च द्वौ बाहू मम शङ्कर
ताभ्यामेव धृतं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।।[9]

तथा च, यश्चागमं वा वेदं वा समुल्लंघ्योथ भजेत्।
तमुद्धर्तुमशक्ताऽहं सत्यमेव महेश्वर।।''

इति

[9] शाक्तदर्शनम्, पृ.197।

वैदिक आचारों का पुराणों में उपबृंहण

प्रेमनारायण द्विवेदी

मनु ने कहा है– ''**वेदोऽखिलोधर्ममूलंस्मृतिशीले च तद्विदाम्**'' वेदों और वेदज्ञों का आचार धर्म का आधार है। तै.ब्राह्मण के अनुसार वेद अनंत हैं। व्याकरण महाभाष्य में यजुर्वेद की 100, सामवेद की 1000, ऋग्वेद की 21 तथा अथर्ववेद की 9 शाखाओं का उल्लेख है। विष्णुपु. 3/4–6 अ. तथा श्रीमद्भागवत् (1/4/18–22 तथा 12/6–7 अ.) में उतनी ही शाखाओं के उल्लेख के साथ उनको अध्ययन करने वाले अनेकों ऋषियों और शिष्य प्रशिष्यों की परम्परा तथा नाम दिये गये हैं। इतिहास में उतने ही ब्राह्मण ग्रन्थों तथा आरण्यक ग्रन्थों का उल्लेख है। संप्रति शुक्ल यजुर्वेद की काण्ड्व शाखा दक्षिण भारत में तथा माध्यंदिनी शाखा उत्तर भारत में प्रचलित है। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्राायणी, काठक और कठ शाखायें ही उपलब्ध हैं। सामवेद की कौथुम, रारायणीय तथा जैमिनीय शाखायें उपलब्ध हैं जिनमें कौथुम गुजरात में, जैमिनीय कर्नाटक में तथा रारायणीय महाराष्ट्र में प्रचलित है। ऋग्वेद की केवल शाकल शाखा तथा अथर्ववेद की शौनक शाखा और पिप्पलाद शाखा ही संप्रति उपलब्ध है।

इसी प्रकार ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतिकी ब्राह्मण, शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण, सामवेद का ताण्डय ब्राह्मण तथा अथर्ववेद का गोपद ब्राह्मण ही उपलब्ध है। संहिताओं तथा ब्राह्मणों के अन्तिम भाग ही उपनिषद हैं जिनकी संख्या 200 से अधिक है। पुराण 18 हैं, उपपुराण और औपपुराणों की संख्या 18–18 ही इतिहास में बतलाई गयी है। श्रीशङ्कराचार्य ने शिवधर्मोत्तर तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराणों को उपनिषद भाष्य में प्रमाण रूप से लिया है।

डेढ़ हज़ार वर्ष के बौद्ध वर्चस्व में वेद का बहुत बड़ा भाग कालकवलित हुआ। कुमारिल ने चिन्ता की थी ''को वेदानुद्धरिष्यति''। पश्चात् भगवान् शङ्कराचार्य ने बौद्धों को परास्त कर वेदों की स्थापना भारत में की थी। जो कुछ भी भाग अवशिष्ट था उस पर सायनाचार्य, माधवाचार्य, उवट और महीधर आदि आचार्यों ने भाष्य लिखे किन्तु साधनों के अभाव में वे परिपूर्ण वेदों के अर्थों को प्रतिपादित करने वाले नहीं कहे जा सकते। ब्राह्मण ग्रन्थों यद्यपि वेदों के व्याख्या रूप ग्रन्थ कहे जाते हैं वे ''मघवा मूल विडौजा टीका'' जैसे हैं, उनमें अर्थवाद तथा विविध यज्ञों की विधि ही दी गई है।

वर्तमान में कुछ विद्वानों द्वारा वेद संहिताओं के कुछ अध्यायों का मूल सस्वर पाठ कर लिया जाता है। स्वर पाठ की चारों वेदों की पृथक्–पृथक् विधि है– कुछ विद्वान् ''जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन''– इन आठ प्रकार की विकृतियों के अनुसार भी वेद पाठ करते देखे जाते हैं। पर मन्त्राों का अर्थ उन्हें ज्ञात नहीं होता। वैयाकरण, साहित्यिक और दार्शनिक विद्वानों को वेदों से कोई लगाव नहीं। ऐसी स्थिति में वेदों का इतिहास पुराणों द्वारा कैसे उपबृंहण हुआ – विवेचन करना बहुत कठिन कार्य है। पर यथासाध्य प्रयत्न इस निबन्ध में किया गया है।

पुराणों में कहा गया है– ''पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर गुणदोषभिदादृष्टि– –निर्गमात्ते न हि स्वतः।''[1] अर्थात् वेद सबके ज्ञान चक्षु हैं, पुराणों में वेद और उपनिषदों

का सार है। ''वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा''[2]; ''सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्''[3] तथा वेद नग्नता छुपाने के लिये मनुष्यों का परिधान हैं

''ऋग्यजुः सामसंज्ञेयं त्रायी वर्णावृतिर्द्विज
एतामुज्झति यो मोहात् स नग्नः पातकी यतः।[4]

वर्णों के आचार –

वेदों में चारों वर्ण विराट पुरुष के मुख, बाहु, ऊरु और चरणों के रूप में वर्णित हैं। देखना, सुनना, वाणी का प्रयोग करना, विचार करना तथा शरीर पोषणार्थ अन्न ग्रहण करना उपरिभाग मुख का कार्य है। बाहु रक्षा करते हैं, साधन जुटाते हैं। ऊरु सम्हालते हैं। सभी अङ्ग चरणों पर आश्रित हैं। ''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ऊरु तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।''[5] यजुर्वेद का एक मन्त्रा कहता है– ''आब्रह्मनृ ब्राह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूरइजव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्''। अर्थात् राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चसी हों; क्षत्रिाय शूरवीर, बाणविद्या में निपुण, लक्ष्यभेद करने वाले महारथी हों; यज्ञकर्ता के पुत्रा वीर तथा सभायें सम्माननीय हों। अन्य मन्त्रा– ''क्षत्रिायोऽजनि विश्वस्याधिपति रजनि विशामत्ताजनि ब्रह्मणो गोप्ताऽजनि धर्मस्य गोप्ता जनि''।[6] ''न वै ब्राह्मणो राज्यायालम्''[7] शतपथ में ब्राह्मण के चार गुणों का निरूपण है– 1) ब्राह्मण्य (पैतृक पवित्राता या ब्रह्मतेज); 2)प्रतिरूपचर्या (पवित्राचरण); 3) यश; तथा 4) लोकपवित्त (मनुष्यों को पूर्ण बनाना)। इन गुणों के बदले में मनुष्यों ने उसे चार विशेषाधिकार दिये हैं– अर्चा (आदर), अज्येयता (कोई जीतने की इच्छा न करे), दान (धन द्वारा सम्मान) तथा अवध्यता। शत. 11/5/7/1 एक प्रार्थना मन्त्रा है– ''रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्[8] तथा च ''पशुकामः खलु वैश्यः यजते[9] तथा च– वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां तस्मादाद्या अन्नधानादध्यसृज्यन्त तस्माद् भूयांसोऽन्येभ्य''[10] ; अर्थात् मनुष्यों में वैश्य तथा पशुओं में गायें सबके योग का साधन हैं। ''तस्माच्छूद्र उत बहुपशुरयज्ञियो विदेवो न हि तं काचन देवतान्वसृज्यत''; ''तस्मात् पादावनेज्यं नातिवर्धते पत्तो हि सृष्टः।''[11] पुराणों का वर्णों का कर्तव्य चिन्तन वेद पर ही आश्रित है–

''पुरुषस्यमुखं ब्रह्म क्षत्रामेतस्य बाहवः।
ऊर्वोः वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत।''[12]

अन्यत्– ''मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादय पृथक्।''[13]
मुखबाहूरुपादजाः –....''य आत्माचारलक्षणाः''[14]

वर्ण, गुण तथा यज्ञों में सबका भाग –

''अजायन्त द्विजश्रेष्ठाः सत्वोदिवत्ता मुखात् प्रजा। वक्षसो रजसोद्रिवत्ताः–.....रजसा तमसा चैव समुद्रिवत्तास्तथोरुतः। पद्भ्यामन्याः प्रजा ब्रह्मा ससर्ज द्विजसत्तम।। तमः प्रधानास्ताः सर्वाश्चातुर्वण्यमिदं ततः यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै। चातुर्वण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्।।''[15]

कर्मनिष्ठ ब्राह्मणों को प्राजापत्य या पितृलोक, क्षत्रियों को इन्द्रलोक, वैश्यों को वायुलोक तथा परिचर्या–परायण शूद्रों को गन्धर्व लोक की प्राप्ति होती है।

वर्णों की प्रकृतियां और आचार–

''शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्निसर्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्वं ब्रह्मप्रकृतयत्विमाः।
तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यमैश्वर्यं क्षत्राप्रकृतयस्त्विमाः।
शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमयया।
तत्रा लब्धेन संतोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः।
आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्ओब्रह्मसेवनम्।
अतुष्टिरथोपि च यैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः।।
अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः।
कामः क्रोधश्च तर्जश्च स्वभावोऽन्तेवसायिनाम्।''[16]

<u>सार्ववर्णिक आचार</u> –

''अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोयं सार्ववर्णिकः।।''[17]

बृहदारण्यक में आया है– प्रजापति ने देवों, मनुष्यों और असुरों को केवल '1' अक्षर का उपदेश दिया था। उसमें विलासी देवों के लिये इन्द्रिय दमन, संग्रही मनुष्यों को दान देने, तथा हिंसक प्रकृति वाले असुरों को दया का उपदेश था – ''दाम्यत दत्त दयध्वम्।''[18]

<u>ब्राह्मणों के आचार और वृत्तियाँ</u>–

''इज्याध्ययन दानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम्।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम्।।''[19]

यज्ञ, अध्ययन और दान– तीन वर्णों के आचार समान है। प्रतिग्रह, अध्यापन और याजन– ब्राह्मण के ही विशेष है। फिर प्रतिग्रह को तेज और यश क्षीण करने वाला होने से याजन तथा अध्यापन वृत्ति न मिलने पर ''शिलो×छ'' वृत्ति अपनाना श्रेष्ठ माना है, क्योंकि ब्राह्मण क्षुद्र काम के लिये उत्पन्न नहीं हुआ है। ''ब्राह्मणस्य हि देहोयं क्षुद्र कामाय नेष्यते''; ''कृच्छ्राय तपसे चैव प्रेत्यानत्तसुखाय च।''[20]

क्षत्रिाय राजा का कर्तव्य है प्रजा की सब आपत्तियों से रक्षा करे ''सर्वाः सुद्धरेद् राजा पितेव व्यसनात् प्रजाः।।''[21]

आपत्तिकाल में ब्राह्मण क्षत्रिाय या वणिज् वृत्ति ग्रहण कर सकता था। क्षत्रिाय वगिग् वृत्ति या ब्राह्मण वृत्ति ग्रहण कर सकता था। वैश्य सेवावृत्ति और शूद्र ''कारू'' या कर क्रिया ग्रहण करता था।[22] वैश्य अपने संचित धन से कूप, वापी, तालाब तथा पुष्करिणी बनवाता था। सैकड़ों प्रकार के वृक्षों के वन, पुष्पोद्यान, प्रपा तथा अन्न के सदावर्त अपने धन के षष्ठांश से बनवाता था, इसमें करोड़ों स्वर्ण का व्यय करता।[23] वेदों और उपनिषदों में इसे पूर्त कार्य कहा तथा स्वर्गदायक कहा है।[24] पुराणों में पूर्त का पुण्य अनन्त कहा है।[25] पूर्त का लक्षण इस प्रकार है– ''पूर्तं सुरालयाराम कूपाजीव्यादिलक्षणम्।''[26]

<u>आश्रम</u> –

प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य है– तैत्तिरीय संहिता कहती है– ''जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिाभिर्ऋणैर्ऋणवाम् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एव

वा अनृणो यः पुत्राी यज्वा ब्रह्मचारिवासी।''[27] ब्रह्मचर्य से ऋषिऋण से मुक्ति होती है। वेद में ब्रह्मचर्य की प्रशंसा है– ''ब्रह्मचारीष्णंश्चरति....तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः''[28] ''शतपथआचार्यो गर्भीभवति हस्तमादाय दक्षिणम्। तृतीयस्यां स जायते सावित्रया सह ब्राह्मणः ब्राह्मचर्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।''[29] तै. ब्राह्मण में कहा है– भरद्वाज ने अपनी आयु के 3 भाग (75 वर्ष) ब्रह्मचर्य धारण किया पर इन्द्र कहते हैं कि उन्होंने इतने वर्षों में वेद का बहुत कम अंश (अर्थात् पर्वत की 3 ढेरी में से 3 मुट्ठी) ही सीखा था। क्योंकि वेद असीम हैं। शतपथ का कहना है– ''दीर्घमत्रां वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति।''[30] अथर्ववेद के 11 काण्ड का 5वां सूक्त केवल ब्रह्मचारी की प्रशंसा में लिखा गया है। भागवत में उपनयन को दूसरा जन्म कहकर संयमित अध्ययन का आग्रह किया है– ''द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः। वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः।''[31] वेषभूषा, चर्या आदि इस प्रकार बतलायी है– ''मेखलाजिनदण्डाक्ष ब्रह्मसूत्राकमण्डलून् जटिलोऽधौतदद्वासो..... सनान भोजनहोमेषु जपोच्चारे च वाग्यतः.... रेतो नावकिरेज्जातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम्।। वसेद् भोगविवर्जितः। शौचमाचमनं स्नानं सन्ध्योपासनमार्जवम्।''[32] नीचे बतलाई बातें सब आश्रमों में मान्य हैं। विद्या समाप्ति तक व्रतधारण करने का या यावज्जीवन वेदाध्ययन का निर्देश है– ''गुरवे विन्यसेद्देहं स्वाध्यायार्थं वृहद्व्रत।''[33]

<u>अध्ययन के विषय</u> –

पुराणों में 4 वेद, 6 वेदाङ्ग, मीमांसा, नीतिशास्त्रा, धनुर्वेद, आयुर्वेद, वास्तु, शकुन, उपनिषद तथा पदक्रम सहित वेद थे।[34] छा. उपनिषद् में नारद ने सनत्कुमार से कहा था– मैंने चारों वेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, पित्रय (श्राद्धप्रबन्ध), राशि, अङ्कगणित, दैव (लक्षणविद्या), निधि (गुप्त खनिज), हेतुविद्या, राजनीति, देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्राविद्या, धनुर्वेद, नक्षत्राविद्या, सर्वविद्या तथा देवजनविद्या (नृत्य, गीत) सीखा है।[35] नारद पु. के अनुसार वेदाङ्गों सहित वेद का विद्वान अनूचान है।[36]

<u>पुराणों में अध्ययन के नियम</u> –

आषाढ़ या श्रावण पौर्णमासी से साढ़े चार मास (जब तक सूर्य दक्षिणायन रहते थे) केवल वेदों का अध्ययन होता। सत्रा समाप्ति पर उत्सर्जन होता। द्वितीय सत्रा में शुक्लपक्ष में वेदों का तथा कृष्णपक्ष में वेदाङ्गों तथा पुराणादि का अध्ययन होता था।[37] एक वेद पढ़ने में 12 वर्ष या तीक्ष्ण बुद्धि को 5 वर्ष का समय भी निश्चित था।

<u>वेदपाठ</u> –

बिना स्वर के (हस्तस्वर) वेद पाठ में दोष था। सामगान करने वाले को षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, प×चम, धैवत और निषाद का ज्ञान होना चाहिये।। माघ ने सप्त स्वरयुक्त सामगान का उल्लेख किया है– ''सप्तभेदकरकल्पितस्वरं साम सामविद–
–सङ्गमुज्जगौ।''[38] ताण्ड्य, कौथुम, भाल्लवी (छान्दोग्य) तथा शतपथ वाले षड्ज और ऋषभ का प्रयोग करते हैं। इस प्रसंग में नारद पु. में – 7 स्वर, 3 ग्राम, 21 मूर्च्छना, 49 तानों को स्वर मण्डल कहा है। कौन से शब्द में आदि, अन्त या मध्योदात्त होना चाहिये, यह भी वर्णित है।[39]

कण्ठ अच्छा रखने के लिये विशेष दातुनों का प्रयोग, धारणा शक्ति के लिये नमक के साथ त्रिफला चूर्ण तथा स्नान–सन्ध्योपासनोपरान्त मधु और घृत पीकर शुद्ध होकर वेद पाठ करने का उपदेश है; प्रथम उपांशु, फिर मन्द्रस्वर पश्चात् यथेष्ट वेदपाठ का विधान है। विकृत ओठ वाले, नाक के बल बोलने वाले, ग०द कण्ठ वाले, बँधी जीभ वाले, हकलाने वाले, क्रोधी, स्तब्ध, आलसी और रोगियों को वेदाध्ययन वर्जित किया था। वेद शनैः शनैः गृहीत होता है। विद्या सहस्रों बार अभ्यास करने, सैकड़ों बार शिष्यों को पढ़ाने पर जिह्वाग्र पर रहती है।[40]

<u>सन्ध्या</u> –

वेद वाक्य है– ''अहरहः सन्ध्यामुपासीत''। पुराण का वचन है– ''सायं प्रातरुपा– –सीत गुर्वर्काग्निसुरोत्तमान्।''[41] उसमें गायत्री जप मुख्य है– ''जपन् ब्रह्मसमाहितः।''[42] सन्ध्या में वेदमन्त्राों का ही प्रयोग है यथा आचमन के बाद पुनराचमन ''ऋते च सत्यम्'' से, प्राणायाम में गायत्री मन्त्रा, पुनः आचमन ''आपः पुनन्'' से, मार्जन ''आजोहिष्ठा'' से, अवमर्षण ''सुमियान'' से – इन सबमें बाह्याभ्यन्तर शुद्धि की भावना है। सूर्योपस्थान में ''उदुत्यं नामवेदसम्'' आदि मन्त्रा, उदय होते हुये सूर्य की स्तुति और सैकड़ों वर्ष नेत्रा, श्रोत्रा, वाक् आदि इन्द्रियों से स्वस्थ तथा अदीन रहते हुये जीवन की प्रार्थना है; प्रातःकाल ब्रह्मा की, मध्याह्न में रुद्र की तथा सायं विष्णु की। शक्तिस्वरूप गायत्री सावित्री और सरस्वती का ध्यान बतलाया है। गायत्री मन्त्रा का एक हजार जप उत्तम बतलाया है।[43] यह नित्यकर्म है।

<u>विवाह</u> –

वेद और वेदाङ्ग तथा उनका अर्थ जानकर ही विवाह का अधिकारी होता है–

''वेदं वेदौ तथा वेदान् वेदाङ्गानि तथा द्विजः
अधीत्य चाधिगम्यार्थं ततः स्नायाद् द्विजोत्तमः।[44]

तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य स्नानज को उपदेश देता है– सत्य और धर्म का आचरण करते हुये स्वाध्याय से प्रमाद न करना तथा प्रजातन्तु का विच्छेद न करना।[45] पद्मपुराण का कहना है– ''शुभ गुण रूप सुलक्षण योनिगत दोषों से रहित कन्या से विवाह करे।''[46] भागवत में कहा है– ''गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेताजुगुप्सिताम्। यवीयसीं तु वयसा तां सवर्णामनुक्रमात्।''[47] ऋग्वेद के मण्डल 10 का 85वां सूक्त विवाह से सम्बन्धित है– ''गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथा सौ''; ''इह प्रियं प्रजया ते समृद्धयताम् अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ''गृभ्णामि ते सा'' भगत्वाय हस्तम्''; ''दीर्घायुरस्याः पतिर्जीवाति शरदः शतम्''; ''साम्राज्ञी श्वसुरे भव साम्राज्ञी श्वश्वां भव।'' यहाँ गार्हपत्य के लिये पत्नी ग्रहण माना गया है।

<u>प×चमहायज्ञ</u> –

शतपथ ब्राह्मण में कहा है– ''प×चैव महायज्ञातान्येव महासत्राणि।''[48] नारद पुराण में कहा है– कुर्यादहरहस्तस्मात् प×चयज्ञान् प्रयत्नतः'' ''देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञस्तथैव च। नृयज्ञोब्रह्मयज्ञश्च प×च यज्ञान् प्रचक्षते।''[49] भागवत के अनुसार– ''देवान् ऋषीन् नृ भूतानि पितॄनामानमन्वहम्''; ''स्ववृत्यागतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक्।''[50] ब्रह्मयज्ञ स्वाध्याय है। नृयज्ञ अतिथियज्ञ है। अतिथि यदि घर से निराश लौट जाय, वह पुण्य ले जाता है, पाप दे जाता है।[51] कठोपनिषद् में कहा है– घर अतिथि भूखा रहे तो

इष्ट पूर्त का पुण्य नष्ट हो जाता है। पुत्रादि भी नष्ट होते हैं। तर्पण में देव, ऋषि और पितरों की तृप्ति होने से तीन ऋण से मुक्ति होती है। तर्पण में संसार के सभी प्राणियों को जल से तृप्त किया जाता है। वैसे तर्पण को पितृयज्ञ ही माना गया है ''पितृयज्ञस्तु तर्पणम्''। मरीच्यादि ऋषि भी पितर ही हैं।[52] वैश्वदेवबलि देवयज्ञ भूतयज्ञ पितृयज्ञ स्थानीय है ''वैश्वदेवस्तु कर्त्तव्यः देवयज्ञस्तु स स्मृतः। भूतयज्ञः स वै ज्ञेयः।''[53]

बलिवैश्वदेव –

तर्पण के बाद इसका विधान है। उसमें ब्रह्मा, प्रजापति, गृह्य, काश्यप और अनुमति को आहुतियां देकर पृथ्वी और जल को आहुति दी जाती हैं। गृह के मध्य में इन्द्रादि देवों को अन्न बलि देकर समस्त प्राणियों को अन्न दिया जाता है– ''देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाः सयक्षोरगदैत्यसंघाः। प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मयात्रादत्तम् पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धवद्धाः।। प्रयान्तुते तृप्तिमिदं भयान्नं तेभ्योविसृष्टं सुखिनो भवन्तु।।''[54] पश्चात् श्व चाण्डालादि तथा विहङ्ग और पतितों को भोजन दिया जाता है। पश्चात् अतिथि प्राप्त होने पर उसका; स्वाध्याय, गोत्रा, आचरण तथा कुल के प्रश्न किये बिना; भोजन दिया जाता है।[55]

यज्ञ –

उपनिषद के अनुसार धर्म के 3 स्कन्धों में यज्ञ प्रथम स्कन्ध है। यजुर्वेद में कहा है ''आयुर्यज्ञेन कल्पताम्''। मेरी आयु, प्राण, नेत्रा, श्रोत्रादि अङ्गयज्ञमय हों। इस यज्ञ से हम अमर हुये हैं।[56] एक स्थान पर आया है– ''सृष्टि के आरम्भ में पुरुष रूप हवि से यज्ञ किया जिसमें वसन्त और ग्रीष्म ही घृत और समिधा थे। सात समुद्र परिधियां थी; पांच महाभूत, 5 विषय, 5 कर्मेन्द्रियां या 21 गायत्रयादि छन्द समिधायें थीं; जिसमें पुरुष का वध किया गया था– ''अवध्नन् पुरुषं पशुम्''। (उवट भाष्य में वध अर्थ ही लिया है)। देवों ने यज्ञ द्वारा स्वर्ग में स्थान पाया।।'' इन में जो संभावनायें विद्वानों के समझने की हैं– शतपथ ब्राह्मण में ''अग्निहोत्रा, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, राजसूय और अश्वमेध यज्ञों की विधि; विधि क्यों करना चाहिये; उनका क्या फल है'' – बतलाया गया है। अग्निहोत्रा प्रतिदिन होने वाला हवन है, दर्शपौर्णमास अमावस्या और पूर्णिमा को होने वाले यज्ञ हैं, चातुर्मास्य चार चार महीने के अन्तराल से होते हैं, राजसूय और अश्वमेध सम्राटों द्वारा किये जाने वाले यज्ञ हैं। पुराणों में अनेकों राजसूय और अश्वमेध करने वाले राजाओं के नाम दिये हैं, बहुव्ययसाध्य हैं। पद्मपुराण में ब्रह्मा द्वारा 360 यज्ञ करने का उल्लेख है।[57] यज्ञ में 4 निर्वाहक बतलाये हैं– ब्रह्मा, उ०ाता, होता और अध्वर्यु; जिसमें ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता तथा आग्नीध्र – इन 4 व्यक्तियों का एक समुदाय है; जिसमें चारों वेद और वेदाङ्गों तथा आन्वीक्षिकी के विद्वान् होते हैं। उ०ाता, प्रत्यु०ाता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य – दूसरा समुदाय है। होता, मैत्रारुणी, अच्छावाक् और ग्रावस्तुत – तीसरा समुदाय है; तथा अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थता, नेष्टा और उन्नेता – यह चौथा विद्वानों का समुदाय है। यज्ञ सिद्धि के लिये इनको सम्मानपूर्वक अधिक दक्षिणा दी गई थी। इनमें नारदादि विद्वान् ऋषि उपस्थित थे।[58]

श्राद्ध –

विष्णुपुराण में कहा गया है – श्राद्ध से संपूर्ण जगत् की तृप्ति होती है।

''ब्रह्मेन्द्र रुद्रनासत्य सूर्याग्निवसुमारुतान्

विश्वे देवान् पितृगणान् वयांसि मनुजान् पशून्
सरीसृपान् ऋषिगणान् यच्चान्यद्भूतसंज्ञितम्
श्राद्धं श्रद्धान्वितः कुर्वन् प्रीणयत्यखिलं जगत्।''[59]

श्राद्ध 3 प्रकार के माने गये हैं– नित्य, नैमित्तिक और काम्य।

1. नित्य श्राद्ध– प्रतिदिन एक विद्वान् ब्राह्मण को भोजन देना।[60]
2. नैमित्तिक श्राद्ध– विवाह गृह प्रवेश चूडाकरण आदि पर नान्दीमुख पितरों का श्राद्ध।
3. काम्यश्राद्ध– किसी कामना से विशिष्ट पर्वों पर।

<u>पितृगणों की संख्या</u> – 7 स्वर्गवासी हैं; 4 मूर्तिमान हैं, वे अधिक तेजस्वी हैं; और 4 अमूर्तिमान हैं, उनका नाम वैराज है देव भी उनका यजन करते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं– वैराज, अग्निष्वात्त, वर्हिषद, मरीचिगर्भ, हविष्यमान्, सुस्वध तथा सोमप।। श्राद्ध में विश्वेदेव तथा पितरों का आवाहन और पूजन वैदिक मंत्राों से होता है। उनमें ये सब नाम आते हैं। '' आयन्तु नः पितर सोम्यासोः अग्निस्वात्त्रा पथिभि र्देव यानै'' ये देवमार्ग से आते हैं। इनमें विद्वान् ब्राह्मणों को भोजनार्थ नियुक्त किया जाना बताया है। यथा–

प×चाग्निः सनातकश्चैव त्रिासौपर्णः षडङ्गवित्।
श्रोत्रिायः श्रोत्रिायसुतो विधिवाक्य–विशारदः।।
सर्वज्ञो वेदवान् मन्त्राी ज्ञानवंशकुलान्वितिः।।
त्रिाणाचिकेतस्त्रिामधुः श्रुतेष्वन्येष्ववस्थितः।।
पुराणवेत्ता ब्रह्मज्ञः स्वाध्यायी जपतत्परः।।''[61]

श्राद्ध में पढ़े जाने वाले रक्षोघ्नमन्त्रा, पितृसूक्त, पुरुषसूक्त, विष्णुसूक्त, पवमानसूक्त, यजुर्वेद सामवेद के मन्त्राों का जप, आदि पढ़े जाने का उल्लेख है। तै.उप. कहती है, ''पितृदेवो भव देवपितृकार्यान्न प्रमदितव्यम्''। बृहदारण्य के अनुसार पितरों को भाग देने से पितृलोक की प्राप्ति होती है।[62] इस तरह श्राद्ध वैदिक संहिताओं पर ही आश्रित है।

<u>¬कार उपासना</u> –

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है– ''ओमित्येतदक्षरमुꣳथमुपासीत'' वह सब भूतों, औषधियों, वाणियों, वेदों और रसों का रस 'तम' है।[63] माण्डूक्य उप. के अनुसार ''ओमिति ब्रह्म ओमितीदं सर्वं भूतं भवद् भविष्यदिति।''[64] इसको प्रणव भी कहते हैं। शिवपुराण के अनुसार 'प्र' नाम से प्रकृति से उत्पन्न संसार महासागर है। प्रणव इसे पार करने के लिये (नव) नाव है। ¬कार अपने साधन करने वाले से कहता है– 'प्र' प्रप×च 'न' नहीं है 'वः' तुम लोगों के लिये। दूसरा अर्थ है– 'प्र' प्रकर्षेण 'न' नयेत् 'व' युष्मान् मोक्षम् इति प्रणवः। उपासक के समस्त कर्मों का नाश कर प्रकृष्ट दिव्य नव ज्ञान देने से भी इसका नाम प्रणव है। अथवा मायारहित महेश्वर ही प्रकृष्ट रूप से नव अर्थात् शुद्धस्वरूप से स्थित है, अतः प्रणव है। साधक को नव शिव स्वरूप कर देने के कारण प्रणव है। अथवा प्रकृष्ट नव ज्ञान देने वाला होने से प्रणव है।[65] अकार, उकार, मकार, बिन्दु, नाद, शब्द, काल और कला– इनमें युक्त प्रणव दीर्घ प्रणव है जो योगियों के हृदय में स्थित है। 'अ उ म् इन तीन तत्त्वों से युक्त' Ðस्व प्रणव है। अ शिव है, उ शक्ति है, मकार दोनों की एकता है। Ðस्व प्रणव का जप सर्वपापक्षयकारक है। प्रवण

का नौ करोड़ जप करने से पृथ्वी तत्त्व पर विजय प्राप्त करता है। इसी क्रम से जल, अग्नि, वायु, आकाश, गंधादि प×चतन्मात्रााओं (विषयों) तथा अहंकार को जीत लेता है; जीवन्मुक्त हो जाता है; सदा प्रणव जप और प्रणव रूपी शिव का ध्यान करता हुआ साक्षात् शिव ही है।

देवादि पूजन –

पुराणों में विविध देवों के पूजन का विधान है जिसमें वेद मन्त्राों का प्रयोग किया गया है। यथा– विष्णु पूजन में पुरुष सूक्त, शिव पूजन में शिव मन्त्राों का, शिवपुराण में शिव पूजन में आवाहन–ध्यान–स्नान–गंधाथत–पुष्प–नैवेद्यादि पूजन में यजुर्वेद के 47 मन्त्राों का प्रयोग बतलाया है जो 16 में अध्याय के एक स्थान पर शिव स्नान में, वेद के पवमान सूक्त, रुद्रसूक्त, नालेरुद्रसूक्त, त्वरितमन्त्रा, लिङ्गसूक्त, अथर्वशीर्ष, ऋग्वेद और सामवेद के पाठ का विधान है।[66]

इस प्रकार समस्त पौराणिक वाङ्मय तथा आचार वैदिक वाङ्मय तथा वैदिक आचारों पर आधारित हैं।

इति

---

[1] भाग. 11/20/4–5।
[2] पद्मपुराण।
[3] भा. 1/4/42।
[4] वि.पु. 3/17/5–6।
[5] यजु.31/11, अथर्व.16/6/6, ऋग्वेद10/80/12, तै.ब्रा.3/12/5।
[6] (ऐ.ब्रा. 38/39–3)।
[7] (शतपथ. 5/11/12)।
[8] (तै.सं. 5/7/6/3/41)।
[9] (तै.सं. 2/5/10/2)।
[10] (तै.सं. 7/1/1/5)।
[11] ताण्डय. 6/1/11।
[12] भाग. 2/5/27।
[13] भा. 11/5/2।
[14] भा. 11/17/13।
[15] वि.पुराण 1/6/3–8।
[16] भाग. 11/17–19–20।

[17] भाग. 11/16/21।
[18] (बृ. 5/2/1–3)।
[19] भाग. 11/17/40।
[20] भा. 11/17/45–48।
[21] भा. 11/17/45।
[22] भाग. 11/17/45–48।
[23] पद्म. आ.30/8–12।
[24] कठो. 1/1/8, प्रश्नो. 1/1/9।। या 1/1/7।
[25] नारद.पू. 12/54–58, 13/10–15, पद्म. आ. 31/51–53, श्रीमद्भागवत।
[26] श्रीमद्भागवत् 7/15/49।
[27] तै.सं. 6/3/10/5।
[28] अथर्व. 11/5/3।
[29] अथर्व. 11/5/6, शत. 11/5/4/12।
[30] शत. 11/3/3/2।

[31] भाग. 11/14/22।
[32] भाग. 11/17/23–27।
[33] भाग. 11/17/1।
[34] नारद पू. 5/8 तथा अ. 8/13–14, पद्मपु. पा. 112/46–48, भाग. 10/45/33–36, वि.पु. 5/21/23–24, भाग. पु. 10/80/42।
[35] छां. उ. 7/1/2।
[36] ना.पू. 57।
[37] पद्मपु. आ. 53/6–61, ग.पु.आ. 53/75 तथा 96/47, पद्म.आ. 53/62।
[38] शिशु. 14/21।
[39] नारद पू. अ. 50।
[40] नारद.पू. अ. 50।
[41] भाग. 2/12/2, पद्म. आ. 51/52।
[42] भाग. 7/12/2।
[43] नारद पू. अ. 27।
[44] पद्म. सार्न्द. 54/1।
[45] तै. उ.।
[46] पद्म. स्वर्ग. अ. 54।
[47] भाग. 11/17/39।
[48] श.ब्रा. 11/5/6/7।
[49] नारद.पू. 27/75–76।
[50] भाग. 7/14–15।
[51] वि.पु. 3/11/66।
[52] पद्म. ऋ. 92/3।
[53] ग.पु. आ. 50/71।
[54] वि.पु. 3/11/49–50।
[55] वि.पु. 3/11 अ. पूरा द्रष्टव्य।
[56] यजु. 9/21।
[57] पद्म पु. 29/12।
[58] पद्मपु. सृ. 29/7–26।
[59] वि.पु.3/14/1–2।
[60] ग.पु. आ. 50/7, पद्मपु. सृ. 76–78।
[61] पद्मपु. सृष्टि.अ. 9/79–83 तथा पूरा अध्याय; नारदपु. पू. का 28वां अध्याय।
[62] बृ. 1/4/16।
[63] छा. 1/1–6, 1/4/1।
[64] मा.उ.1।
[65] शिवपु. विश्वेश्वर सं. अ. 17।
[66] द्रष्टव्य शिवपुराण विश्वेश्वर सं. अ. 17। तथा वायवीय सं.अ. 24।

वेदों में ऋत की अवधारणा तथा पुराणों में उसकी सङ्क्रान्ति

प्रो.राजेन्द्र मिश्र
हिमाचलप्रदेश वि.वि.
शिमला – 5।

वैदिक वाङ्मय में ऋत का पृथक् सन्दर्भों में पृथक् अभिप्रायों का बोधक प्रतीत होता है। उसकी व्याख्यायें तो आश्चर्यजनक ढंग से व्यापक एवं विविधार्थक सिद्ध होती हैं। वस्तुतः ऋत शब्द ब्रह्म के ही समकक्ष प्रभावी दृष्टिगोचर होता है। परन्तु निर्गलितार्थ लेने पर ऋत सत्यस्वरूप ब्रह्म, अविनाशी सत्ता अथवा ब्रह्माण्डीय सुव्यवस्था एवं सुप्रतिष्ठा का पर्याय प्रतीत होता है।

वेदों में ऋत को सृष्टि का मूल कहा गया है। वह सृष्टि जो महाप्रलय एवं नूतनसृष्टि के कारण 'पुनर्ववा' प्रतीत होती है– इस ऋत के ही कारण पूर्वसृष्टि से अभिन्न होती है। प्रत्येक नई सृष्टि में सबकुछ पूर्वसृष्टि जैसा ही होता है (यथापूर्वमकल्पयत्) और इस 'यथापूर्वकल्पन' का मूलाधार है 'ऋत'। ऋग्वेद में सोम तक को 'ऋतजात' बताया गया है। सोम ऋतरूप ही होता है। सूर्य ऋत का ही विस्तार करता है तथा नदियाँ भी अपने प्रवाह द्वारा ऋत का ही वहन करती हैं।

वस्तुतः चारों वैदिक संहितायें ऋत के विविध सन्दर्भों, व्याख्यानों तथा संकेतों से भरी पड़ी हैं। उन विविध व्याख्यानों में ही ऋत का 'सर्वमान्य' स्वरूप भी समाहित है। अतः उन सन्दर्भों का संक्षिप्त आकलन भी अपेक्षित है।

मित्राावरुण[1] को 'ऋतावृधौ' तथा 'ऋतस्पृशा' बताया गया है। वे ऋत से ही बढ़ने वाले तथा ऋतपालक बताये गये हैं। ऋत द्वारा ही वे विशाल यज्ञों को सम्पन्न करते हैं।[2] ऋग्वेद 1.23.5 में भी उन्हें ऋत की ज्योति का रक्षक (ऋतस्य ज्योतिषस्पती) बताया गया है। देवताओं की प्रभविष्णुता तथा मानवापेक्षया उनकी अधिक शक्तिमत्ता का कारण भी उनका 'ऋतानुपालन' ही बताया गया है–

''ऋतस्य देवा अनुव्रता गुः'' –ऋग्वेद 1.65.3

इसका प्रमाण हमें मिलता है ऋग्वेद के 1.68.5 संख्यक मन्त्रा में जहाँ अग्नि को 'ऋतस्य प्रेषाः' तथा 'ऋतस्य धीतिः' कहा गया है। अग्नि ऋत का सत्य का प्रेरक एवं रक्षक है। इस प्रकार समस्त देवगण ही सत्य के प्रेरक एवं रक्षक सिद्ध होते हैं।

ऋग्वेद के एक मन्त्रा में गायों को ऋत के लिये दूध देने वाली बताया गया है। निश्चय ही यहाँ ऋत शब्द यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त है।[3]

ऋषि कक्षीवान् उषस् से प्रार्थना करते हुये कहते हैं–

''ऋतस्य रश्मिमनुयच्छमाना
भद्रं भद्रं ऋतुमस्मासु धेहि।'' ऋग्वेद 1.123.13।

प्रस्तुत सन्दर्भ में आचार्य सायण ऋत का अर्थ सूर्य से लेते हैं। उषस् सूर्य–किरणों के अनुकूल रहती है।

---

[1] वरुण को विशेष रूप से ऋत का नियामक माना गया है।
[2] ऋतेन मित्राावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। ऋतुं वृहन्तमाशाथे। –ऋग्वेद 1.2.8।
[3] ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः स्मद्ध्नीः पीपयन्त द्युभक्ताः। – ऋग्वेद 1.73.6।

मन्त्राद्रष्टा ऋषि प्रत्येक प्रशस्त सन्दर्भ में ऋत का ही दर्शन करता है। अग्नि की दाहकता, सूर्य की तेजस्विता अथवा सोम का अमृतत्व – सबका मूल ऋत ही है। यजुर्वेद 11.47 में ऋषि कहता है–

''ऋतं सत्यममृतं सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः।''

इसी अर्थ में अग्नि को ऋतावान्[4] तथा विश्वदर्शन विभूषणों से अलंकृत भी किया गया है (यजु. 12.111) अग्नि ही, सत्य की वृद्धि करने वाला वसन्तादिरूप ऋतुसमुदाय भी है–

''ऋतव स्थ ऋतावृध ऋतुष्ठा स्थ ऋतावृधः।'' यजु. 26.3।

मरुतों के सन्दर्भ में भी, अन्य अनेक विशेषणों के साथ उन्हें 'ऋत एवं सत्य' कहा गया है। वे ऋतजित्, सत्यजित् तथा सेनजित् हैं–

''ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च
धर्ता च विधर्ता च विधारयः।। 27.82।
ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च
अन्तिमित्राश्च दूरे अमित्राश्च गणः।।'' 27.83 (यजु.)।

यजुर्वेद के 18वें अध्याय में यज्ञ के फलस्वरूप ज्यैष्ठ्य, आधिपत्य, श्रद्धा, धन, क्रीडा एवं मोद आदि के साथ सत्य एवं ऋत की भी कामना की गई है (ऋत×च मे.... यज्ञेन कल्पन्ताम् – 18.6)।

इसी अध्याय के 38वें मन्त्रा में अग्नि को ऋताषाट् तथा ऋतधामा कहा गया है जिसका तात्पर्य है ऋत के बल से विजय प्राप्त करने वाला तथा अविनाशी तेज वाला।

तैत्ति. आरण्यक में ऋत को स्पष्टतः 'तप' का पर्याय कहा गया क्योंकि ऋत स्वाध्याय एवं प्रवचन को भी कहते हैं। तैत्ति. आर. 7.9 में स्वाध्याय एवं प्रवचन को ही तप कहा गया है –

''तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च।
ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः
शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः।'' तै.आ. 10.8।

अथर्ववेद के सन्दर्भ ऋत के अर्थ का विस्तार सा करते प्रतीत होते हैं। 6.114.2 संख्यक मन्त्रा में आदित्य से प्रार्थना करते हुये कहा गया है–

''ऋतस्यर्तेनादित्या शिक्षन्तो मु×चतेह नः।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम्।।''

अर्थात् यदि यज्ञ प्रक्रिया में हमसे त्राुटि हो भी जाय तो उस 'ऋत के ऋत से' अर्थात् यज्ञ के पुण्यफल से हम व×िचत न हों।

अन्नब्रह्म अथवा विराट् अन्न की महिमा ख्यापित करते हुये कहा गया है–

''ऋतं हस्तावनेजनं'' (11.3.23)

अर्थात् सत्य ही हाथ धोने का जल है।

---

[4] इसी भाव का अनुवर्तन यजु. 26.6 में भी मिलता है– ऋतावानं वैश्वानरममृतंस्य ज्योतिषस्यतिम्।
अजस्रं धर्ममीमहे।।

उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त (काण्ड 11 सूक्त 7) में ब्रह्म की विभूतियों में ऋत एवं सत्य को भी परिगणित किया गया है–

''ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले।।'' 11.7.17।

ब्रह्मौदन–सूक्त में (काण्ड11 सूक्त1) में अन्न की वेदी को ऋतनिर्मित (ऋतेन त्वष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य निर्मिता वेदिरग्रे) कहा गया है।

अथर्ववेद का 15वाँ काण्ड अध्यात्मप्रकरण कहा जाता है। इस काण्ड में निराकार परमेश्वर के ऐश्वर्य का अद्भुत प्रतीकात्मक चित्राण है। यहाँ परब्रह्म को एक, ललाम, महत्, ज्येष्ठ, ब्रह्म, तप, सत्य तथा महादेव आदि संज्ञाओं से विभूषित किया गया है। जब वह ब्रह्म ऊर्ध्वगामी बना तब ऋत एवं सत्य आदि भी उसके अनुगामी बन गये–

''स ऊर्ध्वां दिशमनुव्यचलत्।

तमृत×च सत्य×च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्यचलन्। ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।।'' अथर्व. 15.6.5,6।

अथर्व. इन्द्र को सत्यमार्ग का अन्वेषी बताता है– ''ऋतस्य पंथामन्वेषि विद्वान्'' (17.1.16)। अपने विषय में भी ऋषि यही कामना करता है कि –

''ऋतेन गुप्तः ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्।
मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युरन्तर्दधेऽहं सलिलेन वाचः।।''

वस्तुतः सत्य का मार्ग ही स्वर्गप्राप्ति का मार्ग है। इसी मार्ग से सुकृती अङ्गिरस जन स्वर्ग तक जा सके हैं–

''ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति।।
तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व।।'' 18.4.3।

अथर्ववेद के कुछ गूढ सन्दर्भों में 'ऋत' का आशय स्पष्ट नहीं होता है। देवराज इन्द्र की स्तुति करते हुये आङ्गिरस अयास्य कहते हैं कि हमारे पिता बृहस्पति ने इन्द्रस्तुतिविषयक इस 'ऋतप्रजाता सप्तशीर्ष्णी बृहती धीः' को प्राप्त किया। यहाँ सप्तशीर्ष्णी तथा ऋतप्रजाता का साम×जस्य बैठा पाना थोड़ा कठिन प्रतीत होता है। डॉ. सातवलेकर जी ने नेत्रायुगल, कर्णयुगल, नासिकायुगल तथा मुख को ही समवेत रूप से सात सिरों वाली बुद्धि (मननशक्ति) कहा है जो कि ऋतप्रजाता है।[5]

समूचे वैदिक मन्त्रासमवाय में 'ऋत एवं सत्य' का सर्वाधिक परिनिष्ठित विवेचन अघमर्षणमन्त्रों में मिलता है। इनमें परब्रह्म से समुद्भूत सृष्टिक्रम का विलक्षण चित्राण मिलता है। यहाँ परब्रह्म के देदीप्यमान तप से ऋत एवं सत्य का प्रादुर्भाव माना गया है। ऋत एवं सत्य के अनन्तर ही प्रलयरूपी रात्रि जनमी–

''ऋतं च सत्य×चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।।1।।
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत

[5] द्रष्टव्य – अथर्व. 20.92.2।

अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।।2।।
सूर्याचन्द्रमसौ धातां यथापूर्वमकल्पयत्
दिवं च पृथिवी चान्तरीक्षमथो स्वः।।3।।'' ऋग्वेद 10.190

''ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुः'' (9.73.8), ''ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्रो'' (9.73.9), ''ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियम्'' (9.75.2) आदि ऋग्वेदीय सन्दर्भों में निश्चय ही ऋत शब्द यज्ञ का वाचक है। ऐसा प्रतीत होता है, जहाँ कहीं भी ऋषि श्रद्धाविगलित होता है अथवा स्वयं को 'इदमित्थम्' कहने की स्थिति में नहीं पाता, अथवा जहाँ वह 'नेति नेति' की संशयदोला में आरूढ़ होता है – वहीं, अनिर्वचनीयता की स्थिति में 'ऋत' का प्रयोग करता है। फलतः उसकी दृष्टि में परब्रह्म तो ऋतस्रष्टा है ही, यथासन्दर्भ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रागण, यज्ञ एवं सोमादि सभी 'ऋत' ही प्रतीत होते हैं। सोम देवता को अर्पित पवमानसूक्त के एक मन्त्रा में ऋषि कहता है–

''ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन् त्सत्यकर्मन्।श्रद्धां वदन् त्सोम राजन् धात्राा सोम परिष्कृत इन्द्रामेन्द्रोपरि स्रव।।'' –ऋग्वेद 9.113.4।

वस्तुतः एक ही शब्द 'ऋत' इन्द्र, अग्नि, सोम, मरुत, मित्रा एवं वरुण आदि विविध देवों के अर्थ में विविध अर्थ देता है। वरुण के सन्दर्भ में यदि वह 'अविनाशी ब्रह्माण्डीय नियमन' का वाचक है तो इन्द्र के सन्दर्भ में मात्रा जल का, जैसे–

''ऋतं देवाय कृण्वते सवित्रो इन्द्रायाहिघ्ने न रमन्त आपः।'' –ऋग्वेद 2.30.2।
यहाँ 'ऋतं कृण्वते' का तात्पर्य है जलप्रेरक इन्द्र।

''ऋतावा हविष्मन्तस्तमीलते'' (ऋग्वेद 3.13.2) का अर्थ है– सत्यसंकल्प वाले हविर्दाता उस अग्नि की उपासना करते हैं।

''ऋतावरी दिवो अर्कैरबोधि'' (ऋग्वेद 3.61.6) का तात्पर्य है ऋतावरी अर्थात् सत्य का पालन करने वाली उषा द्युलोक पर आने वाली मयूखमाला से पहचानी जाती है।

आंगिरसों ने अपनी सत्य की शक्ति से ही पर्वतों को विदीर्ण कर पणियों द्वारा अपहृत गायों को खोज लिया था।

''ऋतेनाद्रिं व्यसन् भिन्दन्तः समङ्गिरसो नवन्त गोभिः।।'' –ऋग्वेद 4.3.11।

बलवान्, पराक्रमी अग्नि उत्तम एवं पोषक दूध से सिञ्चत होता है– ''ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदुक्तः प्रमाँ अग्निः पयसा पृष्ठयेन।।'' –ऋग्वेद 4.3.10।

कुछेक मन्त्राों में तो अनेक बार प्रयुक्त 'ऋत' शब्द भिन्न अर्थ देता है। ऋग्वेद 5.12.2 में ऋत 'स्तुति तथा जलधारा' दोनों का अभिप्राय प्रकट करता है–

''ऋतं चिकित्व ऋतमिच्छिद्ध्यृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः।
नाहं यातुं सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः।।'' –ऋग्वेद 5.12.2।

कुछ मन्त्राों में ऋत का अत्यन्त मनोरम, लोकोपयोगी अर्थ मिलता है जैसे– ऋत अथवा सत्य के मार्ग पर चलकर ही ज्ञानियों ने (जगत्) रक्षा की है–

''ऋतस्य पथि वेधा अपायि।'' –6.44.8।

ऋग्वेद 6.51.9 में अन्ततः विश्वेदेवों को ही 'ऋतस्य रथ्यः' (यज्ञ का नेता) तथा 'ऋतस्य पस्त्यसदः' (यज्ञशाला में निवास करने वाला) की उपाधि से विभूषित कर दिया गया है।

उपर्युक्त सन्दर्भों में आये **ऋतप्रजात, ऋतपथ, ऋतावा, ऋतपस्त्यसदः, ऋतावरी, ऋतगोपा, ऋततन्तुः, ऋतगुप्तः, ऋतान्वेषी, ऋतरश्मि, ऋतावानः, ऋतज्योतिः, ऋताषाट्, ऋतधामा, ऋतजित्, ऋतावृधः, ऋतस्पृशः, ऋतप्रेषाः, ऋतधीतिः** तथा **ऋतजातादि** शब्दों से वैदिक संहिताओं में ऋत के निस्सीम, विविध तथा गूढ अभिप्रायों का भान होता है। कुछ विद्वानों की दृष्टि में वैदिक ऋत से ही अंग्रेज़ी का RIGHT शब्द निर्मित हुआ है। ध्वनि तथा अर्थसाम्यवश यह युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा है नहीं। RIGHT तो ऋत के सांसारिक रूप 'सत्य' के भी निकष पर खरा नहीं उतरता। सत्य का अर्थ है— त्रिकालबाधित सत्ता। परन्तु RIGHT मात्रा उचित व्यवहार तक सीमित है। निश्चय ही 'ऋत' इन सबसे परे कोई बड़ी सत्ता है।

वस्तुतः संहिता के प्रामाण्य से 'ऋत' वह महाप्रभविष्णु ब्रह्माण्डीय व्यवस्था (cosmic order) सिद्ध होती है जिसके अनुशासन से ही ग्रहगण अनन्तकाल से एक ही सुनिश्चित ग्रहपथ पर संक्रमण करते रहे हैं। उसी ऋतव्यवस्था ने सूर्य को ऊर्जा, अग्नि को तेजस एवं दाहकता तथा जल को शीतलता प्रदान की है। यह ऋत ही है जिसके अनुशासनवश सूर्य नियमित रूप से पूर्व दिशा में उदित एवं पश्चिम दिशा में अस्त होता है। ग्रहों का परस्पर आकर्षणशक्ति से प्रभावित होते हुये भी, एक—दूसरे से निश्चित दूरी पर ही गतिशील होना — ऋत का प्रतिफल है। इस प्रकार, ब्रह्माण्डगत त्रिकालाबाधित सुव्यवस्था ऋत है और उसी का भौतिक एवं सांसारिक रूप सत्य है। अनुल्लंघनीय दैवी अनुशासन ही, ब्रह्माण्ड के स्तर पर 'ऋत' तथा जगत् के स्तर पर 'सत्य' है।

सत्य की प्रतिष्ठा मूलतः ऋत की ही प्रतिष्ठा है जिसकी अनुशंसा सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में पदे—पदे मिलती है। 'सत्यं परं धीमहि' का आदर्श भारत की विश्ववारा आर्यसंस्कृति का मूलाधार रहा है। स्मृतियाँ, जो वेदार्थ का ही अनुगमन करती हैं, भी उसी सत्य को सर्वोपरि प्रतिष्ठित करती हैं। प्राचीन काल में, दीक्षान्त के अवसर पर उपाध्याय 'सत्यं वद' कहकर प्रथम देशना 'सत्य' की ही देता था। उपनिषदों तथा स्मृतियों ने सत्य के मर्म को, दृष्टान्तमुखेन, बड़ी कुशलता से उद्घाटित किया। महानारायणोपनिषद् के एक मन्त्रा में कहा गया—

> ''सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि।
> सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।।
> तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति।''

वसिष्ठ स्मृति में भी समान विचार मिलते हैं—

> ''धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत माऽनृतम्।
> दीर्घं पश्यत मा Ðस्वं परं पश्यत माऽपरम्।।''

ऋत एवं सत्य की व्याख्याओं की भूयसी मात्राा एक स्वतंत्रा ग्रंथ बन सकती है। प्रायः एक ही प्रकार के तथ्य विविध ब्राह्मणग्रंथों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा स्मृतियों में मिल जायेंगे।

कालान्तर में जब वेदसंहिता की भाषा तथा उसमें अभिव्यक्त संकेत या तथ्य उत्तरोत्तर जटिल होने लगे, तब महाभारतकार महर्षि कृष्णद्वैपायनव्यास ने एक नये प्रस्थान का सूत्रापात किया, यह कहकर कि—

> ''इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।''

पौराणिक वाङ्मय सर्जना की यह नैमित्तिक अथवा काम्य पृष्ठभूमि है। वैदिक देवशास्त्रा के रूपांकन तथा मूर्तीकरण का प्रयास प्रारम्भ हुआ। ऋग्वेद के मन्त्रांश 'वृषणः इन्द्रः' (बलवान् इन्द्र) को मूर्त रूप देने के लिये अहल्याकामुक मघवा की कथा गढ़ी गई जिसने उग्रतेजा महर्षि गौतम के शाप से सर्वप्रथम तो पापी इन्द्र के वृषण (अण्डकोष) चू पड़ते हैं तथा वह क्लीब बन जाता है परन्तु बाद में क्षमाशील महर्षि के आशीः प्रभाव से बकरे के वृषण संयोजित कर, अश्विनीकुमार उसे पुनः पौरुष–सम्पन्न बना देते हैं।[6]

वस्तुतः वैदिक कथासंकेतों के विस्तार का प्रबल बृहददेवताकार आचार्य शौनक ने ही प्रारंभ कर दिया था। निरुक्तकार यास्क भी अपने युग में प्रचलित वेदाख्यान की विभिन्न पद्धतियों (ऐतिहासिक, प्राकृतिक आदि) का हवाला देते हुये वैदिक देवों की पुरुषविधता तथा अपुरुषविधता की चर्चा करते हैं। यह एक लम्बी प्रक्रिया थी जो सम्भवतः हज़ारों वर्षों में सम्पन्न हुई होगी– जिसकी उपलब्धि है विशाल पौराणिक–वाङ्मय।

पौराणिक कथाओं में ऋत एवं सत्य की संक्रान्ति तो होनी ही थी, क्योंकि ऋत अथवा सत्य, अभ्युदय एवं निःश्रेयस का एकमात्रा साधन था। यही कारण था कि नल, युधिष्ठिर, राम, मान्धाता, रन्तिदेव, हरिश्चन्द्र, पृथु, नहुष, ययाति, शर्याति, अम्बरीष, जनक सरीखे सैकड़ों सत्यरक्षक राजर्षियों के प्रामाणिक एवं विश्वसनीय उदन्तों द्वारा पुराणों ने सत्य की आस्था एवं निष्ठा को भारतीय जनता के हृदय में युग–युग के लिये कीलित कर दिया। स्वयं देवाधिदेव शिव पुराणार्थ को वेदार्थ से परतर मानते हैं।[7] सत्य की रक्षा के लिये महाराज हरिश्चन्द्र ने अपने भौतिक सुखों का जैसा उत्सर्ग किया, वह देवीभागवतमहापुराण में सप्रमाण तथा सविस्तार वर्णित है। इसी सत्यरक्षा से जुड़ी अयोध्यानरेश महाराज दशरथ तथा नैषध नल की कथायें रामायण, श्रीमद्भागवत तथा अन्यान्य पुराणों में सुरक्षित हैं। वस्तुतः इन्हीं उत्प्रेरक चरित्राकथाओं ने समाज में नैतिकता के मानदण्ड स्थापित किये। सत्य, धर्म, परोपकार, करुणा, ममता, वत्सलता आदि के ये महान् मानवीय आदर्श समाज में प्रतिष्ठित न होते तो 'समाज कैसा होता?' इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः सत्यानुपालनादि के ये दृष्टान्त ही आने वाली पीढ़ी के उत्पथ होने से बचाते हैं, जैसा कि योगेश्वर कृष्ण ने स्वयं गीता में कहा–

''यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणीकुरुते लोकस्तमनुवर्तते।।''

इति

---

[6] इसी प्रकार के अन्य वेदमन्त्रांश भी हैं जैसे– 'अहल्यायै जारः, तारापतिश्चन्द्रमाः ब्रह्मा स्वदुहितुः पतिः, यः पर्वतान् प्रकुपितानरम्णात्' आदि।

[7] वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्रा संशयः।। नारद. 2.24.7।

वेद–पुराणोक्त सांस्कृतिक अन्तःसम्बन्धों की विहंगम दृष्टि

डॉ.एस.डी.तिवारी
आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत–विभाग
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
दमोह (म.प्र.) – 470661।

सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातु एवं क्तिन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'संस्कृति' शब्द को विभिन्न चिन्तक मनीषियों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है, किन्तु इसके उ०म के सम्बन्ध में यह मतैक्य है कि सम्पूर्ण जनमानस के उत्कृष्ट विचारों, युगीन उपलब्धियों और सदाचार, सद्बुद्धि, सद्विवेक एवं सद्गुण प्रभृति आदर्शों के समन्वय से यह रूपायित होती है। पाश्चात्य विद्वान् इसका संकुचित अर्थ भले ही करें, किन्तु भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में संस्कृति के अन्तर्गत विश्वमानवसमाज समाहित है। संस्कृत–परिष्कृत मानव जीवन से उद्भूत मानवता संस्कृति का मौलिक उपादान है, जिसका ज्ञान विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद, वेदाङ्ग एवं पुराणादि के अनुशीलन से ही संभव है। भारतीय संस्कृति शाश्वत एवं सनातन है। बहुविध उत्थान–पतन के पश्चात् भी इसने बीजरूप आत्मतत्त्व को वेदों एवं पुराणों में जीवंत रखा है।

भारतीय संस्कृति का विकास दो रूपों में हुआ है– आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक। इससे इसके अन्तःबाह्य दोनों स्वरूप दृष्टिगोचर हो जाते हैं। इसने विभिन्न जीवनादर्शों को अपनाकर भी अपने मौलिक स्वरूप का परित्याग नहीं किया है, क्योंकि इसका जन्म वेद–पुराणोक्त धर्म की धरा पर हुआ है। वैदिक संस्कृति ने विश्व संस्कृति की अन्तश्चेतना को प्रेरित किया है। वेदों में सत्यं शिवं सुन्दरं का मूर्त रूप परिलक्षित होता है। वेदमन्त्रा धर्मस्वरूप हैं, जिसका दर्शन ऋषियों ने किया है और ऋषि परम्परा से विशाल वैदिक वाङ्मय का विकास हो गया।[1] इन वैदिक मन्त्राों में संस्कृति के विविध तत्त्वों का सूत्राात्मक एवं रहस्यात्मक शैली में निरूपण हुआ है। संस्कृति के कर्म एवं ज्ञान पक्ष को उद्घाटित करते हुये मन्त्राद्रष्टा ऋषियों ने कहा है कि ज्ञान से मानव व्यक्तित्व दिव्य होता है, ज्ञानसम्पृक्त व्यक्ति देवता बन जाता है और उसे समाज में सर्वोच्च स्थान तथा सम्मान मिलता है।[2] अथर्ववेद तो नेत्रा, प्राण एवं सन्तानप्राप्ति का नियामक ज्ञान को स्वीकार करता है–

''यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृत्तां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः।।'' 10.2.29।

प्राचीन आचारों एवं विचारों का समन्वित रूप ही वैदिक संस्कृति है। इनकी एकरूपता से संस्कृति सर्वाङ्गीण बनती है। वेदोक्त ज्ञान, कर्म एवं उपासना का विस्तृत स्वरूप विभिन्न उपनिषदों, ब्राह्मण एवं आरण्यकग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है। स्वर्ग एवं मुक्ति से सम्बन्धित दार्शनिक विचारों से मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति जागरित हुई।

---

[1] निरुक्त–10/10 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्राान् सम्प्रादुः'।

[2] शतपथ.– 3.7.3.10, 2.2.2.6 एवं तैत्तिरीय.– 1.7.3।

फलतः परवर्त्ती विचारकों ने योजनायें बनाकर उसे धर्म का स्वरूप दे दिया, जिसका आचरण करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य था। इस प्रकार श्रौत, स्मार्त एवं शिष्टाचारादि धर्मशास्त्रा के आचारमूलक तीन स्वरूपों का दर्शन प्राप्त होता है।

'ऋत' वैदिक संस्कृति का मौलिक आधार है। यह एक नियम है, जिसकी सत्ता अनन्त प्रकृति एवं समस्त चराचर जगत् में है। इसकी उपयोगिता सार्वकालिक एवं सार्वजनिन है। ऋत देवताओं का स×चालक एवं नियन्ता है। यह नैतिक क्षेत्रा में सत्य एवं तप का व्य×जक और धार्मिक क्षेत्रा में यज्ञ एवं संस्कार का द्योतक है। वेद में वरुण को ऋत का प्रमुख देवता मानकर उन्हें ऋतचित् एवं ऋतायी कहा गया है। वरुणदेव ऋत द्वारा क्रम निर्धारित करते हैं, जिसका अनुकूल आचरण प्रशस्य एवं प्रतिकूल आचरण दण्डनीय है। वैदिक ऋत ही भारतीय दर्शन का सत्य है। ऋग्वेद के निर्देशानुसार सृष्टि के आरम्भ में सबसे पहले तप से ऋत का जन्म हुआ और उसके पश्चात् ब्रह्मा ने रात्रि, वर्ष, सागर, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी, वायु एवं अन्तरिक्षादि का सृजन किया।[1] इससे समस्त जागतिक पदार्थों में ऋत की व्यापकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत सत्य ही ऋत है, जिसका आशय है– अनुशासन। इस अनुशासन का चराचर जगत में अत्यधिक महत्त्व है। यह ऐसा कठोर नियम है, जिसका उल्लंघन दुःसाहसी भी नहीं कर सकता। ऋत का पालन करती हुई उषा का एक चित्रा द्रष्टव्य है[2]–

''एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि
ज्योतिर्वसना समना पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थानमन्वेति साधु,
प्रजानतीव न दिशो मिनाति।।'' 1.124.3।

वेदप्रतिपादित यह ऋत नित्य एवं शाश्वत है। यह सभी जीवों को सन्मार्ग पर चलने की नैतिक प्रेरणा देता है। यह पापकर्मों से निवृत्त कर सद्कर्मों में प्रवृत्त करता है। वैदिक ऋषियों ने इसे सुख–शान्ति का अजस्र स्रोत माना है।[3] इसका पालन कर सभी देव, मुनि, राजा, आचार्य एवं सन्तों ने भारतीय संस्कृति को विश्वजनीन एवं गुरुपद प्रदान किया है। वैदिक ऋषियों ने इसका आश्रय लेकर धर्मपथ को प्रशस्त किया था, जिसका आचरण आज भी भौतिकवादी विश्व–मानव–समाज को प्रेरित करने में सक्षम है। ऋषियों की धर्मप्रयोजक सूक्तियाँ उनके मनोभावों एवं आदर्शों को अभिव्यक्त करने के साथ हमें भी कर्मक्षेत्रा में बढ़ने की प्रेरणा एवं जीवन–पथ पर गतिशील बनाती हैं।[4] 'देवता उद्योगी से ही मित्राता करते हैं।[5] अर्जित कर स्वयं उपभोग करने वाला महापापी होता है।[6] ज्ञानी जनों की ही संगति करनी चाहिये'[7]– इत्यादि ऋषि प्रार्थनायें मार्गभ्रष्ट मानवता को आलोक प्रदान करती हैं। याज्ञवल्क्य ऋषि शिवसंकल्प वाला बनने, अदीन

---

[1] ऋग्वेद– 10/30।
[2] वही 1/124।
[3] वही 4.23.89।
[4] ऋग्वेद–1.36.14 'कृधी न उर्ध्वात् चरथाय जीवसे'।
[5] वही–4.33.11 'न ऋते श्रान्तस्य सरव्याय देवाः'।
[6] वही–10.117.6 'केवलाद्यो भवति केवलादी'।
[7] वही–6.54.1 'सं पूषन् संगतिरभिप्रेता'।

होकर सौ शरद् ऋतु जीने, पराये धन का लोभ न करने और कार्य करते हुये ही जीने की प्रार्थना करते हैं।[1] अथर्ववेदोक्त ''यशसः स्याम्'', ''सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्'', ''वाचा वदामि मधुमत्'', ''तेजो मयि धेहि'', ''मा क्रुधः'' एवं ''अभयं नोऽस्तु'' इत्यादि ऋषि वचनों से उनके जीवन का आदर्श हमें बलात् आकर्षित करता है। वैदिक ऋषियों ने दैवानुग्रह प्राप्ति हेतु यद्यपि हवन, दान, तप, नमस्कार, उपासना, नामजप, ज्ञान, ध्यान, योग एवं भक्ति इत्यादि विविध कर्मसमवायों का आश्रय लिया है, किन्तु यज्ञ को ही सर्वोच्च साधन माना है, क्योंकि यज्ञ में इन सभी साधनों का एकसाथ उपयोग हो जाता है।

यद्यपि ऋत एवं सत्य का अविनाभाव सम्बन्ध है, फिर भी ऋत ही श्रेष्ठतम है, क्योंकि इसने ही सत्य को उत्पन्न किया है। जहाँ तक महिमामण्डित करने का प्रश्न है, दोनों में समरूपता है। मर्त्यलोक के प्राणियों के लिये सत्य का विशेष महत्त्व है, क्योंकि यह पृथ्वी सत्य पर ही टिकी हुई है।[2] सत्य ही समस्त दैवी शक्तियों से सुरक्षा प्रदान करता है, इसीलिये यजुर्वेद का ऋषि सत्य पर दृढ़ रहने की प्रार्थना करता है।[3] शतपथ शतपथ ब्राह्मण तो मृषावादी की पवित्राता नष्ट होने एवं तेज क्षीण होने की चेतावनी देता है।[4] ताण्ड्य ब्राह्मण असत्य को वाणी का छिद्र निरूपित कर उसे मानव–पतन का का कारण मानता है। बृहदारण्यकोपनिषद् सत्य को तीनों कालों से अतीत मानता है।[5]

वैदिक संस्कृति सद्भाव, सहयोग, ऐक्य एवं विश्वबन्धुत्व के भावों से ओतप्रोत है। इस सम्बन्ध में ऋग्वेदोक्त इन ऋचाओं को उदाहृत किया जा सकता है–

''संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।''

वैदिक ऋषि ऐसे राष्ट्र का निर्माण करना चाहता था, जिसके निवासियों में परस्पर सहयोग, सौहार्द्र, भ्रातृत्व एवं परोपकार की भावना भरी हो। उस समय अपरिचित व्यक्ति के साथ मानवमात्रा की भावना से सद्व्यवहार किया जाता था। इस कार्य में प्रकृति से उसे शिक्षा मिलती थी। यही कारण है कि वह लता, वृक्ष, शशक, मृग, पिक, शुक, मयूर, नद एवं सरोवर इत्यादि से विशेष अनुराग रखता था। अग्नि वायु, आप, पृथ्वी, द्यौ, सूर्य, चन्द्र एवं उषा के आदर्शों से वह प्रभावित था। इन्द्र, वरुण, सविता एवं रुद्रादि देवों से उपकार का पाठ पढ़ता था। परस्पर आदान–प्रदान का दुर्लभ उदाहरण धातव्य है–

''देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे विहारं निहराणि ते।।'' यजु. 3.50।

वैदिक ऋषि ऊँच–नीच, छुआ–छूत एवं समता–विषमता इत्यादि सामाजिक कलंक को निर्मूल करने को कटिबद्ध था। 'तेन त्यक्तेन भु×जीथा मा गृधः कस्यचिद्धनम्'

---

1 यजुर्वेद–34.1, 36.24, 40.1 एवं 42.3।
2 ऋग्वेद–10.85.01 'सत्येनोप्तम्भिता भूमिः'।
3 यजुर्वेद–20.11।
4 शतपथ.–3.1.3.18।
5 बृहदारण्यक.–3.9.28.7।

के उद्घोष से स्वत्वाधिकार की विषमता को दूर करना चाहता था। 'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः' सामगान से लोकहितकारी भावना भरता था। वैदिक ऋषियों की जीवन के प्रति गहन आस्था थी, जिससे वह मानव जगत को उल्लसित कर देना चाहता था। वह उदीयमान सूर्य की भाँति उन्नति की कामना करता था।[1] वह बल, विक्रम, शौर्य, दीर्घायु एवं तेज प्राप्ति के लिये नित्य प्रार्थना करता था। सुखी जीवन के लिये वह सदा जागते रहने का संकल्प करता था।[2]

वैदिक ऋषि प्रकृति से कर्मनिष्ठ थे और दूसरों को भी कर्त्तव्यपरायणता की शिक्षा देते थे। उन्होंने यज्ञ को विशेष महत्त्व दिया था। उनकी दृष्टि में वेद ही यज्ञ का प्रयोजक था– 'वेदाः यज्ञार्थाः'। उन्होंने यज्ञ में ही सत्य का अन्वेषण किया था, क्योंकि यज्ञ ही कुत्सित कर्मों (के पयः) का विनाश कर सकता है। इन यज्ञों के विविध स्वरूप निर्धारित थे। नित्ययज्ञ अनिवार्यतः किया जाता था, क्योंकि न करने से नानाविध प्रत्यवायों की आशंका थी। भौतिक कामना से काम्ययज्ञ गर्हित एवं त्याज्य था। विश्वात्मक भावना से युक्त ऋषि विश्वचिन्तन को ही यज्ञ का प्रयोजन मानता था।[3] ऋषियों ने काल एवं लोकचक्र की संकल्पना कर प्रजापति का अन्वेषण तथा देवचक्र की सृष्टि की थी। देवचक्र के आधार पर ही यज्ञ की संकल्पना की गई है। इस प्रकार सृष्टि प्रक्रिया से प्रजापति का अन्वेषण यज्ञ की महत्त्वपूर्ण संकल्पना है। वैश्विक नियम यज्ञ से ही आता है। यज्ञ ही ऋत ज्ञान का मार्ग है। यह यज्ञ अनेकविध क्रियाओं का समवाय है।[4] ब्रह्म प्रकृति से अधिष्ठित है, जिससे स्पन्दन होता है और प्रकृति से कर्म उत्पन्न होता है, किन्तु इन सभी कर्मों को यज्ञ की संज्ञा नहीं दी जा सकती, अपितु श्रेष्ठतम कर्म को यज्ञ कहा गया है– 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'। क्रिया मुख्यतः तीन प्रकार की होती है– वासनाजन्य, कामनाजन्य एवं निष्काम। इन तीनों में प्रथम जघन्य एवं अघायु है। दूसरी इससे कुछ अच्छी है, क्योंकि 'पुत्राकामो यजेत्' में कामना के साथ त्याग, श्रद्धा एवं भक्तिभावना के साथ ईश्वर के प्रति समर्पण है। तीसरी सर्वोत्तम क्रिया है, क्योंकि इसमें निःस्वार्थभाव से मात्रा प्रजापति ब्रह्म से एकरूप होने का भाव है। इसमें कर्त्तव्यबुद्धि के साथ व्यक्तिगत वासना से निवृत्ति है। यही नित्यकर्म यज्ञ है। इसी में जीवन के विकास की कहानी है। इसी कर्म से निःश्रेयस की प्राप्ति संभव है। शबरस्वामी इसे मानवताधर्म कहते हैं; संत ज्ञानेश्वर स्वधर्म कहते हैं। प्रजापति के साथ यज्ञ का नित्य सम्बन्ध है। याज्ञवल्क्य सत्य, परब्रह्म एवं अक्षर की ओर जाने को यज्ञ का प्रयोजन मानते हैं। यज्ञ के रहस्य एवं वैश्विक भाव से अपरिचित जैन–बौद्ध मतावलम्बियों ने निन्दा की है, क्योंकि घृतादि पदार्थों का अपव्यय होता है। इन्हें नहीं मालूम कि आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार कर चुका है कि कोई भी वस्तु नष्ट न होकर मात्रा रूपान्तरित हो जाती है। यज्ञपद्धति आचार धर्म है और ऋषियों ने इसे प्रतीकात्मक रूप दिया है, क्योंकि विचार का महत्त्व आचार से ही होता है। उनकी दृष्टि में जीवन ही यज्ञ है। विश्व में भी यज्ञ सतत् गतिशील है। महर्षि अत्रि नदीयज्ञ करते

---

[1] ऋग्वेद–6.52.5।

[2] यजुर्वेद–30.17 'भूत्यैजागरणम्'।

[3] ˘वतसक पे बवेउवे दवज बींवेश्ण

[4] यज्ञात् भवति पर्जन्यः, यज्ञः कर्मसमुद्भवः।
कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।।

थे, क्योंकि गायें उसी का जल पीती थी। पूर्वजों के लिये भी यज्ञ का विधान था।[1] वैश्वदेव यज्ञ से उभयलोकजय, चातुर्मास से परमगति, स्वस्तियज्ञ ये यात्राा सुख, महावैराज्य से वृहद्राज्यप्राप्ति, मित्राााविन्द से मित्राप्राप्ति, वारियज्ञ से वर्षा, एवं गवामयन यज्ञ से सन्तानादि की प्राप्ति होती है। यजुर्वेद के अनुसार तो बुद्धि, ज्ञान, ओज, शर्म, वर्म, आयु, सत्य, श्रद्धा एवं सुखादि प्राप्ति की दीर्घ सूची का उल्लेख है। यज्ञ की यह परम्परा सतत गतिशील रही है। विश्वामित्रा, व्यास, वसिष्ठ, अगस्त्य, च्यवन, याज्ञवल्क्य एवं दुर्वासा प्रभृति महर्षियों द्वारा सम्पादित यज्ञों का उल्लेख मिलता है। निश्चय ही यज्ञ आत्म एवं पर्यावरण शुद्धि का सर्वोत्तम कारक है।

वैदिक संस्कृति आर्यों एवं अनार्यों की सामूहिक विरासत है। इसमें शम्बरासुर एवं वृत्राासुर सदृश असुरों के साथ अनेक दैत्यों एवं व्रात्यों के देवविरोधी विचारों का भी समन्वय है। अध्यात्मवादी प्रवृत्ति के घोर विरोधी भौतिकवादी बृहस्पति के विचारों से भी प्रभावित है। वैदिक संस्कृति की संरचना में असुर मन्त्रादृष्टा ऋषि सर्पयाज्ञी और कवि उशना का भी योगदान है। अतः निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि आत्मदर्शी ऋषियों के ज्ञान एवं कर्म का स×चत कोष ही वैदिक संस्कृति है।

'पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिताः' इस व्यासोक्ति के अनुसार 'पुराण' वेदार्थ के उपबृंहण ग्रन्थ हैं।[2] वेदार्थ का यह उपबृंहण पुराणों में विभिन्न स्वरूपों में प्रतिपादित है। कहीं–कहीं वैदिक पदों को ज्यों का त्यों ग्रहण किया गया है। विष्णुसूक्त के अनेक पदों को श्रीमद्भागवत एवं पद्मपुराण में देखा जा सकता है।[3] कहीं वैदिक मन्त्राों की विशद व्याख्या की गई है। 'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्' ऋग्वेदोक्त इस मन्त्रा की व्याख्या भागवतपुराण में की गई है।[4] पुराणों में वैदिक आख्यानों का पर्याप्त उपबृंहण किया गया है। पुराणों ने वैदिक प्रतीकों की सुलझी व्याख्या प्रस्तुत कर रहस्य को बोधगम्य बनाया है। इस प्रकार वैदिक संहिताओं में प्रतिपादित सांस्कृतिक तत्त्वों को भी पुराणों में विस्ताररूप दिया गया है। वैदिक संस्कृति के साथ–साथ अवैदिक सांस्कृतिक वैशिष्ट्य का भी विस्तार किया गया है। वैदिक काल में यज्ञ के अवसर पर आर्य एवं अनार्यों के सामूहिक उ०ायन की जो परम्परा प्रारम्भ हुई थी, उसका विकसित सुघट स्वरूप हमें पुराणों में परिलक्षित होता है। पौराणिक सूत एवं मागध वैदिक गाथाओं एवं आख्यानों को रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हुये वर्णित हैं। चूँकि वेद, ब्राह्मण एवं उपनिषदों की रहस्यमय बातें सामान्य जन की बुद्धि के परे थी, इसीलिये पुराणों ने उसे सरल–सरस ढंग से विस्तृत कर सर्वजनसंवेद्य बना दिया।[5] इन पुराणों में वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति का सुविस्तृत स्वरूप मिलता है। वैदिक साहित्य में मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद का प्रतीकात्मक वर्णन है। यज्ञ में जिस हिरण्यमय पुरुष की मानवाकार स्वर्णमूर्ति का मात्रा संकेत है, उसे पुराणों ने नारायण के रूप में प्रतिष्ठित कर उनके दशावतारों का विस्तृत वर्णन कर दिया। वेद प्रतिष्ठित त्रिादेवों की संख्या का विस्तार

---

[1] अथर्व.– 18.4.40।

[2] महाभारत– 1.1.86।

[3] भागवत– 2/5/35–42, पद्म. 5/4/116–124।

[4] वही– 2/7/40।

[5] इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदों मामयं प्रहरिष्यति।।

कर तैंतीस कोटि तक पहुँचा दिया। पुराणों में इन देवों के पारिवारिक सदस्यों का भी विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

वेदोक्त कर्म एवं ज्ञान को पुराणों ने पुरोहितों एवं सन्तों के अधिकार क्षेत्रा से बाहर निकाल कर जन–जन का विषय बना दिया। इससे समाज का अभिनव रूप समक्ष आया और जीवन की मान्यता भी बदल गई। पौराणिक काल में कर्मकाण्ड के स्थान पर भक्ति के प्रति अत्यधिक आग्रह बढ़ गया। जिस भगवान् को वेद, नाम, रूप एवं भाव से परे मानते रहे, उसे पुराणों ने अनन्त विभूतियों से मनोहर रूप दिया।[1] वैदिक प्रतीकात्मक देवताओं ने पुराणों में सगुण साकार स्वरूप धारण कर लिये। पुराणों ने धर्म, आचार–विचार, अनुष्ठान, व्रत एवं पूजा इत्यादि के क्षेत्रा में अभिनव परम्पराओं की स्थापना की। वैदिक उदात्त भावनाओं को पौराणिक प्रवक्ताओं ने लोकोपयोगी बनाकर प्रस्तुत किया। इनके प्रयासों से ही पुराणों को मानवधर्मग्रन्थ के रूप में सामाजिक प्रतिष्ठा मिली। समाज का निम्नवर्ग भी इसे स्वीकार कर अपना स्वतंत्रा विकास करने लगा। पद्मपुराण निम्नवर्गीय प्रभुभक्तों को भी वन्दनीय तथा भागवतपुराण भगवत्प्रेमी चाण्डाल को भी ब्राह्मण से श्रेष्ठ मानता है। आज के प्रगतिवादी जिस साम्यवाद की आवाज़ बुलन्द कर रहे हैं, उसका शंखनाद भागवतपुराण के इस श्लोक में स्पष्ट सुना जा सकता है–

''यावद् भ्रियेत् जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।।'' 7/14/8।

पुराणों ने वेदोक्त प्रतीकात्मक आख्यानों की आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है, जिसके बिना 'ब्रह्मा स्वदुहितुः पतिः' मन्त्रा के अशिष्ट एवं अश्लील वाच्यार्थ से वैदिक संस्कृति एवं सभ्यता के प्रति घृणितभाव उत्पन्न होता। भागवत. ने दक्षप्रजापति के यज्ञविध्वंस की घटना को समष्टिकल्याण द्योतक सिद्ध किया है।

पुराण भारतीय संस्कृति के विश्वकोश हैं। इन्होंने धर्मसूत्रास्मृतिप्रतिपादित वर्णाश्रम सम्बन्धी वर्गभेद का समूल उच्छेद किया है। मानवजाति का ऐतिहासिक परिचय पुराणों के बिना संभव ही नहीं होता। इन्होंने उत्पत्ति, स्थिति एवं लय सम्बन्धी काल के त्रिविध स्वरूपों का विवेचन कर कालगणना के निम्न पाँच आधारों को रेखाङ्कित किया है–

''सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं प×चलक्षणम्।।''

पुराणों ने सांख्याभिमत प्रकृति–पुरुषयोगात्मक सृष्टि को ब्रह्म–विष्णु–शिव से अभिन्न स्वीकार कर ऐक्य स्थापित किया है। प्रलय, चौदह मन्वन्तरों एवं विविध राजवंशों का विस्तृत वर्णन पुराणों में विद्यमान है। इससे उनकी सभ्यता एवं संस्कृति का भी ज्ञान प्राप्त होता है। स्वायम्भुव एवं वैवस्वत मनु को विशेष प्रतिष्ठा मिली है। वैवस्वत मनु से ही सूर्य एवं चन्द्रवंशी राजाओं की दीर्घ परम्परा चली, जिनमें अनेकों आदर्श राजा हुये, जिनके प्रभाव से भारतीय संस्कृति आज भी अनुप्राणित है।

---

[1] ऋग्वेद– 1/2/55 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'।
पुराण– 'एकं सत् प्रेम्णा बहुधा भवति'।

पुराणों ने महाभारत के पूर्ववर्त्ती एवं पश्चाद्वर्त्ती बृहद्रथ, प्रद्योत, शिशुनाग, मौर्य, शुंग एवं सातवाहन प्रभृति राजवंशजों की प्रामाणिक जानकारी देकर उनकी संस्कृति एवं सभ्यता को आलोकित किया है।

इन उपर्युक्त तथ्यों से यह स्वयंसिद्ध है कि वैदिक संस्कृति के सम्यक् ज्ञान के लिये पुराणों का अनुशीलन अपरिहार्य है। क्योंकि पुराणों ने उस संस्कृति की व्याख्या की है। इस दृष्टि से दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध प्रमाणित है। विद्वानों ने इसीलिये पुराणों को भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड प्रख्यापित किया है। स्कन्दपुराण की स्पष्टोक्ति है–

यन्न दृष्टं हि वेदेषु तद् दृष्टं स्मृतिभिः किल।
उभाभ्यां यन्न दृष्टं हि तत् पुराणेषु गीयते।। रेवा 20/231/22।

इति

यज्ञ व पूजा की वैज्ञानिकता

प्रमोद कुमार द्विवेदी
(शोधछात्रा)
संस्कृतविभाग
डॉ.हरीसिंहगौर विश्वविद्यालय, सागर(म.प्र.)

परमेश्वर की प्रेरणा से वैदिक ऋषियों न समस्त जीव जगत के अभ्युदय के लिये कर्मकाण्ड की प्रधान संस्थायें यज्ञ व पूजा जैसी विशिष्ट विद्याओं का आनुभषिक साक्षात्कार कर उसे लोक–लोकान्तर में प्रकाशित किया। वैदिक आर्यों की यज्ञ व पूजन की प्राचीन परम्परायें निरन्तर करोड़ों वर्षों से अक्षुण्ण व प्रासंगिक बनी हुई हैं इसका मूलभूत कारण इनकी वैज्ञानिकता ही है।

यज्ञ की वैज्ञानिकता पर सम्यक् विचार करने के लिये यज्ञ व यज्ञ की आवश्यकता पर प्रकाश डालना परमावश्यक है अतः उपक्रम किया जाता है।

'यज्' धातु 'यज–याच–यत–विच्छ–प्रच्छ–रक्षो–नङ्' इस पाणिनीय (3/3/90) सूत्रा से 'नङ्' प्रत्यय करने पर यज्ञ शब्द बनता है। '**यजदेवपूजासङ्गतिकरणदानेषु**' इस पाणिनीय सूत्राानुसार 'यज' धातु देवपूजा, सङ्गतिकरण व दान इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है। इसीलिये यज्ञ में देवपूजन, सङ्गतिकरण व आहुति दान भी होता है।[1] मत्स्य पुराण के अनुसार – ''जिस कर्म में देवता, हवनीय द्रव्य, वेदमन्त्रा, ऋत्विज और दक्षिणा इन पाँचों का संयोग हो उसे यज्ञ कहते हैं।''[2] जहाँ पर देवता को उद्देश्य कर अग्नि में द्रव्य का प्रक्षेप किया जाता है उसे यज्ञ कहते हैं।[3] गीता(3/14) में व्यापक अर्थों में कर्म को ही यज्ञ कह दिया है।

यज्ञ कर्म क्यों किये जाते हैं? इनकी क्या आवश्यकता है? इस सम्बन्ध में महर्षि वसिष्ठ का कथन है कि – ''यज्ञ से सृष्टि चलती है, यज्ञ से विविध प्रकार के अन्न, घास, औषधि और फल होते हैं अतः बुद्धिमानों को चाहिये कि वे प्राणिमात्रा के जीवन के लिये यज्ञ को अवश्य किया करे। यथा–

यज्ञात् सृष्टिः प्रजायन्ते अन्नानि विविधानि च
तृणान्यौषान्यथ च फलानि विविधानि च
जीवानां जीवनार्थाय यज्ञः संक्रियतां बुधैः।[4]

श्रीमद्भागवतगीता में कहा गया है–

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः
यजाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः। (गीता 3/14)

अर्थात् समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है और वर्षा यज्ञ से होती है तथा वह यज्ञ कर्म से होता है।[5]

---

[1] पं. वेणीरामशर्माकृत यज्ञमीमांसा, पृ.1,2।
[2] मत्स्यपुराण– देवानां द्रव्य हविषां....यज्ञ उच्यते (144/44)।
[3] यज्ञ मीमांसा में उद्धृत भाट्टदीपिका का कथन, पृ.4।
[4] वही, पृ.24।
[5] श्रीमद्भागवतगीता 3/14।

कालिका पुराण में कहा गया है– यज्ञ से देवता व प्रजा संतुष्ट होते हैं। यज्ञ से अन्न की उत्पत्ति होती है। यज्ञ करने से ही संसार हमेशा शोभा पाता है। यह सारा संसार ही यज्ञ स्वरूप है यज्ञों से सारा संसार प्रतिष्ठित है। पृथ्वी माता यज्ञ से धारण की हुई हैं यज्ञ ही प्रजा को तारता है। देवताओं के निमित्त यज्ञ न होने से अन्न का क्षय होता है। बादल नष्ट हो जाते हैं, बादलों के नष्ट हो जाने से वर्षा नहीं होती। वर्षा के अभाव से मनुष्यों के लिये भोजन की कमी हो जाती है, जिससे सारा संसार दुर्भिक्ष (अकाल) से पीड़ित हो जाता है।[6] यथा–

यज्ञाद् देवाः प्रजाश्चैव यज्ञादन्ना योगिनः
सर्वसज्ञात्सदाभाविस् सर्वं यज्ञमयं जगत् (का.पु. 31/140)

यज्ञेषु देवास्तुष्यन्ति यज्ञे सर्वम्प्रतिष्ठितम्
यज्ञेनर्धियते पृथ्वी यज्ञस्तारयति प्रजा (का.पु. 32/7)

यज्ञाभावातु देवानामन्नं सर्वं क्षयं गतम्
पर्जन्याश्च ततो नष्टास्ततो वृष्टिर्न च भवत्
वृष्टयभावे तु लोकानामाहाराः क्षीणतां गताः
दुर्भिक्षव्यसनोपेते सर्वलोके द्विजोत्तमाः (का.पु. 20/112–113)

वायु पुराण में कहा गया है कि– यज्ञ के न होने से देवताओं का नाश होता है देवताओं के नाश से समस्त जगत का नाश होता है।[7] यथा–

यज्ञे नष्टे देवनाशस्ततः सर्वं प्रणश्यति (वायु. 60/6)

समस्त प्रकृति के तत्त्वों के स्वामी भिन्न–भिन्न देवता हैं यज्ञ के न होने से ये देवता निर्बल क्षीण होते जाते हैं जिनके साथ प्राकृतिक तत्त्वों में भी Ðास होने लगता है और धीरे–धीरे प्रकृति भी अनेक भीषण प्राकृतिक आपदाओं व घटनाओं से नष्ट होने लगती है।

अतः सृष्टि–संचालन के लिये यज्ञ प्रक्रिया आवश्यक है।

वैज्ञानिकता

वेद के अनुसार यज्ञ का सिद्धान्त तीन बृहत् स्तरों पर क्रियाशील रहता है। यथा– ब्रह्माण्ड, पिण्ड, जगत, जिनको क्रमशः आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक भी कहा जाता है। ब्रह्माण्ड व पिण्ड (शरीर) में ये यज्ञिय प्रक्रियायें निरन्तर शक्तिशाली देवताओं द्वारा संचालित रहती हैं जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है कि – देवताओं ने जब पुरुषरूपी हवि से यज्ञ किया। अस समय वसन्त ऋतु उसका घृत था, ग्रीष्म उसका ईंधन था तथा शरद उसका हवि था। उस यज्ञ वेदी के गायत्राी आदि सातों छन्द तथा सात समुद्र परिधि के रूप में थे। पृथ्वी आदि पंचमहाभूत, पंचतन्मात्राायें, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ पंच कर्मेन्द्रियाँ और मन इक्कीस समिधायें थीं। यथा–

षत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म ऽइहमः शरद्धविः (ऋ. 10/90/6)

---

[6] कालिकापुराण 31/140, 32/7, 20/112–113।
[7] वायुपुराण 60/6।

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रि सप्त समिधः कृताः
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अवनन्पुरुषं पशुम् (ऋ. 10/90/16)

गोपथ ब्राह्मण में ब्रह्माण्ड के शक्तिशाली तत्त्वों जिनको देवताओं की संज्ञा भी दी जाती है यथा – अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि को यज्ञकर्ता माना गया है ''अग्नि होता, वायु अध्वर्यु, सूर्य उ०ाता चन्द्रमा ब्रह्मा और वर्षा सदस्य हैं।''[8]

पिण्ड यज्ञ के विषय में अथर्ववेद में कहा गया है कि– ''हड्डियों की समिधा बनाकर, रेत (वीर्य) का घृत करके और आठ प्रकार के रसों को लेकर सब देवताओं ने पुरुष में प्रवेश किया।'' यथा–

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन् (अ.वे.सं. 11/8/29)

पुरुष ही यज्ञ है उसके जो चौबीस वर्ष हैं वह प्रातः सवन है जो चवालीस वर्ष है व माध्यन्दिन सवन है और जो अड़तालीस वर्ष है, वह तृतीय सवन है।[9] अर्थात् मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही यज्ञ है।

ब्रह्माण्ड व पिण्ड के निर्माणकारी मूल पदार्थ या मूल तत्त्व एक ही है। इसकी एकरूपताा के प्रमाण वेदादि ग्रन्थों में अनेकशः उल्लिखित हैं। ब्रह्माण्ड के देव गण पुरुष के ब्रह्म रन्ध्र मार्ग से पुरुष के पिण्ड में प्रवेश कर गये थे इसलिये जिस प्रकार की असंख्य घटनायें ब्रह्माण्ड में होती है उसी प्रकार शरीर मन भी असंख्य घटनायें होती हैं। जिस तरह ब्रह्माण्ड गतिशील है उसी शरीर में मन की गतिशीलता है। इसीलिये यथा पिण्डों तथा ब्रह्माण्डों कहा जाता है। ''देह व ब्रह्माण्ड के निरन्तर यज्ञ संचालन से ही समाज में सुख समृद्धि शांति स्थापित रहती है। इन दोनों यज्ञों में से जो भी यज्ञ बिगड़ जाता है। उसी से अनेक प्रकार की विकृतियाँ, आपत्तियाँ व नुकसान होने लगते हैं। ब्रह्माण्ड यज्ञ में गड़बड़ी आने से भूकम्प, दुर्भिक्ष, तूफ़ान, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अल्पवृष्टि, रोग, महामारी आदि सामुहिक विद्वेष, विक्षोभ, युद्ध, भय, शोक सामने आते हैं। देह यज्ञ में गड़बड़ी होने से पंच तत्त्वों की प्रकृति में वैषम्य होने से प्राण, अपान आदि वायु में विषमता होती है जिससे शरीरस्थ वात, पित्त, कफ, के अनुपात बिगड़ते हैं और अस्वस्थता, दुर्बलता, अल्पायु, निराशा, चिन्ता, दुर्भाव, मतिभ्रम आदि की उत्पत्ति होती है।''[10]

उपर्युक्त पिण्ड व ब्रह्माण्ड यज्ञ के वैषम्य को दूर करने के लिये भौतिक यज्ञों की आवश्यकता होती है। ''इसलिये भौतिक यज्ञों से दोनों का साम×जस्य करना ही वैदिक यज्ञों का मुख्य उद्देश्य है।''[11] पिण्ड व ब्रह्माण्ड यज्ञ की साम×जस्यता से ही मनुष्य का जीवन सुखी, विकास की ओर अग्रसर हो सकता है। तभी राम राज्य की स्थापना हो सकती है। मानव जीवन के उच्चतम विकास के लिये भारत सहित अन्य भूमियों में भी इस तरह के सूक्ष्म चिन्तन का स्वर्ण युग अतीत के झरोखे में समा गया। तभी तो भविष्य पुराण कहता है कि– ''ग्राम–ग्राम में देवता स्थित हैं, देश–देश में यज्ञ होते हैं,

[8] गोपथपुराण 1/13।
[9] छान्दोग्य उपनिषद् 3/16।
[10] श्रीरामशर्माआचार्यकृत 'यज्ञ का ज्ञान–विज्ञान', पृ.2.55।
[11] पं. रघुनन्दनशर्माकृत 'वैदिक सम्पत्ति', पृ.283।

घर–घर में द्रव्य मौजूद है, अर्थात् कोई दरिद्री नहीं है और प्रत्येक मनुष्य में धर्म मौजूद है। यथा–

ग्रामे ग्रामे स्थितो देवः देशे देशे स्थितो मखः
गेहे गेहे स्थितं द्रव्यं धर्मश्चैव जने जने (भवि. प्रतिसर्ग पर्व)

यज्ञ कर्म के चार आवश्यक आधारभूत तत्त्व हैं जिसके द्वारा यज्ञ सम्पन्न किया जाता है। वे तत्त्व हैं–

(1) निश्चित व्यक्ति
(2) निश्चित स्थान
(3) निश्चित समय
(4) निश्चित विधि।

निश्चित व्यक्ति से तात्पर्य है यज्ञाधिकारी जो यजमान, ऋत्विक् आदि सदस्य होते हैं। अधिकारी व्यक्ति ही यज्ञ के यजमान, ऋत्विक् आदि पदों का वरण करके यज्ञ का अनुष्ठान व सम्पादन करते हैं। यज्ञ के अधिकारी शब्द से व्यक्तियों के आनुवांशिक व अर्जित गुण ही ग्रहण किये जाते हैं जो बाह्य व आन्तरिक योग्यताओं का निर्धारण करते हैं क्योंकि अमुक कार्य में सम्यक सिद्धहस्त व्यक्ति ही अमुक कार्य सम्यक् सम्पादित कर, अमुक कार्य का फल प्राप्त करता है।

यज्ञ किसी निश्चित स्थान पर किये जाते हैं उस यज्ञ किये जाने वाले स्थान का निर्धारण भी 'भूमि देश' अर्थात् भूमि का कौन सा क्षेत्रा हैं कोई गन्दगी का स्थान तो नहीं है? आसपास कोई देवालय, देवस्थान, वन, पर्वत या नदी तट है क्या? यदि है तो वही क्षेत्रा यज्ञानुष्ठान के लिये सर्वोत्तम है। इसका मौलिक भौतिक कारण इन स्थानों की स्वच्छता व पवित्राता व सूक्ष्म कारण जागृतता है क्योंकि यज्ञ–स्थान जितना स्वच्छ, पवित्रा व जागृत होगा, याज्ञिक क्रियायें उतनी ही सुचारु रूप से सम्पन्न होंगी। भूमि का प्रकार उच्च–निम्न, समतल–तिरछी, उपजाऊ–बंजर का भी यज्ञ–भूमि निर्धारण करते समय ध्यान रखा जाता है। उच्च, समतल, वर्गाकार, पूर्व दिशा की ओर ढाल वाली तथा पश्चिम की ओर ऊँची भूमि ही यज्ञ के लिये विहित है। क्योंकि पूर्व दिशा देवताओं की दिशा है। पूर्व दिशा से ही देवता यज्ञशाला में प्रवेश करते हैं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण सूर्य उदित होते ही पूर्व की ओर ढाल वाली यज्ञभूमि में सर्वत्रा अपनी प्रकाश रश्मियाँ बिखेर देता है। जिससे यज्ञभूमि के हानिकारक सूक्ष्म जीव नष्ट होते हैं। यज्ञभूमि का निर्धारण हो जाने पर उस भूमि को संस्कारित कर स्थानधारी देवताओं का पूजन पूर्वक भूमि पूजन कर, जल तत्त्व के सर्वप्रथम स्थापित करने के लिये जलयात्राा की जाती है। भूमि को स्वच्छ पवित्रा बनाना तथा यज्ञ भूमिस्थ विघ्नकारक देवताओं को संतुष्ट कर यज्ञ सहयोगी बना लेना ही भूमि संस्कार व भूमि पूजन का मूल उद्देश्य है। जलयात्राा के द्वारा यज्ञभूमि में शीतलत्व, सौम्यत्व, कर्म में दृढता तथा मन में स्थिरता हो जाती है। क्योंकि जल, कर्म तथा मन का स्वामी चन्द्रमा है। जल तत्त्व के यज्ञ भूमि में सर्वप्रथम आकर्षण से नारायण भी आकर्षित होते हैं क्योंकि जल का नाम 'नार' है।

यज्ञानुष्ठान का निश्चित समय व मूहूर्त होता है क्योंकि एक विशिष्ट ग्रह, उपग्रहीय स्थिति में किया हुआ यज्ञानुष्ठान अपने उद्देश्य को पूर्ण करता है। इसीलिये वैदिक यज्ञों का समय यज्ञानुरूप निश्चित होता था। यथा– ''अग्निहोत्रा सायं प्रातः,

दर्शपूर्णमास अमावस्या व पूर्णिमा के दिन, चातुर्मास्य यज्ञ चार–चार मास में अर्थात्– प्रथम वैश्वदेव पर्व का अनुष्ठान फाल्गुनी पूर्णिमा को, द्वितीय वरुण प्रघाम पर्व आषाढी पूर्णिमा को, तृतीय साकमेध पर्व कार्तिकी पूर्णिमा को चतुर्थ शुनासीरीय पर्व फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को, निरुढ पशुबन्ध प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में उत्तरायण या दक्षिणायन संक्रान्ति के दिन आग्रयणेष्टि प्रतिवर्ष वसंत और शरद ऋतु में, सोमयाग वसंत ऋतु में होता है।[12]

यज्ञों का अनुष्ठान एक निश्चित विधि से सम्पादित किया जाता है। इस विधान में यज्ञ प्रयोजन व स्वरूप के आधार पर यज्ञमण्डप, यज्ञशाला तथा यज्ञ कुण्डों का निर्माण किया जाता है। आहुतियों के लिये हवनीय द्रव्य, मन्त्राों का विनियोग तथा यज्ञस्थ आवहनीय, स्थापनीय देवताओं का निर्धारण किया जाता है। यज्ञ के लिये यज्ञशालाओं का निर्माण वास्तु विज्ञान के नियमों के आधार पर किया जाता है। यज्ञशाला के स्तंभों में प्रकृति की विभिन्न शक्तियों अर्थात् देवताओं का स्थापन किया जाता है। यज्ञमण्डप व यज्ञशाला के निर्माण का कारण यज्ञानुष्ठान की रक्षा करना है ताकि यज्ञानुष्ठानसत्राावसर में अनायास ही यज्ञ भिन्न वस्तु यज्ञशाला में न आये तथा यज्ञकुण्ड में न गिर सके। यज्ञशाला इतनी सुन्दर, पवित्रा, वैज्ञानिक निर्मित की जाती है कि देवताओं व यज्ञस्थ मनुष्यों की सम्यक् संगतिकरण हो सके।

यज्ञीय कुण्डों का निर्माण ज्यामिती विज्ञान के आधार पर किया जाता है। यज्ञीय कुण्डों में ही द्रव्य आहुतियों की रक्षा होती है तथा हुत पदार्थ कुण्डाग्नि द्वारा भस्म होकर अत्यन्त सूक्ष्म हो जाते हैं। यज्ञ के विभिन्न कुण्डों का ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म घटनाओं से कोई न कोई संबंध अवश्य है क्योंकि यज्ञ की प्रधान प्रक्रियायें यज्ञ कुण्डों में ही पूर्ण होती हैं। तथा यज्ञ को भुवनों की नाभि भी कहा गया है यथा– 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' (ऋ.1/164/35) व पृथ्वी का धारण कर्ता कहा गया है।

यज्ञ में हवनीय द्रव्य की आहुतियों कुण्डाग्नि के संयोग से अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती हैं। सूक्ष्म होने पर उनका घनत्व कम हो जाता है। घनत्व कम होने से वे हल्की हो जाती हैं, हल्की होकर वायु के माध्यम से ऊर्ध्व गमन करती हैं। चूँकि ये आहुतियाँ मन्त्राोच्चारण, अभिमन्त्राणपूर्वक होती हैं तो क्या मन्त्रा भी आहुतियों के साथ ऊर्ध्व गमन करते हैं? जी हाँ! मन्त्रा भी ऊर्ध्व गमन करते हैं। तो क्या सशब्द रूप में? सम्भवतः नहीं क्योंकि मन्त्रा के शब्द भी ध्वनि के रूप में सूक्ष्म होकर ऊर्ध्व गमन करते हैं। मन्त्राों के शब्दों का ध्वनि के रूप में सूक्ष्मन मन्त्राोच्चारण के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है तथा आहुतियों का सूक्ष्मन आहुति क्रियोपरान्त ही होता है। इसलिये इन दोनों क्रियाओं के मध्य जो क्षण मात्रा कालान्तर आता है तब तक मन्त्रा की ध्वनि आहुति के सूक्ष्मन का इंतज़ार तो नहीं कर सकती; तो क्या मन्त्रा ध्वनि स्वयं ही ऊर्ध्व गमन करने लगती है? यदि हाँ, तो फिर आहुति व मन्त्रा की सन्निधि कैसे होगी? सम्भवतः आहुति अभिमन्त्रिात करने में ही ध्वनि के सूक्ष्म तत्त्व आहुति में प्रविष्ट हो जाते हों और फिर दोनों की एकरूपता तो हो ही जाती है अर्थात् आहुति सूक्ष्म होकर ऊर्जा में परिणत हो जाती है तथा मन्त्रा भी ध्वनि के रूप ऊर्जा तरंगों में बदल जाता है।

---

[12] यज्ञमीमांसा, पृ.125,126।

यज्ञ की सूक्ष्म ऊर्जा रूप ध्वनि युक्त आहुतियाँ ऊर्ध्व गमन करती हुई वायुमण्डल को पार करती हुई चन्द्रलोक अर्थात् पितृ लोक के ऊपर सूर्यमण्डल तक पहुँचती हैं। यथा– अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा (मनुस्मृ.3/76)

यज्ञ की ये सूक्ष्म आहुतियाँ सूर्यमण्डल तक ही नहीं जातीं बल्कि ब्रह्माण्ड के उच्चतम शिखर ब्रह्मलोक अर्थात् असीम अन्तरिक्ष को पार कर अन्तरिक्ष के शीर्ष स्थान तक पहुँचकर यजमान का कल्याण करती हैं। यथा–

एह्यहीति तमाहुतयः सुवर्च्चसः
सूर्यस्य रश्मिर्यजमानं वहन्ति
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
एव वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः (मुण्डकोपनिषद् 2/1/6)

अर्थात् ये ज्योतिष्मती आहुतियाँ यज्ञ के यजमान को 'आओ, आओ' पुकारती हुईं सूर्य की रश्मि द्वारा पुण्यमय ब्रह्म लोक में ले जाकर उसकी प्रिय वाणी और पूजा द्वारा सेवा करतीं हैं।

''मृत मनुष्य का जीव या तो चन्द्र लोक को जाता है या सूर्यलोक को। मोक्ष पाने वाले सूर्यलोक जाते हैं। कर्मबन्धित जीव चन्द्रलोक तक ही जाकर पुनः जगत में आ जाते हैं।''[13] अतः जीव गन्तव्य स्थल से भी अत्यन्त दूर जाकर इन आहुतियों का सूक्ष्म पदार्थ कई गुना अनुपात में ऊर्जा रूप होकर कई गुना पदार्थ अथवा अभीष्ट वस्तु का सृजन करता है। द्रव्य आहुतियों से लोक परलोक के समस्त कार्य साध्य हैं तभी तो वैदिक ऋषिगण चिकित्सा व वर्षा जैसे रक्षा व पोषण के कार्य नव सस्येष्टि व पर्जन्य याग द्वारा सम्पादित करते थे। यज्ञ द्वारा रोगी की चिकित्सा का कार्य दो स्तरों पर किया जाता है– एक व्यक्तिगत तथा दूसरा सामुहिक। व्यक्तिगत उपचार आयुर्वेद व विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों द्वारा शरीर यज्ञ के रूप में सम्पादित होता है तथा सामुहिक उपचार, वैदिक ऋषियों की एक पद्धति जिसे भैषज्य यज्ञ कहते हैं, से किया जाता है। ''ऋतु सन्धियों की व्याधियों को भी दूर करने के लिये भैषज्य या औषधि यज्ञों का प्रयोग होता है।[14] जल तत्त्वों वाले हल्के द्रव्य आहुति पदार्थों यथा– गोघृत आदि व वायु में अग्नि तत्त्व की शुद्धि करने वाले पदार्थों के द्वारा वृष्टि याग सम्पादित किया जाता है।

इसलिये यज्ञ शाला एक प्रयोगशाला है तथा याज्ञिक वैज्ञानिक व यज्ञ विधान है। क्योंकि यज्ञ प्रक्रिया से सम्पूर्ण पर्यावरण का पोषण होता है। तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की स्थूल, सूक्ष्म प्रक्रियायें नियंत्रित तथा संचालित होती हैं।

'पूजा' देवता को उद्देश्य कर द्रव्य त्याग करना है।[15] अर्थात् देवता को उद्देश्य करके मन्त्रापूर्वक विविधोपचारों से द्रव्य का मुद्रा प्रदर्शन द्वारा अर्पण पूजा कहलाती है। ''देवत्व को अपने में धारण करना देवपूजन का प्रधान उद्देश्य है। यदि हमारे विचार और कार्य असुरता से भरे हुए हैं, तो देव–पूजन करने की चिह्न (प्रतीक) पूजा से क्या

---

[13] वैदिक सम्पत्ति, पृ.311।
[14] वही, पृ.287,288।
[15] मित्रामिश्रकृत 'पूजा प्रकाश', पृ.1।

लाभ? अध्यात्म–यज्ञ में अपनी अन्तरात्मा में देवताओं का आवाहन किया जाता है और दैवी सम्पदाओं से अपने को परिपूर्ण बनाया जाता है। गीता के 16वें अध्याय में सद्भावनाओं, स०ुणों और सत्त्व कार्यों के 26 लक्षणों को दैवी सम्पदा में बताया गया है। जिनमें इन तत्त्वों की अधिकता होने लगती है, समझना चाहिये कि वह देव उपासक है। इसके विपरीत लक्षणों वाला व्यक्ति, चाहे वह कितने ही विधि–विधान सहित देवपूजा करता हो, देवपूजक होते हुए भी असुर रहने वाले रावण की तरह निन्दनीय ठहराया जायेगा। अध्यात्म यज्ञ की देवपूजा का वास्तविक तात्पर्य अपने में देवत्व की अभिवृद्धि करना ही है।''[16]

माधवाचार्य शास्त्राी कहते हैं कि– मन को स्थिर करने का प्रधान साधन मूर्तिपूजा है। मन को जबरन वशीभूत नहीं किया जा सकता इसलिये किसी ऐसे राजयोगात्मक उपाय की आवश्यकता है कि जिसमें न शरीर का शोषण हो, न इन्द्रियरूप घोड़े अपने विषयोपभोगरूप खुराक से वंचित रहें, परन्तु मनीराम नतमस्तक होकर हमारा आज्ञापालक बन जाये। ऐसा एकमात्रा उपाय है प्रतिमा–पूजन। इस पूजन से मन कैसे रोका जाये? बताते हैं कि– मन जब शब्द सुनने की इच्छा करे तब मन्दिर के शंख, घड़ियाल, झाँझ, मृदंग, मंजीरे व नगाड़ों का उद्घोष हो; जब मन सुगन्ध के लिये छटपटाने लगे तब अगरबत्ती, धूप जला दिया जाये और जब चखने की लालसा हुई तब पुजारी ने मोहन भोग प्रदान किया इस प्रकार मोहनभोग मिलते ही प्रसन्नचित्त पुरुष स्थिरबुद्धि हो जाता है।[17]

क्या वास्तव में पूजा पूज्य के गुणों के आकर्षण व मन की एकाग्रता मात्रा के लिये की जाती है? निश्चित रूप से नहीं। यदि मात्रा उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये पूजा होती तो करोड़ों वर्षों से चली आ रही अनेक प्राचीन अर्वाचीन पूजा की परम्परायें अभी तक काल के गाल में समा गई होतीं। जबकि आज भी वे उतनी ही प्रतिष्ठित हैं व उनका निरन्तर पूजन चल रहा है।

वास्तव में पूजा द्वारा पूज्य के गुणों का आवाहन किया जाता है और गुणों के लिये गुणी जैसा हो जाना पड़ता है क्योंकि जब पूजक व पूज्य का अन्तर समाप्त हो जाता है, यह अन्तर न केवल बाह्य अपितु आन्तरिक अन्तर भी, पूज्य व पूजक एक हो जाते हैं, अर्थात् पूजक जब पूज्य का सुचालक हो जाता है तो पूज्य के गुणों या प्रभुता का प्रवाह पूजक की ओर अनायास ही होने लगता है।

पूजा के द्रव्यों को जब पूज्य या देवताओं को अर्पित करते हैं तब देवता उन्हें ऊर्जा के रूप में ग्रहण करते हैं। ये पदार्थ भी सूक्ष्म हो जाते हैं। पूजा से मन की एकाग्रता, एकाग्रता से ध्यान, ध्यान से भाव, भाव से समाधि, भाव समाधि से अनुभूति, अनुभूति से दर्शन, दर्शन से प्रकटीकरण, प्रकटीकरण से शरणागति की प्राप्ति होती है। इस तरह पूजा एक ऐसा माध्यम है जिससे क्रमशः साधकोन्नति होकर वह सत्य का साक्षात्कार करता है।

इति

---

[16] यज्ञ का ज्ञान विज्ञान, पृ.3.21,3.22।

[17] पं.माधवाचार्यशास्त्रीकृत क्यों, पृ.479–481।